श्री वीतरागाय नमः

कर्तव्य पथ-प्रदर्शन

लेखक

श्री १०८ श्री मुनि ज्ञानसागर जी

प्रकाशक

श्री दिगम्बर जैन समाज हिसार

प्रथमबार १०००

वीर निर्वाण संवत् २४८७

मूल्य सदुपयोग

श्री १०८ श्री मुनि ज्ञानसागर जी महाराज

दो शब्द

श्री १०८ श्री मुनि ज्ञानसागर जी ने 'कर्तव्य पथ प्रदर्शन' नाम के इस ग्रन्थ की रचना करके मानव समाज पर बड़ा उपकार कि ा है।

मनुष्य के जीवन में जन्म से लेकर मृत्यु परयन्त जो भी घटनाएं घटती हैं उनके हर पहलू पर व्यापकता से मानव को अपने कर्त्तव्य :थ प- चलने की प्रेरणा इस ग्रंथ से मिलती है।

मुनि ज्ञान सागर जी वास्तव में ज्ञान के सागर हैं। आपकी विद्वता से सारा जैन समाज परिचित है। आप गृहस्थों तथा त्यागियों को जैन शास्त्रों का अध्ययन कराने में निरंतर संलग्न रहते हैं।

श्री १०८ श्री ज्ञानसागर जी (पं० भूरामल) का जन्म भारतवर्ष की वीर भूमि राजस्थान के राणोली (जयपुर) ग्राम में हुआ। आपकी पूज्य माता का नाम श्री घृतवली देवी और पिता जी का नाम श्री चर्तुभुज जी है। आप खण्डेलवाल वैश्य जाति से सम्बन्ध रखते है। वैसे तो आप कुमार ब्रह्मचारी है परन्तु अठारह वर्ष की अवस्था में अध्ययनकाल मे ही नियम पूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर लिया था। आज से १३ वर्ष पूर्व आपने गृह त्याग कर श्री दिगम्बर जैन आचार्य पूज्य श्री १०८ वीरसागर जी महाराज की सेवा में प्रवेश किया। कई वर्षों तक क्षुलक तथा एलक अवस्था का अभ्यास करते हुये आज से दो वर्ष पूर्व जयपुर नगर मे समस्त परिग्रह का त्याग करके श्री १०८ पूज्य आचार्य श्री शिवसागरजी द्वारा दिगम्बरी दिक्षा धारण की।

आप संस्कृत के तथा जैन आगम के बड़े प्रकाण्ड पण्डित है। मुनि संघ में अब आप उपाध्याय के रूप में मानव कल्याण का कार्य कर रहे हैं।

साधारण से साधारण व्यक्ति को भी धर्म तत्व को समझाने की दृष्टी से सरल शब्दों में आम बोल चाल की हिन्दी भाषा का प्रयोग करके आपने इस ग्रंथ की रचना की है।

परस्थिति वश अथवा अज्ञानता के कारण बहुत से घरानों में माता-पिता, पिता-पुत्र, भाई-बहिन, पति-पत्नि, भाई-भाई सास-बहू के जीवन में नई-नई उलझनों के कारण एक दूसरे के आपसी सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं। और जीवन में कटुता आ जाती है। गृह सम्बन्धी उलझनों को सुलझाने के लिये, तथा सामाजिक आर्थिक तथा राज नैतिक क्षेत्र में सम्यक पूर्ण कार्य करने के लिये 'कर्त्तव्य पथ प्रदर्शन' ग्रंथ का अध्ययन मार्ग दर्शन देता है कोई भी ग्रंथ लिखा जाकर यदि प्रकाशित न हो तो मानव समाज उसके लाभ से वंचित रह जाता है। जहाँ सदग्रंथों की रचना में महात्माओं का भारी उपकार माना जाता है। वहां ग्रंथों के प्रकाशन करने तथा कराने में जिन व्यक्तियों का सहयोग होता है वे भी समाज की दृष्टी में आदर्णीय समझे जाते हैं।

इस ग्रंथ के प्रकाशन मे श्री महावीरप्रसाद जैन एडवोकेट तथा ला० विशम्बर दास जैन का विशेष हाथ रहा है। जिनकी प्रेरणा से यह ग्रंथ प्रकाशित होकर समाज के रोबरू प्रस्तुत है। यह ग्रंथ आज के मानव समाज मेंसुख और शान्ति लाने के लिये अधिक सहायक होगा ।

हिसार

ता० ५ अक्टूबर १९६०

देवकुमार जैन

॥ श्रीः ॥

कर्तव्य पथ-प्रदर्शन

❀ इष्ट स्तवनम् ❀

कर्तव्य पथ हम पामरों के भी लिये दिखला रहे।
हो आप दिव्यालोकमय करुणानिधे गुणधाम हे॥
फिर भी रहे हम भूलते भगवन् स्वकीय कुटेव से।
इस ही लिये इस घोर संकट पूर्ण भव वन में फंसे॥

——:o:——

मनुष्य की मनुष्यता—

माता के उदर से जन्म लेते ही मनुष्य तो हो लेता है फिर भी मनुष्यता प्राप्त करने के लिये इसे प्रकृति की गोद में पल कर समाज के सम्पर्क में आना पड़ता है। वहाँ इसे दो प्रकार के सम्पर्क प्राप्त होते हैं—एक तो इसका बिगाड़ करने वालों के साथ, दूसरे इसका भला चाहने वालों के साथ। अतः इसे भी दोनों ही तरह की प्रेरणा प्राप्त होती है। अब यदि यह इसका भला करने वालों के

प्रति भलाई का व्यवहार करता है। अमुक ने मेरा अमुक कार्य निकाला है मैं उसे कैसे भूल सकता हूं। इसके बदले में मैं मेरा सर्वस्व अर्पण करके भी मैं उनसे उ ऋण नहीं बन सकता। इस प्रकार आभार मानने वाला एवं समय आने पर यथाशक्य उसका वदला चुकाने की सोचते रहने वाला आदमी मनुष्यता के सम्मुख होकर जनसे सज्जन बनने का अधिकारी होता है। हाँ! अपने अपकारक का भी उपकार ही करना जानता हो उसका तो फिर कहना ही क्या वह तो महाजन होता है। कोई कोई ऐसा होता है जो भलाई का बदला भी बुराई के द्वारा चुकाया करता है उसे जन कहें या दुर्जन। कर्तव्यता की सीढ़ी पर खड़ा हुवा आदमी एक जगह नहीं रह सकता। वह या तो ऊपर की ओर बढ़े अपितु नीचे को आना तो अवश्यंभावी है ही। घड़ी का कॉटा चाबी देनेके बाद रुका नहीं रह सकता उसी प्रकार मनुष्य भी जब तक सॉस है तब तक निठ्ठला नहीं रह सकता चाहे भलाई के कार्य करे या बुराई के उसे कुछ तो करना ही होगा। अतः बुराइयों में फंस कर अवनत बनने की अपेक्षा से भलाई के कार्य करते चले जाना एवं अपने आपको उन्नत से उन्नतर बनाना ही मनुष्यता है। बन्धुओ! बहुत से देश ऐसे हैं जहॉ भलाई के साधन अत्यन्त दुर्लभ हैं। वहॉ के लोगों को परिस्थिति से वाध्य होकर अपना जीवन पशुओं जैसा विताना पड़ता है। परन्तु हम भारतवासियों के लिये तो उन सब भले साधनों की आज भी सुलभना है। हमारे बुजुर्ग या महर्षियों ने प्रारम्भ से ही सामाजिक रहन सहन ऐसा सुन्दर स्थापित कर रखा है कि हम उसे अनायास ही अपने जीवन में उतार सकते हैं और

अपने आपको सज्जन ही नहीं बल्कि सज्जन शिरोमणि भी बना सकते हैं। फिर भी हम उनका सदुपयोग न करके उनके विरुद्ध चलें यह तो हमारी ही भूल है।

हम उन्नत कैसे बनें ?

पानी से पूछा गया कि तुम्हारा रङ्ग कैसा है ? उत्तर मिला कि जैसे रङ्ग का सम्पर्क मिल जावे वैसा। यानि पानी पीले रङ्ग के साथ में घुल कर पीला तो हरे रङ्ग के साथ में घुल कर हरा बन जाता है। ऐसा ही हाल इस मनुष्य का भी है। इसको प्रारम्भ से जैसे भले या बुरे की सङ्गति प्राप्त होती है वैसा ही वह खुद हो जाया करता है। अभी कुछ दिन पहले की बात है—लखनऊ के हस्पताल में एक प्राणी लाया गया था जोकि अपनी चाल-ढ़ाल से भेड़िया बना हुवा था, परन्तु वस्तुतः वह मनुष्य था। जोकि कच्चे मांस के सिवा कुछ नहीं खाता था। भेड़िये की आवाज में ही बोलता था। वैसे ही अपनी शारीरिक चेष्टा-झपट्टा मारना वगैरह करता था। बात ऐसी है कि एक नन्हें बालक को भेड़िया उठा ले गया। बालक के मां-बापों ने सोचा कि उसे तो भेड़िया खा गया होगा। परन्तु भेड़िये ने उसे अपने बच्चे के समान पाला पोसा। जैसा मांस आप खाता था वैसा कुछ मांस उस बच्चे को भी दे दिया करता था। एवं अपने पास उसे प्रेम पूर्वक रखा। करीब बारह चौदह वर्ष की अवस्था में वह उन हस्पताल वालों की निगाह में चढ़ गया और चिकित्सा के लिये लाया गया। धीरे २ अब वह कच्चा मांस खाने की अपेक्षा पकाया हुआ मांस खाने लग रहा है और कोई कोई जवान मनुष्य की सी

बोलने लग गया है। मतलब यही कि मनुष्य जैसी सौवत संगत में रहता है वैसा ही बन जाता है। बुरों के साथ में रहने से अपने आप बुरा बनते हुए और का भी बुरा करने वाला होता है। तो अच्छों के साथ में रह कर खुद अच्छा होते हुए चला जाता है। एवं समाज का भी भला करने वाला होता है। अतः हमें चाहिये कि हम भले लोगों की संगति में रहें और भले बनें यह हमारी उन्नति है।

सत्सङ्गति का सुफल

एक बार की बात है एक बहेलिया दो तोते लाया। उनमें से उसने एक तो किसी वेश्या को दे दिया और दूसरे को एक पण्डित जी के हाथ बेच दिया। थोडे दिन के बाद वेश्या एक रोज मैफिल करने राजदरबार में पहुंची। उसका तोता उसके हाथ मे था सो पहुंचते ही राजा के सम्मुख अनेक प्रकार के भण्ड वचन सुनाने लगा। राजा को गुस्सा आया और उसने हुक्म दिया कि इसे मार डाला जावे। तोता बोला हुजूर! मै मारा तो जाऊंगा ही परन्तु इससे पहिले मुझे मेरे भाई से मिला दीजिये। राजा ने कहा तेरा भाई कहाँ है? तोते ने कहा! गिरधरशर्मा जी के यहां रहता है। उसी समय हलकारा गया और मय तोते के गिरधरशर्मा जी को बुलवा लाया। गिरधरशर्मा जी तो बोले ही नहीं उनके पहिले ही उनके तोते ने आते ही राजा को अनेक तरह के वधावा दिये। राजा बहुत खुश हुआ, सहसा राजा के मुंह से निकल पड़ा कि

शाबाश जीते रहो तुम और तुम्हारा साथी। वेश्या वाले तोते ने कहा कि तब फिर तो मैं भी अब अमर बन गया क्योंकि इसका साथी तो मैं ही हूँ। राजा असमञ्जसमें पड़ गया तो पंडितजी वाले तोते ने वकालत की कि प्रभु इस में विचार की क्या बात है! यह दुष्ट है इसने आप के साथ बुरा वर्ताव किया है अवश्य। किन्तु आप तो सज्जनों के सरदार हैं आपका तो काम बुरा करने वालों के साथ भी भला वर्ताव करना ही होना चाहिये। पृथ्वी के पूत पेड़ों का भी यह हिसाब है कि वे लोग पत्थर मारने वाले को भी उसके बाद में मीठा फल प्रदान किया करते हैं। आप तो पृथ्वी के पति हैं, सम्पूर्ण प्रजा के नाथ हैं आपका तो सभी के साथ प्रेम होना चाहिये। हाँ यदि यह भी सचेतन होगा तो आगे के लिये अपने इस दुर्व्यवहार का त्याग कर सही मार्ग का अनुसरण करेगा बस इतना ही कहना पर्याप्त है।

सुभाषित ही सञ्जीवन है

जिस को सुनकर भूला भटका हुआ आदमी ठीक मार्ग पर आजावे और मार्ग पर लगा हुआ आदमी दृढ़ता के साथ उसे अपना कर अपने अभीष्ट को प्राप्त करने में समर्थ बन जावे उसे सुभाषित कहते हैं। यद्यपि बिना बोले आदमी का कोई भी कार्य सुचारु नहीं होता, किन्तु अधिक बोलने से भी कार्य होने के बदले वह बिगड़ जाया करता है। समय पर न बोलने वाले को मूक कह कर उसका निरादर किया जाता है तो अधिक या व्यर्थ बोलने वाले की भी वावदूक या वाचाल कह कर भर्त्सना ही होती है। तुली

हुई और समयोचित बात का ही दुनियाँ में आदर है। यहाँ हमें महाभारत के एक प्रसंग का स्मरण हो आता है। कौरव और पाण्डवों में घमासान युद्ध हो रहा था। इधर पाण्डव पाँच भाई थे तो उधर भी कर्ण, भीष्म, जयद्रथ आदि चोटी के योद्धा थे। वल्कि द्रोणाचार्य तो बाण विद्या के अधिनायक थे जो कि कौरवों की तरफ से खड़े होकर पाण्डवों की सेना में विध्वंस मचा रहे थे। यह देख कर श्री कृष्ण को दिल में विचार आया कि अगर कुछ देर भी ऐसा होता रहा तो आज अवश्य ही पाण्डवों की पराजय हो जायेगी इतने ही में एक हाथी मारा गया, श्रीकृष्णने युधिष्ठिर के पास जाकर पूछा कि भूपते कौन मारा गया? युधिष्ठिर इसका उत्तर अनुष्ठुप चरण में अश्वत्थामाहतोहस्ती इस प्रकार से देने वाले थे उन्होंने बोलना प्रारम्भ करके अश्वत्थामाहतो इतना ही बोला था कि उसी क्षण श्री कृष्ण ने अपना पान्चजन्य शंख बजा दिया। लोगों ने समझा कि द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा मारा गया। अश्वत्थामा गिने हुये योद्धावों में से था। अतः इसे सुन कर पाण्डवों की सेना में उत्साह छा गया और कौरवों की सेना का उत्साह भङ्ग हो कर उस में शोक छा गया और पुत्र शोक से द्रोणाचार्य का भी भुजबल ढीला पड़ गया। इसका नाम है अवसरौचित वात जिस से कि अनायास ही कार्य सिद्ध हो जाता है। हाँ व्यर्थ की बकवाद करने वाला आदमी अपने आप विपत्ति के गर्त में गिरता है।

—:(०):—

व्यर्थवादी की दुर्दशा

जङ्गल में एक तालाब था उसका जल जेठ की प्रखर धूप से सूख कर नाम मात्र रह गया। उसके किनारे पर रहने वाले दो हंसों ने आपस में सलाह की कि अब यहां से किसी भी इतर जलाशय पर चलना चाहिये। जिसको सुन कर उनके मित्र कछवे ने कहा कि तुम लोग तो आकाश मार्ग से उड़ कर चले जावोगे, परन्तु मैं कैसे चल सकता हूँ। हंसों ने सोचा बात तो ठीक ही है और एक अपने मित्र को इस प्रकार विपत्ति में छोड़ कर जाना भी भल-मानसियत नहीं है। अतः अपनी बुद्धिमता से एक उपाय सोच निकाला। एक लम्बी सरल लकड़ी लाये और कछवे से कहा कि तुम अपने मुंह से इसे बीच में से पकड़ लो, हम दोनों इसके इधर उधर के प्रान्त भागों को अपनी चोचों से पकड़ कर ले उड़ते हैं यह ठीक होगा। इस प्रकार तीनों आसमान में चलने लगे। चलते २ धरातल पर मध्य में एक गॉव आया। गांव के लोग नया दृश्य देख कर अचम्भे में पडे और आपस में कहने लगे कि देखो यह कैसा वीचित्र खेल है यों कल कल मचा देख कर कछवे से न रहा गया। वह बोल पड़ा कि क्यों चक चक करते हो बस फिर क्या था धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ा और पकड़ा गया। मतलब यह कि मनुष्यों को अपने भले के लिये शारीरिक संयम के साथ साथ वाणी का भी संयम होना ही चाहिये। शारीरिक संयम उतना कठिन नहीं है जितना कि मनुष्य के लिये वाक्यसंयम। एवं मानसिक संयम तो उससे भी कहीं अधिक कठिन है। वाणीका संयम तो मुंह बंद किया

और हो सकता है; किन्तु मन तों फिर भी चलता ही रहेगा। मनुष्य का मन इतना चंचल है कि वह क्षण भर में कहीं का कहीं दौड़ जाता है। उसको नियन्त्रण के लिये तो सतत साधु-संगति और सत्साहित्यावलोकन के सिवा और कोई भी उपाय नहीं हैं। यद्यपि साधुवों का समागम हरेक के लिये सुलभ नहीं है फिर भी उनकी लिखी हुई पुस्तकों को पढ़ कर अपना जीवन सुधारा जा सकता है।

सत्साहित्य का प्रभाव

सुना जाता है कि महात्मा गांधी अपनी बैरिस्ट्री की दशा में एक रोज रेल से मुसाफिरी कर रहे थे। सफर पूरा बारह घन्टों का था। उनके एक अङ्गरेज मित्र ने उन्हें एक पुस्तक देते हुए कहा कि आप अपने इस सफर को इस पुस्तक के पढ़ने से सफल कीजियेगा। उसको गांधीजी ने शुरु से आखिर तक बड़े ध्यान से पढ़ा। उस पुस्तक को पढ़ने से गांधी जी के चित्त पर ऐसा असर हुआ कि उन्होंने अपनी बैरिस्ट्री छोड़ कर उसी समयसे सादा जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया। आजकल पुस्तक पढ़ने का प्रचार आम जनता में भी बड़े वेग से बढ़ रहा है और वह बुरा भी नहीं है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति को पढ़ने के लिये पुस्तक ऐसी चुननी चाहिये जिसमें कि मानवता का झरना वह रहा हो। जिसके प्रत्येक वाक्यों में निरामिष-भोजिता, परोपकार, सेवाभाव, आदि सद्‌गुणों का पुट लगा हुआ हो। विलासिता, अविवेक, डरपोकपन आदि दुर्गुणों का निर्मूलन करना ही जिसका ध्येय हो। फिर चाहे वह किसी की भी लिखी हुई हो और किसी भी भाषा में हो उसके पढ़ने में कोई हानि नहीं। कुछ लोग समझते हैं कि अपनी साम्प्रदायिक पुस्तकों

सिवाय दूसरी पुस्तकों को पढ़ना सर्वथा बुरी बात है, परन्तु यह उनका समझना ठीक नहीं क्योंकि समझदार के लिये तो बुराइयों से बचना एवं भलाई की ओर बढ़ना यह एक ही सम्प्रदायिक होना चाहिये। अतः जिन पुस्तकों के पढ़ने से हमारे मन पर बुरा असर पड़ता हो जिनमें असली उदण्डतापूर्ण अहंकारादि दुर्गुणों को अंकुरित करने वाली बातें अंकित हों ऐसी पुस्तकों से अवश्य दूर रहना चाहिये। पुस्तकों से ही नहीं बल्कि ऐसे तो वातावरण से भी हर समय बचते रहना ही चाहिये। क्योंकि मनुष्य के हृदय में भले और बुरे दोनों ही तरह के संस्कार हुआ करते हैं जोकि समय और कारण को पाकर उदित हो जाया करते हैं। व्यापार करते समय मनुष्य का मन इतना कठोर हो जाता है कि वह किसी गरीब को भी एक पैसे की रियायत नहीं करता परन्तु, भोजन करने के समय में कोई भूखा अपाहिज आ खड़ा हो तो उसे झट ही दो रोटी दे देता है। मतलब यही कि उस २ स्थान का वातावरण भी उस २-प्रकार का होता है अतः मनुष्य का मन भी वहाँ पर उसी रूप में परिणमन कर जाया करता है। आप जब सिनेमा हाल में जावेंगे तो आप का दिल वहाँ की चहल पहल से देखने में लालायित होगा परन्तु जब आप चल कर श्री भगवान के मन्दिर मे जावेगें तो वहाँ यथाशक्ति नमस्कार मन्त्र का जाप देना और भजन। करना जैसे कामों में आप का मन प्रवृत होगा। हाँ यह बात दूसरी है कि अच्छे वातावरण में रहने का मौका इस दुनियाँदारी के मनुष्य को बहुत कम मिलता है इसका अधिकाँश समय तो बुरे वातावरण में ही बीतता है अतः अच्छे विचार प्रयास करने पर भी कठिनता से

प्राप्त होते हैं। और प्राप्त होकर भी बहुत कम समय तक ही ठहर पाते हैं। किन्तु बुरे विचार तो अनायास भी आजाया करते हैं तथा देर तक टिकाऊ होते हैं। अतः बुरे विचारों से वचने के लिए और अच्छे विचारों को बनाये रखने के लिये सत्साहित्य का अवलोकन, चिन्तन अवश्य करते रहना चाहिये।

साधु समागम—

अपने विचारों को निर्मल बनाने के लिये जिस प्रकार से सत्साहित्य का अध्ययन करना जरूरी है उसी प्रकार अपने जीवन को सुधारने लिये मनुष्य को समीचीन साधुवों का संसर्ग प्राप्त करना उससे भी कहीं अधिक उपयोगी होता है। मनुष्य के मैल को धोने के लिये उत्तम साहित्य का पठन पाठन, जल और साबुन का काम करता है। परन्तु पुनीत साधुवों का समागम तो इसके जीवन में चमत्कार लाने के लिये वह जादू का सा कार्य करता है जैसा कि लोहे के टुकड़े के लिये पारस का संसर्ग। अतः विचारशील मनुष्य को चाहिये कि साधुवों का सम्पर्क प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहे और प्राप्त हो जाने पर यथाशक्य उससे लाभ उठाने में न चूके ऐसा करने से ही मनुष्य अपने जीवन को सफल और सार्थक बना सकता है। आजसे अढ़ाई हजार वर्ष पहले लगभग की बात है कि भगवान् महावीर के शिश्य सुधर्म स्वामी देश देशान्तर में भ्रमण करते हुये और अपने सदोपदेशामृत से जनता का कल्याण करते हुये आकर राजगृह नगर के उपवन मे ठहरे। उन

के आने का समाजार सुन कर राजगृह की जनता उनके दर्शन को आई और उनके धर्मोपदेश को सुन कर एवं अपनी योग्यतानुसार मनुष्योचित्तानियमव्रत लेकर अपने २ घर को गई उन्हीं में एक जम्बूकुमार नाम का साहूकार का लड़का था उसने सोचा स्वामी जी जब यह फरमा रहे हैं कि मनुष्य जन्म को पाकर इसे एकान्त त्तणिए विषय वासना के चक्कर में ही नहीं बिता देना चाहिये। किन्तु कुछ परमार्थिक कार्य तो करना ही चाहिये। अहो! यह भोला मनुष्य जिस भौतिक विभूति के पीछे लग कर चल रहा है एक न एक दिन तो इसको उसे छोड़ना ही होगा। अगर यह उसे न छोड़ेगा तो अन्त में वह तो इसे अवश्य छोड़ ही देगी। परन्तु यह उसे छोड़दे और वह इसे छोड़े इन दोनों वार्तोमें उतना अन्तर तो कमसे कम अश्वय है जितना कि मनुष्य के टट्टीजाने में तथा उल्टी हो जाने में हुवा करता है। यानी आप जब प्रातः जंगल होकर आते हैं तो आपका चित्त प्रसन्न होता है किन्तु समुचित भोजन करें और भोजन करने के अनन्तर ही किसी कारण से कै हो जावे तो आपका जी मिचलावेगा। बस यही हिसाब सम्पत्ति के छोड़ देने और छूट जाने में है। अतः प्राप्त सम्पत्ति को छोड़ कर दूर होना ही मनुष्य के लिये श्रेयस्कर है। एवं जिस दलदल में से निकलना दुष्कर होकर भी आवश्यक है तो फिर अधिक समझदारी तो, इसी में है कि उसमें फंसना ही क्यों चाहिये। बस, मैं तो अब चलूं और माता पिता से आज्ञा लेकर आकर इन गुरुदेव के चरणों की सेवा में ही अपने आपको लगादूं। ऐसा सोच कर जम्बूकुमार घर पर गया ही था कि माता

पिता ने पूछा कि इतनी देर तक कहाँ रहे ? जम्बूकुमार बोला कि एक साधु महात्मा के पास बैठ गया था और अब मै सदा के लिये उन्हीं के पास रहना चाहता हूं। माता पिता यह सुन कर अवाक् हो रहे। कुछ देर सोच कर फिर बोले कि–बेटा तू यह क्या कह रहा है ? देखा हम तो तेरी शादी की तैयारियाँ कर रहे हैं और तू ऐसी बात सुना रहा है जिससे कि हमारा कलेजा कॉप उठता है कम से कम तुझे शादी तो कर लेना चाहिये। तू खुद समझदार है तुझे हमारी इस प्रसन्नता में तो गड़बड़ी नहीं मचाना चाहिये।

सकामता के साथ निष्कामता का संघर्ष :

माता पिता ने सोचा इसे छोटी सी बात कह कर मनवा लेना चाहिये। फिर तो यह खुद ही अपने दिल में आई हुई बात को भूल जावेगा। बस यही सोच कर उन्होंने कहा था कि विवाह तो करलो। इस पर जम्बू ने विचार किया कि ये माता पिता हैं। इनका इस मेरे शरीर पर अधिकार है अतः इस साधारण सी बात के लिये नाराज करना ठीक नहीं है। वैरागी का अर्थ किसी को नाराज करना या किसी पर नाराज होना नहीं है। वह तो स्वयं आत्मावत परमात्मा को समझा करता है। उसकी निगाहों में तो जितनी अपने आपकी कीमत होती है उतनी ही दूसरे की भी। फिर ये तो मेरे इस जन्म के माता पिता हैं। इनका तो इस शरीर की ओर निगाह करते हुए बहुत ऊंचा स्थान है, और कहा कि ठीक है, आप कहते हैं तो मै विवाह कर लूंगा किन्तु दूसरे ही रोज

गुरुचरणों में जा प्राप्त होऊंगा। जिन आठ लड़कियों से जम्बू का विवाह होना निश्चित हुआ था उन्हें भी सावधान कर दिया गया। उन सबने जबाब दिया हम तो प्रतिज्ञा कर चुकी हैं कि इस जन्म में तो हमारे ये ही पति हैं। इनके अतिरिक्त और सब नर तो हमारे बाप, भाई समान हैं अतः बेखटके शादी रचा दी जावे, फिर या तो हम उन्हें लुभा लेंगी या हम सब भी उन्हीं के मार्ग का अनुसरण कर लेंगी। विवाह हो गया और सुना जाता है कि उसमें इन्हें ९९ करोड़ सोने का दहेज मिला। परन्तु जहां वैराग्य है वहां चक्रवर्ती की सम्पदा भी तिनके के समान निस्सार है, वह उसकी नहीं, अगर है भी तो दुनियां की है। अस्तु रात हुई और रङ्ग महल में जहां कि विषयानुरागवर्द्धक सभी तरह का परिकर सम्भव से भी अधिक संख्या में जुटाया गया है वहां एकतरफ तो दिल से समता को संभाले हुये स्वयम् जम्बूकुमार विराज रहे हैं। उधर दूसरी तरफ उनकी नवविवाहिता आठों पत्नियां वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर ममता की मोहक महक लिये हुये आकर खड़ी हैं। जो कि अपना रङ्ग उन पर जमाना चाह रही हैं। परन्तु वहां उनके चित्त पर तो साधु सुधर्माचार्य की चरण सेवा का अमिट रङ्ग लगा हुआ था वहाँ दूसरा रंग कैसे चढ़ सकता था।

इधर एक और घटना घटी। एक प्रभव नाम का प्रख्यात चोर था जोकि पाँच सौ चोरों का सरदार था। उसने सुना कि जम्बू को दहेज में खूब धन मिला है। चलो आज उसी पर हाथ साफ किया जावे। इस चोर की यह विशेषता थी कि जहां भी वह जाता था वहाँ के लोगों को नींद लिवा देता था। और अपना काम बड़ी आसानी

से कर लिया करता था। वह आया और धन की गठरियां बान्ध कर चलने को तैयार हुआ तो उसके पैर चिपक गये। और चोर आश्चर्य में पड़ा और इधर उधर देखने लगा तो बगल के कमरे में औरत मर्द आपस में बात कर रहे हैं। चोरी का फिक्र छोड़ कर प्रभव वहां पहूंचा और जम्बू को उसने जुहारु किया, जम्बूकुमार बोले कौन है ? प्रभव ! तुम आज यहां इस समय कैसे आये ? प्रभव ने कहा प्रभो अपराध क्षमा कीजिये मैं चोरी करने के लिये आया था। आज तक मै मेरे काम में कहीं भी फैल नहीं हुआ किन्तु आज आपने मुझे हरा दिया। आपके पास ऐसा कौनसा मन्त्र बल है कि जिससे धन लेकर जाते हुये के मेरे पैर चिपक गये। जम्बूकुमार बोले प्रभव ! मुझे तो पता भी नहीं कि तुम कब आये और क्या कर रहे थे। मैं तो सिर्फ गुरुचरणों की सेवा का मन्त्र जपता हूं और अपने मन में उसी की टेर लिये हुए हूं। प्रभात होते ही मैं उनके पास में जाकर निर्ग्रन्थव्रत ग्रहण करने वाला हूं। तब फिर इस सारी सम्पत्ति को तुम ले जाना। मैं स्वेच्छा से इसका अधिकारी तुम्हें बनाता हूं फिर इसमें चोरी करने की बात कौनसी है। ऐसा सुनकर प्रभव बहुत प्रभावित हुआ। उसने मन में सोचा यह पुरुष ही है जो प्राप्त हुई सम्पत्ति (लक्ष्मी)को इस तरह से ठुकरा रहा है और कहने के लिये तो मैं भी पुरुष ही हूं जो कि बेहया की तरह इसके पीछे फिर रहा हूं फिर यह भी मुझे प्राप्त नहीं होती तथा हो भी जाती है तो ठहरती नहीं है।

—

लक्ष्मीका पति

सुना जाता है कि एक बार लक्ष्मी का स्वयम्बर हो रहा था। उसमें सभी लोग अपनी शान और शौकत के साथ आ सम्मिलित हुये थे। जब स्वयम्वर का समय हुआ तो लक्ष्मी आई और बोली कि मै उसी पुरुष को वरूगीं जो कि स्वप्न में भी मेरी इच्छा न रखता हो। इस पर सब लोंग बड़े निराश और हतप्रभ हो रहे। लक्ष्मी चलती २ अन्त में वहां पर आई जहां शेप नाग की शैय्या पर विष्णु महाराज वेफिक्र सोये हुये थे। आकर उसने उनके गले में वर माला डालदी। विष्णु बोले कौन है ? तो जबाब मिला कि लक्ष्मी है। फिर कहा गया कि चली जावो यहां से तुम क्यों आई हो यहां पर मुझे तुम्हारी कोई जरूरत नहीं है। लक्ष्मी बोली प्रभो मुझे मत ठुकराइये मैं सिर्फ आपकी पगचम्पी करती रहूँगी। बन्धुवों यह सब अलङ्कारिक कथन है। इसका मतलब तो इतना ही है कि जो विपत्ति से डरता है और सम्पति चाहता है उससे सम्पति स्वयं दूर हो जाती है। परन्तु जो सम्पति को याद भी नहीं करता एवं विपत्ति आ पड़ने पर उससे घबराता नहीं है उस पुरुष के चरणों को सम्पत्ति स्वयं चूमती है। प्रभव को भी इससे आज प्रति बोध प्राप्त हुआ वह विचारने लगा कि जब ऐसी बात है तो फिर मै भी इस वोझे को अपने सिर पर लादे क्यों फिरू ? वल्कि जिस मार्ग को यह सेठ का लड़का अपना रहा है उसी पथ का पथिक मै

भी क्यों न बन रहूं। जिसमें सबका हित हो ऐसा सोच कर वह जम्बूकुमार के चरणों में गिर पड़ा और बोला कि प्रभो अब मुझे इसकी भूख नहीं रही, आपके बचनामृत से ही मैं तो तृप्त हो गया हूं। अत अब मै सिर्फ यह चाहता हूं कि मुझे भी आप अपने चरणों में ही जगह दें। न की मुझे अब भी इसकी जड़ में ही फंसा रहने दें। इससे हमें यह सीख लेना चाहिये कि एक साधुसेवी के संसर्ग में आकर भी जब प्रभव सरीखा दुरहङ्कारी जीव सहसा निरहङ्कार हो जाता है दानव से मानव बनजाता है, तो फिर साक्षात् साधु समागम की महिमा का तो कहना ही क्या ? इसके तो गीत वेद और पुराणों में जगह २ पर गाये हुये हैं। अतः अपने आपको सुधारने के लिये साधु संगति करनी ही चाहिये। जिससे कि मनुष्य का मन धैर्य क्षमादिगुणों को पाकर बलवान बनें।

मनोबल ही प्रधान बल है

वैसे तो मनुष्य के पास से ज्ञानबल, धनबल, सेनाबल, अधिकारबल और तपोबल आदि अनेक तरह के बल होते हैं जिनके सहयोग से मनुष्य अपने कर्तव्य कार्य के इस पार से उस पार पहुँच पाता है, परन्तु उन सब बलों में शरीरबल, वचनबल और मनोबल ये तीन बल उल्लेखनीय बल हैं। मनुष्य को अपना सभी तरह का कार्य सम्पादन करना इसके शरीर का सबसे पहला काम है। शरीर

जितना भी हृष्ट पुष्ट और स्वस्थ होगा वह उतना प्रत्येक कार्य को सुन्दरता के साथ सम्पादित कर सकेगा, यह एक साधारण नियम है। अतः उसको प्रगतिशील बनाये रखने के लिये समुचित आहार की जरूरत समझी जाया करती है और उसकी चिन्ता सभी को रहा करती है एवं अपने बुद्धि विवेक तथा वित्तवैभव के अनुसार हर कोई ही उसको अच्छी से अच्छी योजना करने में कुछ कसर नहीं रखता है। यह तो ठीक है, परन्तु वचन का अधिकार तो उस शरीर से कहीं अधिक होता है। शरीर द्वारा जिस काम को हम वर्षों में भी सम्पादित नहीं कर पाते, उसे अपनी वचनपटुता से बात की बात में हल कर बता सकते हैं। बच्चे को जब प्यास लगती है, या उसका पेट दूखता है तो वह रोता है, छटपटाता है, हाथ पैर पटकता है। माता भी उसके दुःख को मिटाना चाहती है, किन्तु उसकी अन्तवृत्ति को नहीं पहिचान पाती, अतः कभी २ विपरीत प्रतिकार हो जाता है तो प्रत्येक वेदना बढ़ती है। बाकी वहाँ वश भी क्या चले, बच्चे के पास तो वचन नहीं हैं ताकि वह कह सुनावे और उसका समुचित्त उपाय कर बताया जावे। इसी प्रकार संसार का सारा व्यवहार प्रायः वचन के भरोसे पर ही अवलम्बित है। जिसकी कि खुराक स्पष्ट सत्यवादिता है, सो क्या इसकी तरफ भी आप सब लोगों का ध्यान कभी गया है, किन्तु नहीं। बल्कि अधिकाँश लोग तो अपने वचन को कूटत्व नाम क्षय रोग से उपयुक्त बना कर ही अपने आपको धन्य मानते हैं। उनके इस ऐसा करने में उनकी एक मानसिक दुर्बलता ही हेतु है। मानसिक कमजोरी से ही उनकी यह धारणा बनी हुई है कि एकान्त सत्य सरल या स्पष्ट वाक्य प्रयोग

से मनुष्य का कभी निर्वाह नहीं हो सकता। उसको अपनी आव-श्यकता की पूर्ति के लिये उसमें कुछ २ बनावटी पन जरूरी ले आना चाहिये। बस इसकी इस मानसिक दुर्बलता ने सम्पूर्ण व्यवहार को दूषित बना दिया, ताकि सर्वत्र अविश्वास के आतङ्क ने अपना अधिकार जमा लिया। एवं जीवन-पथ कष्टप्रद हो गया। मनुष्य की जीवन यात्रा में इसका मन सईस का काम करता है। वचन घोड़े का और शरीर गाड़ी का। अगर गाड़ी मजबूत भी हो और घोड़ा भी चुस्त हो किन्तु उसको हाँकने वाला सईस निकम्मा हो तो वह उसे ठीक न चलाकर उत्पथ में ले जावेगा एवं बरबादी कर देगा वैसे ही मनुष्य का मन भी चंचल हो रहने पर किसी भी कार्य को करके भी उसमें सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। एक समय की बात है कि एक भट्टारक जी का शिष्य था, जो कि एक मन्त्र लेकर जपने को बैठ गया। उसने जप करते हुये जब कई रोज हो हो गये तो भट्टारक जी ने उससे पूछा कि तू क्या कर रहा है? उसने कहा कि महाराज जी मैं अमुक रूपसे यह मन्त्र जप रहा हूं फिर भी यह सिद्ध नहीं हो रहा है, क्या मेरे विधि विधान में कुछ कसर है? गुरु जी बोले कमी तो कुछ भी नहीं दिखती है। परन्तु ला देखें जरा मुझे दें। यों कहकर भट्टारक गुरु जी ने उस मन्त्र को जपना प्रारम्भ किया और एक जप पूरा होते ही मन्त्र सिद्ध हो गया। मन्त्र का अधिष्ठाता देव आ उपस्थित हुआ। गुरुजी बोले भाई इस लड़के को मन्त्र जपते हुये आज कई रोज होगये सो क्या बात है! देव बोला महाराज? मैं क्या करूं! इसका मन ही अपना इसके वश में नहीं है। मन्त्र को जपते हुये भी यह क्षण में तो कुछ

सोचता है और फिर क्षण में कुछ और ही सोचने लगता है। मतलब यह है कि हरेक कार्य को सम्पन्न करने के लिये सबसे पहले हमें अपने मन को एकाग्र करने की आवश्यकता है। भले ही वह कार्य लौकिक हो, चाहे पारमार्थिक, मन की एकाग्रता के बिना वह कभी ठीक नहीं हो सकता। व्यापार, व्यवहार शास्त्र शोधन, भगवद्भजन आदि कोई भी कार्य हो, उसको हम जैसी मानसिक लगन से करेंगे उतना वह सुन्दर सुचारु होकर यशप्रद होगा। नेपोलियन के लिये कहा जाता है कि वह एकबार युद्ध की व्यवस्था ठीक २ कर देता था और फिर आप युद्ध भूमि में ही गणित के सवाल किया करता था। डेरों, तम्बुवों पर गोले बरसते, धड़ाधड़ सैनिक मरते किन्तु नेपोलियन का मन गणित का सवाल हल करने में ही लगा रहता था। खलीफा उमर की भी ऐसी ही बात सुनी जाती है। लड़ाई के मैदान में ही जब नमाज का वक्त हो जाता वह निडर हो कर युद्ध स्थल के बीच में ही घुटने टेक कर नमाज पढ़ने लगता था, फिर उसे यह पता नहीं रहता था कि कहाँ क्या हो रहा है। एक फकीर के शरीर में तीर चुभ गया, जिससे उसे बड़ी पीड़ा हो रही थी। तीर को वापिस खैंचने के लिये हाथ लगावो कि वेदना दूनी हो जाती थी, अब क्या किया जावे बड़ी कठिन समस्या हो गई, उसको देख कर लोग घबराये तो एक आदमी बोला अभी रहने दो, जब यह नमाज पढ़ने बैठेगा तब निकाल लेंगे। सायं का समय हुआ फकीर नमाज पढ़ने लगा पलभर में ही उसका चित्त इतना एकाग्र हुआ कि उसके शरीर में तीर खैंच कर निकाल लिया गया, और उसे मालुम भी नहीं हुआ।

जम्बूप्रसाद जी रईस सहारनपुर वालों के शरीर में एक भयङ्कर फोड़ा हो गया, डाक्टर बोला ओपरेसन होगा, क्लोरोफार्म सूंघना पड़ेगा, लाला जी बोले क्या जरूरत है ? मैं नमस्कार मन्त्र जपने लग रहा हूँ, तुम अपना काम निःशङ्क होकर करलो। सो यह सब मन को एकाग्र कर लेने की महिमा है। मन को एकाग्र कर लेने पर मनुष्य में अपूर्व बल आजाता है। हमारे पूर्व साहित्य में हमें ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिल रहे हैं, जिनमें न होने जैसी बातें भी होती हुई बताई गई हैं। जैसे द्रोपदी को बेअदब करने के लिये उसकी साड़ी पकड़ कर दुःशासन खैंचता है तो साड़ी बढ़ती चली जाती है। मगर द्रोपदी बेअदब नहीं होने पाती, यह सब महासती के चित्त की एकाग्रता का ही प्रभाव तो है, हम लोग ऐसी बातों को सुन कर आश्चर्य करते हैं, किन्तु जिस चित्त की एकाग्रता द्वारा यह आत्मा अपनी अनादि कालीन कर्मकालिमा को भी क्षण भर में दूर हटा कर परमात्मा बनता हुआ जन्म मरण से भी रहित हो लेता है उस मन की एकाग्रता की सामर्थ्य के आगे फिर ये सब बातें क्या दुष्कर कही जा सकती हैं।

मन की एकाग्रता कैसे प्राप्त हो—

मन को एकाग्र करना शान्त बनाना बड़े महत्व की बात है, यह तो समझ में आता है परन्तु विचारों का गुब्बार हमारे इस पोले मनमें भरा हुआ है उसे निकाल बाहर किये बिना मनकी एकाग्रता हो कैसे ! प्रथम तो इसके पास में यह खालूं, यह पीलूं फिर टहललूं

और सोलूं इत्यादि इतने विचार उपसंग्रहीत हैं कि उनका दूरकरना सरल बात नहीं है। और अगर कहीं प्रयास करके इन ऊपरी विचारों को दूर कर भी दिया तो यह तो मकड़े की भांति प्रति क्षण नये विचारों को जन्म देता ही रहता है। सो उन भीतरी विचारों पर रोक लग जाने का तो कोई भी उपाय नहीं दीख पड़ता है। बल्कि जहां ऊपरी विचारचक्र को दूर करने के लिये प्रयत्न करो तो भीतरी विचार परम्परा बड़े वेग के साथ उमड़ पड़ता है। ऐसी दशा में मनको यदि शान्त एकाग्र किया जाय, तो कैसे ? बात यह है कि इस वाह्य अपार संसार-चक्र को हम अपनी मनो भावना के द्वारा अपने पीछे लगाये हुये ही रहते हैं। दीव्यज्ञान शक्ति को परमात्मा परमेश्वर के साथ तन्मय होकर रखने के बदले हम उसको दुनियां की क्षुद्र वातों में ही व्यर्थ खर्च करते रहते हैं। आज यह रोटी मोटी हो गई और एक जगह से जरा जल भी गई, यह साग भी अच्छा नहीं वना, इसमें नमक कम पड़ा इत्यादि जरा जरा सी वातों की चर्चा में ही हम रस लेते हैं और अपने ज्ञान का दुरूपयोग करते हैं। एवं मनकी दोड़ निरन्तर वाहर ही होते रहने से यह निरंकुश वन गया है। अगर किसीके कहने सुनने से भगवान का भजन भी किया तो सिर्फ दिखाऊ। ऐसी दशा में यहां आसन जमा कर बैठना और आंखें मूंदना आदि सब व्यर्थ है। जैसाकि कहा है :—

दर्भासन पर वैठ कर माला ली कर माहिं
मन डोले वाजार में यह तो सुमरण नांहि

प्रायः लोगों का यही हाल है। कथा सुनने बैठे तो नींन्द सताती है

और बिस्तर पर जाकर लेटते हैं तो चिन्ता आ घेरती है। यह करा लिया तो यह बाकी है और वह उजड़ रहा है इत्यादि विचार उठ खड़े होते है। नीन्द आजाने पर भी स्वप्न में भी यही सब बातें याद आती रहती हैं। क्यों कि हम इन्द्रियों की वासनावों के गुलाम बने बैठे हैं। तो एकाग्रता कहां ? एकग्रताके लिये तो जीवन में परिमितता आनी चाहिये हमारा सारा कार्यक्रम नपा, तुला समुचित होना चाहिये। औषधि जैसे नाप तोल कर ली जाती है वैसे ही हमारा खाना और सोना आदि सभी बातें नपी तुली होनी चाहिये। प्रत्येक इन्द्रिय पर नियन्त्रण होना चाहिये। एक महाशय बोले कि मै जहां जता हूॅ वहां उस कमरे की तमाम चीजों को देख सकता हूॅ। मैंने कहा भगवन् मनुष्य ऐसा कर्मों करे, क्या वह किसी का पहरेदार है या चोर, ताकि उसे करना चाहिये यह तो अपनी आॅखों की फजीयत करना है। मसुष्य की आॅखे तो इसलिये हैं कि वह अपना आवश्यकीय कार्य देख भाल कर सावधानी से करे। यही हिसाब कानों के लिये भी होना चाहिये यदि श्री सदगुरु का आदेश उपदेश हो तो उसे मनुष्य ध्यान पूर्वक सुने और याद रखे किन्तु किसी की भी निन्दा को सुनने के लिये कभी भी तैयार न हो। मिट्टी के तेल की बदबू से नांक नहीं सड़ सकती परन्तु मनुष्य के दुश्चरित्र की बदबू फैल जाने से उसका खुद का जीवन बर्बाद हो जावेगा और धरातल को भी गन्दा बनाने में अग्रसर होगा। अतः बुरी बातों से हमें सदा बचते रहना चाहिये। मद, मांस सरीखी सदोष चीजों को तो कभी याद भी नहीं करना

चाहिये किन्तु निर्दोष वस्तुवों को भी अवश्यकता से अधिक प्रयोग में लाने से परहेज होना चाहिये इस प्रकारअपने इन इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को वेलगाम न दौड़ने देकर इनके लगाम रखना ही मनोनिग्रिह का मूल मन्त्र है जो कि सन्त महन्तों की संगति से प्राप्त हो सकता है। अतः सत्सङ्गी वनना ही मनुष्य का आद्यकर्तव्य माना गया है हॉ एक वालक के पास से भी इसी विषय का सवक सीखा जा सकता है। आप किसी भी वच्चे को लीजिये वह जिस चीज की तरफ देखना है टकटकी लगाकर देखता है। अगर उधर ही आप भी देखते हैं तो आपकी ऑखों की पलके दस वार झपकेंगी किन्तु उसकी एक वार भी नहीं ! क्योंकि वच्चे के सन्मुख में जो चीज आती है तो वह तो उसी को अपने उपयोग में पकड़ना चाहता है कि यह क्या और कैसी है ! और किसी वात की उसे चिन्ता नहीं होती, वस इसीलिये वह उसे गौर से देखता है। ताकि उसके

दिल पर उसका प्रभाव पड़े जो कि घर कर लेता है फिर अनेक प्रयत्न करने पर भी उसका दूर हटाना कठिन हो जाता है इसीका नाम संस्कार है। लड़के को शुरू के दो चार सालों में जो शिक्षा मिलती है-जिसे कि वह अपनी स्वाभाविक सरलता से ग्रहण करता है वाद में वैसी सुदृढ़ होकर रहने वाली शिक्षा अनेक वर्षों में भी उसे नहीं दी जा सकती। वाद की शिक्षा सव कृत्रिम पने को लिये हुये होतीहै। और इसी लिये आप लोगों को चाहिये कि आप अपने-वच्चों के आगे कभी भूलकर भी वुरी चेष्टा और वुरी वात न करें। क्यों की वच्चे का दिल एक प्रकार का कैमरा होता है

जो कि आपकी की हुई चेष्टाओं के प्रतिबिम्बको ग्रहण करता है। बच्चे के मन में विश्वास भी नैसर्गिक होता है। उसकी माँ उसे जो भी कहे वही उसके लिये प्रमाण। जो कुछ कहानियाँ जिस रूप से उन्हें कही जाती हैं वे सब उन्हें अक्षरशः सच मालूम होती हैं। वह तो अपनी माता को ही अपना हित करने वाली मान कर उसके कहने में चलना जानता है। अपनी माता पर उसकी अटल श्रद्धा रहती है। वह उसे जैसा कहे वैसा करना जानता है और कुछ भी नहीं, बस इसी लिये उसके चित्त में व्यग्रता न होकर एकाग्रता अधिक होती है।

बाल जीवन की विशेषता—

एक नवजात बालक भी अपने जीवन में खाना पीना सोजाना आदि अपनी अवस्थोचित बात तो करता ही है। परन्तु वह अपने सरल भाव से जो करता है और जब तक करता है फिर उसे छोड़ दूसरी बात करने लगता है तो उसी में संलग्न हो जाता है। उसे उस समय फिर पहले वाली बात के बारे की कुछ भी चिन्ता नहीं रहा करती। जब भूख लगी कि माता की स्तनों को पकड़ कर चसड़ २ चूसने लगता है किन्तु जहाँ पेट भरा कि उन्हे छोड़ कर खेलने लगता है या सो जाता है फिर भूख लगी कि उठकर दूध पीने लगता है। एवं पेट भरा कि फिर मस्त। उसे इस बात की भी चिन्ता नहीं कि यहाँ पर क्या हो रहा है और आगे क्या होने

वाला है। वह तो सिर्फ दो ही बातें जानता है खुद करना एवं बुजुर्ग लोगों का अनुकरण करना। अतः चोरी; जारी, झूठ पाखण्ड आदि बुरी बातों से यह प्राकृतिक रूप में वह परे रहता है। आप किसी बच्चे से पूछिये कि आज क्या खाया था। तो वह जैसा खाया है कहता है कि सिर्फ मट्ठे के साथ में रूखी जुवार की रोटी खाई थी क्योंकि वह इस बात से परे है कि इसे ऐसा कहने से मेरे कुटुम्ब वालों की बेइज्जती होवेगी। वह तो अपने सरल भाव से जैसा कुछ खाया है सो बतावेगा। फिर उसकी अम्मा भले ही इस बात की मरम्मत करती हो की क्या करूं, बच्चे को पेचिस हो रहा है इस लिये मुझे भी यही खाना पड़ी और इसे भी यही खिलाई। अस्तु बच्चा उपर्युक्त रूप से सरल और स्पष्ट बातें करता है। इसी लिये उसकी बोली सबको मीठी लगती है। जो भी सुनता है उसका चित्त बड़ा प्रसन्न हो उठता है। अगर उसका हिसाब सदा के लिये ऐसा ही बना रहे तो यह मनुष्यता का सौभाग्य समझना चाहिये। किंतु यह जब अपने जीवन क्षेत्र में आगे बढ़ता है और अपने माता पितादि को या अड़ोसी पड़ोसी को नाना प्रकार की बहाना बाजी की चालाकी भरी बातें करते हुये देखता है तो अनुकरण-शीलता के कारण आप भी वैसा ही या उनसे भी कहीं अधिक चालाक हो लेता है। भारत माता की गोद में पला हुआ होने के नाते से समाज का स्वयं-सेवक हो रहने के बदले, इन्द्रियों का दास बन कर जनता के जीवन पथ में कण्टक स्थानीय प्रमाणित होता है। औरों को घोर कष्ट पहुँचा कर भी अपने स्वार्थ की पूर्ती करने में ही

तत्पर रहना, हर एक के साथ पेचीदा वाते करके केवल अपना मतलव गांठना, दूसरे के हक को हड़प करने में कुछ भी संकोच न करना अश्लील भद्दी चेष्टायें करके अपने आपको धन्य समझना और गुरुजनों की वातों को भी ठुकरा कर अपना उल्लू सीधा करना किसी को भी अपनी चालाकी के आगे कुछ भी नहीं समझता इत्यादि रूप से एकान्त कठोरता को अपना कर प्रत्युत मानवता के वदले दानवता को स्वीकार कर वैठता है। हाँ यदि उसको शुरु से ही तुली हुई प्रमाणिक वात करने वाले महापुरुषों का संसर्ग प्राप्त होता रहे तो वहुत कुछ सम्भव है कि उपर्युक्त वुराइयों से सर्वथा अछूता रह कर दया क्षमाशील सन्तोषादि सद्गुणों का भण्डार वनते हुये वही वालक पुरुष से पुरुषोत्तम भी वन सकता है।

दया की महत्ता

किसी भी प्राणी का कोई भी तरह का कुछ भी विगाड़ न होने पावे, सव लोग कुशलता पूर्वक अपना २ जीवन व्यतित करें ऐसी रीति का नाम दया है। दयावान का दिल विशाल होता है, उसके मन में सवके लिये जगह होती है। वह किसी को भी वस्तुतः छोटा या वड़ा नहीं मानता, अपने पराये का भी भेदभाव उसके दिल से दूर रहता है। वह सव आत्माओं को समान समझता है। तभी तो वह दूसरे का दुःख दूर करने के लिये अपने आपका वलिदान करने में नहीं हिचकिचाता है। एक वार की वात है।

कि एक हाईकोर्ट के जज साहिब अपनी मोटर में सवार होकर कचहरी को जा रहे थे। रास्ते में जाते हुये देखते हैं तो कीचड़ में एक सूवर फंसा हुआ है जो कि निकलने के लिये छटपटा रहा है। जज साहिब ने अपनी मोटर रुकवाई और खुद अपने हाथों से उस सूवर को निकालकर बाहर किया। सूवर ने अपने अङ्ग फड़फड़ाये जिससे जज साहिब के कपड़े छींटछींटा हो गये। कचहरी को देर हो रही थी। अतः उन्हीं कपड़ों को पहने हुए मोटर में बैठ कर फिर कचहरी को रवाना हो लिये। लोगों ने जब जज साहिब का यह हाल देखा तो लोग आश्चर्य में डूब गये कि आज उनका ऐसा ढङ्ग क्यों है ड्राइवर ने बीती हुई बात बताई तो सब लोग वाह २ कहने लगे। जज साहिब बोले कि इसमें मैंने बड़ी बात कौनसी की है? मैंने सूवर का दु.ख दूर नहीं किया बल्कि मैंने तो मेरा ही दु.ख दूर किया है। मुझसे उसका वह दृश्य देखा नहीं गया तब मैं फिर और क्या करता? ठीक ही है किसी को भी कष्ट में पड़ा देखकर दयालु पुरुष का दिल द्रवित हो उठता है। इसमें सन्देह नहीं है। वह अमरता का वरदाता होता है। जो कि अज्ञान और असमर्थ बालक को मातृभाव से उनके हित की बात कहता है। वे जो कुछ भूल खा रहे हो उसे हृदयग्राही मधुर शब्दों में उन्हें समझा कर उत्पथ में न जाने देते हुए प्रेम पूर्वक सही रास्ते पर लाने की चेष्टा करता है। ऐसा करने में कोई व्यक्ति अपनी आदत के वश होकर आभार न मानते हुए प्रत्युत उसके साथ में विरोध दिखलाते हुए उसकी किसी प्रकार की हानि भी करता है

तो दयालु पुरुष उसे भी सहन करता है परन्तु उसे मार्ग पर लाने की ही सोचता है।

सुनते ही हैं कि इंग्लैंड में होमरलेन नाम का एक विद्वान था। वह जब भी किसी असहाय, दुःखी पुरुष को देखता था तो उसका दिल पिघल जाया करता था। कोई बालक किसी भी प्रकार की बुरी आदत में पड़ रहा हो तो उसे देखकर वह विचारने लगता कि इसकी तो सारी जिन्दगी ही बरबाद हो जायेगी। किसी भी तरह से इसकी यह कुटेव दूर होकर इसका भविष्य उज्जवल होना चाहिए। बस इस विचार के बस होकर उसने एक रिपब्लिकन नाम का आश्रम खोला। जिसमें बुरी आदतों वाले बालक लाना और धीरे २ उनके जीवन को सुधारना ही उसका उद्देश्य था। एक दिन कोर्ट में एक ऐसा बालक पकड़ा गया जो कई बार चोरी कर चुका था। होमरलेन को जब पता लगा तो वह उसे वहां से अपने पास आश्रम में ले आया। परन्तु उसने तो आते ही ऊधम मचाना शुरू कर दिया। वहां के लड़कों से लड़ने लगा और उनकी पुस्तकें फाड़ने लगा तो वहां के प्रबन्धक लोग घबराये और होमरलेन से बोले कि साहेब यह लड़का तो नटखट है सारे बालकों को ही बिगाड़ देगा अत. इसे तो यहां रखना ठीक नहीं है होमरलेन बोला भाई मुझे इस पर दया आती है अगर यह यहां आकर भी नहीं सुधरा तो फिर कैसे सुधरेगा, इसका तो फिर सारा जीवन ही बरबाद हो जा-येगा खैर इसे तुम यहां नहीं रखते हो तो मुझे दो मैं इसे अपने पास रखूंगा। ऐसा कहकर जब वह उसे घर लाया तो वहां पर भी

उसका तो वही हाल। उसके कमरे की बहुमूल्य चीजों को भी वह तो वैसे ही तोड़ने फोड़ने लगा। फिर भी होमरलेन ने विलकुल मन मैला नहीं किया, बल्कि हंसते हुये बोला, कि बेटा यह घड़ी और बची है इसे भी तोड़ डालो बस यह सुनते ही उस लड़के के दिल में एकाएक परिवर्तन आगया। वह सोचने लगा कि देखो मैंने इनका इतना नुकसान कर दिया, फिर भी मेरे प्रति इनके मन में कुछ भी मलान नहीं आया, देखो ये कितने गम्भीर हृदयी हैं। और मैं कितना तूफानी। ये भी आदमी है तथा कहने के लिये तो मैं भी एक आदमी ही हूँ मुझे कुछ तो सोचना चाहिये ऐसा विचार अपने मन में करते हुये वह लड़का होमरलेन के पैरों में पड़गया और अपने अपराध के लिये क्षमा याचना करने लगा, बोला कि बस मैं अब आगे किसी भी प्रकार की बदमासी नहीं करूगां। होमरलेन बड़ा खुश हुआ और कहने लगा कि कोई बात नहीं बल्कि मुझे तो इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि अब तुम समझ गये हो।

मतलब यही है कि जिसका दिल दया से भीगा हुआ होता है वह किसी से भी मुंह मोड़ना नहीं जानता। वह तो अपना सब कुछ खोकर भी दुःखिया के दुःख को दूर करना चाहता है। क्योंकि उसका प्राणी मात्र के प्रति सहज स्वभाविक प्रेम होता है। अतः वह तो सबको गुणवान देखना चाहता है एवं किसीभी गुणवान को जब वह देखताहै तो उसका दिल प्रसन्नता से उमड़ उठता है जैसा कि तत्वार्थ सूत्र में है—मैत्री प्रमोद कारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्वगुणाधिक क्लिश्यमाना विनेयेषु।

जहां दया है वहां कोई दुर्गुण नहीं—

जिन बातों के होने से प्राणी प्रजा का विप्लवकारी साबित हो ऐसे हिंसा असत्यभाषण, चोरी, व्यभिचार, असन्तोष आदि को दुर्गुण समझना चाहिये। जहां दया होती है वहाँ पर इन दुर्गुणों का नाम लेश भी नहीं होता परन्तु जहाँ इनमें से कोई एक भी हो वहां पर फिर दया नहीं रह सकती है।

हमारे यहाँ एक कथा आती है। कि एक राजा था उसके सौ लड़के थे तो राजा के मरने पर बड़े लड़के को राजा और छोटे को युवराय बनाया गया। दोनों का समय परस्पर बड़े प्रेम से कटने लगा। परन्तु संयोग वश ऐसा हुआ कि एक रोज राजा ने युवराज्ञी को नजर भर देख लिया। युवराज्ञी युवती थी और बड़ी सुन्दर थी अतः उसे देखते ही राजा का विचार बदल गया। वह उसके साथ अपनी बुरी वासना को पूरी करने की सोचने लगा। अतः उसने युवराजको तो किसी सीमान्त दुष्ट राजा पर आक्रमण करने के लिये भेज दिया और युवराज्ञी को फुसलाने के लिये उसने अपनी दूती द्वारा पारितोषिक भेजा! किन्तु वह राजी न हुई। राजा ने सोचा भाई को मार दिया जाए, फिर तो यह लाचार होकर अपने आप मेरा कहना करेगी। वसन्तोत्सव का षडयन्त्र रचाया सब लोग अपनी २ पत्नियों को लेकर बन विहार को गये। युवराज भी युवराज्ञी के साथ अपने बगीचे में पहुँच गया और सोचा कि आज की रात यहाँ ही आराम से काटी जावे। उसे क्या पता था कि रङ्ग में भङ्ग

होने वाला है। राजा के मन चाहती बात हुई अतः वह घोड़े पर चढ़ कर युवराज के विश्राम स्थान की ओर रवाना हुआ पहरा लग रहा था। पहरेदारों ने राजा को आगे बढ़ने से रोक कर युवराज को सूचना दी कि महाराज आप के पास आना चाहते हैं। युवराज बोले आंने दो। युवराज्ञी समझ गई और बोली प्रभो ! आप क्या कर रहे हैं ! होशियार रहिये, आपके भाई साहेब का विचार मुझे आपके प्रति ठीक प्रतीत नहीं हो रहा है। युवराज ने उसके कहने पर भी ध्यान नहीं दिया। राजा साहेब आये और उचित स्थान पर युवराज के पास बैठ गये। युवराज बोला भाई साहेब आज इस समय कैसे आना हो गया, ऐसा कौन काम आ पड़ा, आपने आने का कष्ट क्यों किया, मुझे सूचित कर देते तो मैं ही आपके पास आ सकता था। राजा बोला बताऊंगा परन्तु मुझे बड़ी जोर से प्यास लग रही है अतः पहिले पानी पिलाओ। युवराज को क्या पता था कि इनके अन्तरङ्ग में क्या है ! वह तो एकान्त भ्रातृ स्नेह को लिये हुये था अतः बड़े भाई को पानी पिलाने के लिये गिलास उठाने को लपका कि पीछे से राजा ने उसकी गरदन पर कटार मार दिया, और उन्हीं पैरों उलटा लौट चला। सिपाहियों ने हल्ला मचा कर उसे पकड़ना चाहा, मगर युवराज्ञी ने सोचा कि स्वामी मरणासन्न हैं अगर हम लोग इसी धर पकड़ में लगे रहे तो सम्भव है कि स्वामी का अन्त समय बिगड़ जावे अतः उसने सिपाहियों को ऐसा करने से रोका और अपने दिल को कड़ा करके समयोचित्त अन्तिम संदेश-हे स्वामिन् इस संसार में अनादिकाल से जन्म-मरण करते रहने वाले इस शरीर धारी की अपनी भूल ही इसका शत्रु है और स्वयं सम्भल

कर चलना ही इसका। मित्र है बाकी के ये बस दुनियां के लोग तो परिस्थिति के वश में होकर जो आज शत्रु है वही कल मित्र और मित्र से फिर शत्रु होते दिखाई देते हैं। जो भाई साहेब आप के लिये जान तक देने को हर समय ही तैयार रहते थे आज आपकी जान के गाहक बन गये, इस ऐसा होने में यदि विचार कर देखा जावे तो प्रधान निमित्त मैं ही हूं मेरे ही रूप के पीछे पागल होकर उन्होंने ऐसा किया है। अतः एक तरह से देखा जावे तो मैं ही आप की शत्रु हूँ, जिसको कि आप अपनी समझ रहे हैं। वस्तुतः कोई किसी का शत्रु या मित्र नहीं है। न कोई अपना है और न कोई पराया। सब लोग अपने २ कर्मों के प्रेरे हुये यहां से वहां चक्कर काट रहे हैं। कोई किसी का साथ देने वाला नहीं है। औरों की तो बात ही क्या इस बन्दे का यह शरीर भी यहां का यहीं रह जाता है, जबकि वह परलोकगमन की सोचता है। हाँ उस समय यदि भगवान् का स्मरण करता है तो वह स्मरण अवश्य उसके साथ रहता है, एवं गढ्ढे में गिरने से बचाता है। अतः अब आप तो क्या अच्छे और क्या बुरे सभी प्रकार के संकल्पों को त्याग कर परमात्मा के स्मरण में मनको लगाइये, और इस नश्वर शरीर का प्रसन्नता पूर्वक त्याग कर जाइये। जैसे कि सर्प कांचली को छोड़ जाता है, इस प्रकार कह कर अन्तिम श्वास तक नमस्कार मन्त्र उसे सुनाती रही। उसने भी भगवान के चरणों में मन लगा कर इस पामर शरीर का परित्याग किया, एवं वह दीव्य देहधारी देव बना और उसी युवराज के रूप में पानी लेकर राजा के पास आया तथा बोला कि लो पानी पीलो चले क्यों आये, तुम

तो प्यासे थे ? परन्तु वस्तुतः तुम पानी के प्यासे न हो कर जिस वात के प्यासे हो वह तुम्हारी प्यास, जो मार्ग तुमने अपना रखा है उससे नहीं मिट सकती, देखो तुमने मेरे कटार मार दिया था। वह भी उस सती के सन्देश मन्त्र से ठीक होगया है। जिस महासती को लक्ष्य कर तुम बुरी वासना के शिकार वन रहे हो। अतः अव तुमको चाहिये कि तुम सन्तोष धारण करो, उस सती के चरण छूवो, एवं भगवान का नाम जपो वस इसमें तुम्हारा कल्याण है। इस पर होस में आकर राजा ने भी अपनी करणी का प्रायश्चित किया और ठीक मार्ग स्वीकार किया।

मतलव यह कि दया के द्वारा ही मनुष्य माननीय वनता है। दया ही परम धर्म है जिसको कि अपनाकर यह शरीरधारी ऊपर को उठता है। परन्तु जो कोई भी दया को भूल जाता है या अंह-कार के वश होकर उसकी अवहेलना करता है वह जीव इस दुनियां में घृणा का पात्र वन जाता है जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं:—

दया धर्म का मूल है, पापमूल—अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जव लग घट में प्राण॥

दयाका सहयोगी विवेक—

हां यह वात भी याद रखने योग्य है कि दया के साथ में भी विवेक का पुट अवश्य चाहिये। दया होगी और विवेक न होगा प्रत्युत उसके ही स्थान पर मोह होगा तो वह उस विश्व सन्जीविनी

दया को भी संहारकारिणी बना डालेगा। मान लीजिये कि आपके बच्चे को कफ, खाँसी का रोग होगया, आप उसे आराम कराना चाहते हैं और वैद्य के पास से दवा भी दिला रहे है, मगर बच्चे को दही खाने का अभ्यास है, वह दही मांगता है, नहीं देते हो तो रोता है, छटपटाता है, मानता नहीं है, तो क्या आप उसे दही खाने को दे देगें ? अपितु नहीं देंगे, क्योंकि दही खिला देने से उसका रोग बढ़ेगा यह आप जानते हैं। फिरभी आपको उस बच्चे के प्रति कहीं मोह आगया तो सम्भव है कि आप उसे छटपटाता हुआ देख कर उपर्युक्त बात को भूल जावें तथा उसे दही खाने को दे देवें तो यह आपकी दया के बदले उस बच्चे के प्रति दुर्दया ही कही जावेगी उसके स्वास्थ्य को विगाड़ने वाली ही होगी।

रावण को मार कर श्री रामचन्द्र जी महाराज जब सीता महारणी वापिस लाये और घर में उसे रखने लगे, तो लोगों ने इस पर आपत्ति की। श्री रामचन्द्र जी यह जानते अवश्य थे कि सीता निर्दोष है इसमें कोई भी शक नहीं, फिर भी वनवास का आदेश दिया ताकि बन के अनेक संकट सह कर भी अन्त में उसे परीक्षोत्तीर्ण होना ही पड़ा। अगर श्री रामचन्द्र जी महाराज ऐसा न करते तो क्या आम लोगों के दिल में सीता महाराणी के लिये यह स्थान हो सकता था ? श्री रामचन्द्र जी की गौरव कथा जिस महत्ता से आज गाई जारही है वह कभी भी सम्भव थी ? कि एक साधारण आदमीकी आवाज पर श्री रामचन्द्रजी ने अपने प्राणोंसे प्यारी सीता का परित्याग कर दिया, ओह कितना ऊंचा स्वार्थ त्याग है। परन्तु

वात वहां ऐसी थी, श्री रामचन्द्र जी महापुरुष थे, उनकी निगाह में सभी प्राणी अपने समान थे। वस इसी लिए तो सब लोग आज भी उन्हें याद करते हैं।

अभिमान का दुष्परिणाम—

कुछ भी न कर सकने वाला होकर भी अपने आपको करने वाला मानना अभिमान है। वस्तुतः मनुष्य कुछ नहीं कर सकता, जो कुछ होता है वह अपने २ कारण कलाप के द्वारा होता है। हाँ संसार के कितने कार्य ऐसे होते हैं जिनमें इतर कारणों की ही समान मनुष्य का भी उनमें हाथ होता है। एवं जिस कार्य में मनुष्य का हाथ होता है तो वह उसे अपनी विचार शक्ति के द्वारा प्रजा के लिये हानि कारक न होने देकर लाभप्रद वनाने की सोचता है, वस इसीलिये उसे उसका कर्ता कहा जाता है। फिर भी उस काम का होना, न होना या अन्यथा होना यह उसके वश की वात नहीं है। मान लीजिये कि एक किसान ने खेती का काम किया—जमीन को अच्छी तरह जोता, खाद भी अच्छी लगाई, वीज अच्छी तरह से बोया, सिंचाई ठीक तौरसे की, और भी सब सार सम्भाल की और फसल अच्छी तरह पक कर तैयार हो गई, किन्तु एकाएक कुहर पड़ा ताकि किया कराया सब कुछ वर्बाद। सारी खेती जलभुन कर मिट्टी में मिल जाती है। ऐसी हालत में अगर किसान यह कहे कि मैं ही खेती करने वाला हूँ, अन्न को उपजाता हूँ तो यह उसका अभिमान गलत विचार है। इस गलत विचार के पीछे स्वार्थ की वदवू रहती

है यानि जब कि मै खेती करने वाला हूँ तो मै ही उसका अधिकारी हूँ. भोक्ता हूं, किसी दूसरे का इस पर क्या अधिकार है। इस प्रकार का संकीर्णभाव उसके हृदय में स्थान किये हुये रहता है। इस संकीर्ण भाव के कारण से ही प्रकृति भी उसका साथ देना छोड़ कर उस से विरुद्ध हो रहती है, ताकि जी तोड़ परिश्रम करने पर भी सफलता के वदले में प्रायः असफलता ही उसके हाथ लगा करती है। हाँ जो निरभिमानी होता है, वह तो मानता है कि यह मेरा कर्तव्य है अतः मै करता हूं, मुझे करना भी चाहिये, इसका फल किसको कैसा, क्या होगा, इसकी उसे चिन्ता ही नहीं होती। एक समय की वात है कि किसी नगर का राजा घोड़े पर चढ़कर वायु सेवन के लिये रवाना हुआ, नगर के वाहर आया तो एक वूढा माली अपने वगीचे में नूतन पेड़ लगा रहा था। यह देखकर राजा वोला कि वूढ़े तू जो ये पेड़ लगा रहा है सो कव जाकर खड़े होंगे। क्या तू इनके फल खाने के लिए तव तक वैठा ही रहेगा? वूढ़े ने उत्तर दिया कि प्रभो इसमें फल खानेकी कौनसी वात है? यह तो मेरा कर्तव्य है, अतः मै कर रहा हूँ। मैंने भी तो मेरे वुजर्गों के लगाये हुये पेड़ोंके फल खाये हैं, अतः इन मेरे लगाये हुये पेड़ों के फल मेरे से आगे वाले लोग खावें यही तो प्रकृति की मांग है। इस पर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और पारितोषिक रूप में एक मुहर उसे देते हुये धन्यवाद दिया। मतलव यह कि कर्तव्यशील निरभिमानी आदमी जो कुछ करता है उसे कर्तव्य समझ कर विवेक पूर्वक करता है, उसे फलकी कुछ चिन्ता नहीं रहती। इसी उदाहरण को लेकर उसे उसमें सफलता भी आशातीत प्राप्त होती है।

श्री रामचन्द्रजी को पता लगा कि सीता रावण के घर पर है तो बोलेकि चलो उसको लाने के लिये। इस पर सुग्रीव आदि ने कहा कि प्रभो! रावण कोई साधारण आदमी नहीं है। उससे प्रतिद्वन्दिता करना आग में हाथ डालना है। श्री रामचन्द्रजी ने कहा, कुछ बात नहीं। परन्तु सीता को आपत्ति मे पड़ी देख कर भी हम चुप बैठे रहे, यह कभी नहीं हो सकता है। हमें अपना कर्तव्य अवश्य पालन करना ही चाहिये। फिर होगा तो वही जो कि प्रकृति को मन्जूर है। श्री रामचन्द्रजी की इस सहज सरलता के द्वारा उनके लिये सभी तरह का प्राक्रम अपने आप अनुकूल होता चला गया। उधर उनके विपक्ष में रावण यद्यपि वस्तुतः बहुत बलवान और शक्तिशाली भी था, परन्तु वह समझता था कि मुझे किसकी क्या परवाह है, मै अपने भुजबल और बुद्धि कौशल से जैसा चाहूं वैसा कर सकता हूं। बस इसी घमण्ड की वजह से उसकी खुद की ही ताकत उसका नाश करने वाली बन गई। इस बात का पता हमें रामायण पढ़ने से लगता है। अतः मानना ही चाहिये कि अभिमान के बराबर और कोई दुर्गुण नहीं है, जिसको कि पीछे अन्धा होकर यह मनुष्य अपने आपको ही खो बैठता है।

परिस्थिति की विषमता

किसी भी देश और प्रान्त में ही नहीं किन्तु प्रत्येक गांव तथा घर में भी आज तो प्रायः कलह, विसंवाद, ईर्षा, द्वेष आदि का आतङ्क छाया हुआ पाया जा रहा है। इधर से उधर चारों तरफ बुराइयों का वातावरण ही जोर पकड़ता जा रहा है। इस लिये मनुष्य अपने जीवन के चौराहे पर किङ्‌मिमूढ हुआ खड़ा है। वह किधर जावे और क्या करे? सभी तरफ से हिंसा की भीषण ज्वालायें आकर इसे भस्म कर देना चाहती हैं। असत्य के खारे पानी से सन कर इसका कलेजा पुराने कपड़े की तरह चीर चीर होता हुवा दीख रहा है। लूट खसोट के विचार ने इसके लिये हिलने को भी जगह नहीं छोड़ी है। व्यभिचार की बदबू ने इसका नाक में दम कर रखा है। असन्तोष के जाल में तो यह बुरी तरह जकड़ा हुआ पड़ा है। घर में और बाहर में कहीं भी इसे शान्ति नहीं है। क्योंकि भौतिकता की चकाचोंध में आकर इसने अपना विश्वास गला डाला है। अपनी चपलता के वश में होकर यह किसी के लिये भी यह विश्वास का पात्र नहीं रहा है। और न इसे ही कोई ऐसा दीखता है जिसके कि भरोसे पर यह धैर्य धारण कर रह सके। सांप से सबको डर लगता है कि वह कहीं किसी को काट न खावे, तो सांप भी हर समय यों भयभीत बना ही रहता है कि कोई मुझे मार न डाले। बस यही हाल आज मनुष्य का मनुष्य के साथ में हो रहा है। एक को दूसरा हड़प जाने वाला प्रतीत होता है। अतएव मनुष्य, मनुष्य के पास जाने में संकोच करता है। हां किसी

भी वृक्ष के पास वह खुशी से जा सकता है, क्योंकि उसे उस पर विश्वास है कि वह भूखे को खाने के लिए फल, परिश्रान्त को ठहरने के लिए छाया, शयन करना चाहने वाले को फूल पत्तों की सेज और टेक कर चलने आदि के लिए लकड़ियाँ देगा। वह मनुष्य की भांति धोखे में डालने वाला नहीं है अपितु सहज रूप से ही परोपकारी है। बस इसी विचार को लेकर मनुष्य वृक्ष के पास जाने मे संकोच नहीं करता। परन्तु मनुष्य, मनुष्य के पास न जाकर उससे दूर रहना चाहता है। क्योंकि वह सोचता है कि आज का मनुष्य दूसरे का बुरा करने का आदि बना हुआ है। उसके पास जाने पर मेरा बिगाड़के सिवाय सुधार होने वाला नहीं है, मेरी कुछ न कुछ हानि ही होगी अपितु कुछ लाभ होने वाला नहीं है। बस इसी लिये वह उससे दूर भागता है। परन्तु गाड़ी का एक पहिया जिस प्रकार दूसरे पहिये के सहयोग बिना खड़ा नहीं रह सकता उसी प्रकार दुनियादारी का मानव भी किसी दूसरे मानव के सहयोग से रहित होकर कैसे जीवित रह सकता है? अतः मानव को अपना जीवन भी आज दूभर बना हुवा है।

स्वार्थपरता सर्वनाश की जड़ है

ऊपर लिखा गया है कि मनुष्य का जीवन एक सहयोगी जीवन है। उसे अपने आपको उपयोगी साबित करने के लिये औरों का साथ अवश्यंभावी है, जैसे कि धागा धागों के साथ में मिलकर चादर कहलाता है और मूल्यवान बनता है। अकेला धागा किसी गिनती में नहीं आता, वैसे ही मनुष्य भी अन्य मनुष्यों के साथ में

अपना सम्बन्ध स्थापित करके शोभावान बनता है। यानी कि अपना व्यक्तित्व सुचारू करने के लिये मनुष्य को सामाजिकता की जरूरत होती है। अतएव प्रत्येक मानव का कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने आपके लिये जितना सुभीता चाह रहा हो उससे भी कहीं अधिक सुभीता औरों के लिये देने और दिलवाने की चेष्टा करे। परन्तु आज हम देख रहे हैं कि आज के मानवकी प्रगति इससे विलक्षण है। वह समाज में रह कर भी समाज की कोई परवाह नहीं करता है उसे तो सिर्फ अपने आपकी ही चिन्ता रहती है। भूख लगी कि रोटियों की तलाश में दौड़ता है, प्यास लगी तो पानी पीना चाहता है। जहाँ खाना खाया, पानी पीया और मस्त। फिर लेट लगाने की सोचता है। वह क्या यह भी सोचता है कि कोई और भी भूखा होगा? बल्कि आप खा चुका हो और रोटियाँ शेष बच रही हों एवं भूखा भिखारी सम्मुख में खड़ा होकर खाने के लिए माँग रहा हो तो भी उसे न देकर आपही उन्हें शाम को खा लेने की सोचता है।

कहो भला ऐसी खुदगर्जी का भी कहीं कोई ठिकाना है। जिसका की शिकार आज का अधिकाँश मानव है। अपनी दो रोटियों में से एक चौथाई रोटी भी किसी को दे दूं सो तो बहुत ऊंची बात है प्रत्युत यह तो दूसरे के हक की रोटी को भी छीन कर हड़प जाना चाहता है। इसी खुदगर्जी की आग में आज का मानव स्वयं जल कर भस्म होता हुआ देखा जा रहा है।

एक समय की बात है कि एक साधु को मार्ग में गमन करते

हुये चार वटेऊ मिले । साधु ने कहा भाइयो ! इधर मत जाना। क्योंकि इधर थोड़ी दूर आगे जाकर वहां पर मोत है किन्तु उसके कहने पर उन लोगों ने कोई ध्यान नहीं दिया । अपनी धुन में आगे को चल दिये । कुछ दूर जाकर देखा तो असरफियों का ढेर पड़ा था । उसे देख कर वे बड़े खुश हुए, बोले कि उस साधु के कहने को मान कर हम लोग वहीं रुक जाते तो यह निधान कहां पाते ? इसी लिये तो हम कहते हैं कि इन साधुओं के कहने में कोई न आवे । खैर ! अपने को चलते २ कई दिन हो गये हैं भूख सता रही है । अतः इनमें से एक असरफी लेजा कर एकआदमी इस पास वाले गांव में से मिठाई ले आवे । उसे खाकर फिर इन शेष असरफियों के वरावर चार हिस्से करके एक एक हिस्सा लेकर प्रसन्नता पूर्वक घर को चलेंगे ।

अव जो मिठाई लेने गया उसने सोचा कि मै तो यहीं पर खालूं और अव शेष मिठाई में जहर मिला कर ले चलूं ताकि इसे खाते ही सब मर जावें तथा सब असफरियां मेरे ही लिये रह जावें। उधर उन लोगों ने विचार किया कि आते ही उसे मार डालना चाहिये ताकि इस धन के तीन हिस्से ही करने पड़े । एवं जब वह आया तो उन तीनों ने उसके माथे पर लठ्ठ जमाया, जिससे वह मर गया और उसकी लाई हुई मिठाई को खाकर वे तीनों भी मर गये । असरफियां वहाँ की वहाँ ही पड़ी रह गईं ।

बन्धुओ ! यही हाल आज हम लोगों का हो रहा है । हम बांट कर खाना नहीं जानते, सिर्फ अपना ही मतलब गाँठना चाहते हैं ।

और इस खुदगर्जी के पीछे मगरूर होकर सन्तों, महन्तों की वाणी को भी भुला बैठते हैं। इसीलिये पद पद--पर आपत्तियों का सामना करना पड़ रहा है।

श्रावक की सार्थकता

श्रावक शब्द का सीधा सा अर्थ होता है, सुनने वाला। एवं सुनने वाले तो वे सभी प्राणी हैं जिनके कि कान हैं। अतः ऐसा करने से कोई ठीक मतलब नहीं निकलता। हम देखते हैं कि किसी भी पंचायत में या न्यायालय में कोई पुकारने वाला पुकारता है। उसकी पुकार पर ध्यान पूर्वक विचार करके यदि उसका समुचित प्रबन्ध नहीं किया जाता है तो वह कह ऊठता है कि यहां पर किसकी कौन सुनने वाला है ? कितना भी क्यों न पुकारो। मतलब उसका यह नहीं कि वहां सभी बहरे हैं, परन्तु सुनकर उसका ठीक उपयोग नहीं, पुकारने वाले की पीड़ा का योग्यरीति से प्रतिकार नहीं बस इसीलिये कहा जाता है कि कोई सुनने वाला नहीं।

हमारे पूर्वजों ने भी उसी को श्रावक कह पुकारा है, जो कि आर्ष वाक्यों को न्यायालय के नियमों के रूप में अटल मान कर श्रद्धा पूर्वक स्वीकार किये हुए हों, जिसका हृदय विचारपूर्ण भावना से ओत-प्रोत हो, अत. किसी को भी कोई भी प्रकार की विपत्ति में पड़ा हुआ पाकर उसका वहां से उद्धार किये बिना जिसे कभी चैन नहीं हो एवं अपने तन, मन और धन के द्वारा सव तरह से समाज सेवा के लिये हर समय तैयार रहने वाला हो।

वह खुद अनीति-पथ में पैर रखे यह तो कभी सम्भव ही नहीं हो सकता, प्रत्युत वह औरों को भी कुमार्ग में जाते हुये देखता है तो आश्चर्य में डूब रहता है कि यह ऐसा क्यों हो रहा है ? इस प्रकार मधुर और कोमल दिल वाला जो कोई हो जाता है वही श्रावक कहलाता है। भले ही वह परिस्थिति के वश होकर अपना कायिक सम्बन्ध कुछ लोगों के साथ में ही स्थापित किये हुए हो फिर भी अपनी मनोभावना से सब लोगों को ही नहीं अपितु प्राणीमात्र को अपना कुटुम्ब समझता है। अतः किसी का भी कोई विगाड़ कर देना या हो जांना उसकी निगाह में बहुत बुरी बात होती है। हाँ, वह सन्मार्ग के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धावान होता है। अतः सन्मार्ग पर चलने वालों पर उसका विशेष अनुराग हुवा करता है। एवं वह हर तरह से उनकी उपासना में निरत रहता है। इस लिये वह उपासक भी कहा जाता है।

उपासक का प्रशमभाव

जैसा कि महात्माओं के मुंह से उसने सुना है, उसके अनुसार वह मानता है कि आत्मत्व के रूप में सभी जीव समान हैं, सबमें जानपना विद्यमान है। अव्यक्त रूप में सभी प्रमात्मत्व को लिये हुये हैं, प्रभुत्व शक्तियुक्त हैं। एवं किसी के भी साथ में विरोध, वैमनस्य करना परमात्मा के साथ में विरोध करना कहा जाता है। प्रमात्मा से विरोध करना सो अपने आपके साथ ही विरोध करना है। अतः किसी के भी साथ में वैर विरोध करने की भावना ही उसके

मन में कभी जागृत ही नहीं होती। उसके हृदय में तो सम्पूर्ण प्राणियों की उपयोगिता को समझते हुए प्रेम के लिए स्थान होता है। बल्कि वह यह तो मानता है कि दुनियां का कोई पदार्थ अनुपयोगी नहीं है। यह बात दूसरी कि मनुष्य उससे अनभिज्ञ हो। अत अपनी चपलता के वश में होकर उसका दुरुपयोग कर रहा हो।

एक बार की बात है—राजा और राणी अपने महल में सुकोमल सेज पर विश्राम कर रहे थे। इतने में राजा की नजर एक मकड़े पर पड़ी। जोकि वहां महल की छत में अपने सहजभाव से जाला तन रहा था। राजा को उसे देख कर गुस्सा आया कि देखो यह बेहूदा जन्तु मेरे साफ सुथरे महल को गन्दा बना रहा है। अतः उसे मारने के लिए राजा ने तमंचा उठाया। परन्तु शीघ्रता के साथ उसका हाथ पकड़ कर राणी बोली, प्रभो ! यह आप क्या कर रहे हैं ? आप इसे बेकार समझ रहे हैं, फिर भी अपनी अपनी जगह सभी काम आने वाले हैं। समय पड़ने पर आपको इस बात का अनुभव होगा।

रानी के इस प्रकार मना करने पर राजा मान गया, किन्तु राजा के मन में यह शंका बनी ही रही कि यह भी कोई काम में आने वाला है ? अस्तु : दूसरे ही रोज राजा अपने मन्त्री आदि के साथ में घूमने को निकला तो पिछाड़ी से आकर एक कुत्ते ने राजा की जांघ में काट खाया। वैद्य से पूछा गया कि अब क्या करना चाहिये ? जबाब मिला कि यदि कहीं मकड़ी का जाला मिल जावे तो उसे लाकर इस घाव में भर दिया जावे। बस वही इसकी एक

लाजवाब दवा है। यह सुन कर राजा को विश्वास हुआ कि रात वाला राणी साहेब का कहना ठीक ही था।

मतलब यही कि अपनी अपनी जगह सभी मूल्यवान हैं। अतः समझदार आदमी फिर क्यों किसी के साथ में मात्सर्यभाव को लेकर उसका मूलोच्छेद करना चाहे ? क्योंकि न मालूम किसके विना इसका कौनसा कार्य किस समय अटक रहे :

सम्वेगभाव

महात्मा लोगों ने निर्णय कर वताया है कि शरीरी भिन्न है तौ शरीर उससे भिन्न। शरीरी चेतन और अमूर्तिक है तो शरीर जड और मूर्तिक प्रद्गल परमाणुओं का पिड, जिसको कि यह चेतन अपनी कार्य कुशलता दिखलाने के लिए धारण किये हुए है। जैसे-वढई वसोला लिये हुये रहता है, काठ छीलने के लिये। सो भूंटा हो जाने पर उसे पाषाण पर घिस कर तीक्ष्ण बनाता है। और उसमें लगा हुआ वैंसा अगर जीर्ण-शीर्ण हो गया हो तो दूसरा बदल कर रखता है। वैसे ही उपासक भी अपने इस शरीर से भगवद्भजन और समाज सेवा सरीखे कार्य लिया करता है। अतः समय पर समुचित भोजन तथा वस्त्रों द्वारा इसे सम्पोषण भी देता है। परन्तु उसका यह शरीर भगवद्भजन सरीखे पुनीततम कार्य में सहायक न होकर प्रत्युत्त उसके विरुद्ध पड़ता हो इसे वेकार समझ कर उपासक भी इससे उदासीन होकर रहता है।

राजा पुष्पपाल की लड़की मदनसुन्दरी जो कि आर्यिका जी के पास पढ़ी थी। वह जब 'विवाह योग्य हुई तो पिता ने पूछा, वेटी

कहो ! तुम्हारा विवाह किस नवयुवक के साथ में किया जावे ? लड़की ने कहा–हे भगवन् ! यह भी कोई सवाल है ? मैं इसके बारे में क्या कहूँ ? आप जैसा भी उचित समझें उसी की सेवा में मुझे तो अर्पण करदें मेरे लिये तो वही सिर का सेहरा होगा। इस पर चिढ़ कर राजा ने उसका विवाह श्रीपाल कोढिया के साथ में कर दिया। यह बात मन्त्री मुसाहिब आदि को बहुत बुरी लगी, अतः वे सब बोले कि प्रभो ! ऐसा न कीजिये। परन्तु मदनसुन्दरी बोली कि आप लोग इस आदर्श कार्य में व्यर्थ ही क्यों रोड़ा अटका रहे हैं। पिताजी तो बहुत ही अच्छा कर रहे हैं जो कि इन महाशय की सेवा करने का मुझे अवसर प्रदान कर रहे हैं। वस्तुतः शरीर तो आप लोगों का और मेरा भी सभी का ऐसा ही है जैसा कि इन महाशय का है। सिर्फ हम लोगों को लुभाने के लिए हमारे शरीरों पर चमड़ी लिपटी हुई है, किन्तु इनके शरीर की चमड़ी में छेद हो गये हुये हैं ताकि भीतर की चीज़ बाहर में दीखने लग रही है और कोई अन्तर नहीं है। अतएव इनकी सेवा करके मुझे मेरा जन्म सफल कर लेने दीजिये। भगवान जी आपका भला करेंगे।

करुणा का स्रोत

उपासक के उदार हृदय सरोवर में करुणा का निर्मल स्रोत निरन्तर बहता रहता है। वह अपने ऊपर आई हुई आपत्ति को तो आपत्ति ही नहीं समझता उसे तो हंस कर टाल देता है। परन्तु वह जब किसी दूसरे को आपत्ति से घिरा हुआ देखता है तो उसे सहन नहीं कर सकता है। वह उसकी आपत्ति को अपने ही ऊपर आई

हुई समझता है। अतः जब तक उसे दूर नहीं हटा देता तब तक उसे विश्राम कहां ? भाण्डों ने श्रीपाल को जब अपना भाई बेटा कह कर बतलाया तो मदनसुन्दरी के पिता ने रुष्ट होकर उनके लिये सूली का हुक्म लगा दिया, तो वे सहर्ष सूली पर चढ़ने को तैयार हो गये। परन्तु जब सत्य बात खुल गई और राजा को पता चला कि भाँडों ने धवल सेठ के बहकाने से झूठी बात बनाई है। तब फिर उसने अपने पूर्व आदेश को बदल कर उन भाण्डों के लिये कत्ल का हुक्म दिया, जिसे सुन कर श्रीपाल कुमार कांप गये और बोले कि हे प्रभो ! आप क्या कर रहे हैं ? जो कि इन बेचारों के लिये ऐसा कह रहे हैं। इनका इसमें क्या अपराध हुआ है ? ये तो खुद ही गरीबी से दबे हुये हैं, ताकि गरीबी के बोझ को हल्का करने के लिये इन्होंने ऐसा करना स्वीकार कर रखा है। जो बेचारे आर्थिक संकट के सताये हुये हैं, उन्हें प्रजा के स्वामी कहला कर भी आप और भी सतावें, मरे हुओं को मारें, यह तो मेरी समझ में घोर अन्याय है। प्रत्युत इसके आपकोतो चाहिये कि आप इन्हें कुछ पारितोषिक देकर सन्तुष्ट करिये ताकि आगे के लिये ये लोग इस धन्धे को छोड़ कर उसके द्वारा अपना जीवन निर्वाह करने लगें। राजा ने ऐसा ही किया और इस असीम उपकार से भाण्ड लोग श्रीपाल जी के सदा के लिये ऋणी बन गये।

आस्तिक्य भाव

उपासक जानता है कि जो वैसा करता है वह ऐसा ही पाता है। जहर खाता है, सो मरता है और जो मिश्री खाता है उसका मुंह

मीठा होता है। सिंह जोकि लोगों को बर्बाद करने पर उतारू होता है तो वह खुद ही बरबाद होकर जंगल के एक कोने में छिप कर रहता है। गाय जोकि दूध पिला कर लोगों को आबाद करना चाहती है इसीलिये वह लोगों के द्वारा आबादी को प्राप्त होती है। लोग उसका बड़े प्यार के साथ में पालण-पोषण करते हुए पाए जाते हैं। हम देखते हैं कि जो औरों के लिये गढा खोदता है वह स्वयं नीचे को जाता है किन्तु महल चिनने वाला विश्वकर्मा ऊपर को चढता है। इससे हमें समझ लेना चाहिये कि जो दूसरों का बुरा सोचता है वह खुद बुरा बनता है, किन्तु जो दूसरों के भले के लिये प्रयत्न करता है वह भलाई पाता है। एक समय की बात है-एक राज मन्त्री था वह हवाखोरी को निकला तो एक जगह कुछ लड़के खेलते हुये मिले। उन सब में एक लड़का बहुत चतुर और बुद्धिमान तथा सुलक्षण था। अतः उसे बुलाकर राजमंत्री अपने पास पुत्रभाव से रखने लगा। थोड़े दिनों के बाद प्रसङ्ग पाकर राजा ने मन्त्री से पूछा कि बताओ इस दुनियां का रङ्ग कैसा है और इसके साथ में मेरा कब तक, कैसा, क्या सम्बन्ध है ? जिसको सुनकर मन्त्री घबराया, उसे इसका कुछ भी उत्तर नहीं सूझ पड़ा। परन्तु लड़का दौड़ा और एक पचरंगे फूलों का गुलदस्ता लाकर उसने राजा के आगे रख दिया, एवं राजा के सिर पर जो ताज था उसे लेकर झट ही उसने अपने सिर पर रखलिया। इस पर लोग हंसने लगे किन्तु राजा ने उन्हें समझाया कि लड़के ने बहुत ठीक कहा है कि जैसे इस गुलदस्ते में पांच रङ्ग के फूल हैं वैसे ही यह दुनियाँ भी पंच परिवर्तन रूप पंचरंगी है। और इस दुनियाँ के साथ में मेरा

राजापने का सम्बन्ध जभी तक है जब तक की यह ताज मेरे सिर पर है, जिसके कि रहने या न रहने का पल भर का भी कोई भरोसा नहीं है। तुम लोग व्यर्थ ही इसे क्यों हंसते हो ? यह लड़का वड़ा बुद्धिमान है। मै मेरे मन्त्री का उत्तराधिकार इसे देता हूं। जब तक ये मन्त्री जी हैं तब तक हैं, इनके बाद में यही मेरा मन्त्री होगा। ऐसा सुनते ही मन्त्री के दिल को बड़ी चोट पहुँची। वह सोचने लगा कि हाय, यह तो बहुत बुरा हुआ। यह मन्त्री बनेगा तो फिर मेरा जायन्दा लड़का तो ऐसे ही रह गया, वह क्या करेगा ? क्या वह इसका पानी भरेगा ? अतः इसे अब मार डालना चाहिये। इस प्रकार विचार कर वह एक भड़भूंजे से मिला और बोला कि मैं अभी चने देकर एक लड़के को भेजता हूं सो तुम उसको भाड़ में झोंक देना। भड़भूंजा यह सुन कर यद्यपि कुछ संकोच में पड़ा, क्योंकि इस तरह से एक वेकसूर बच्चे को आग में झुलस देना तो घोर निर्दयता है। परन्तु वह वेचारा भड़भूंजा था, और इधर मन्त्री का कहना था। अगर उसका कहना न करे तो रहें कहां ? मन्त्री ने जाकर उस लड़के से कहा कि आज मुझे भूंगड़े खाने की जी में आ गई, तुम जाओ और उस भड़भूंजे से ये चने भुंजवा लाओ। लड़का तो आज्ञाकारी था वह चने लेकर रवाना हुआ। उधर उस मन्त्री का जायन्दा लड़का मिल गया, वह बोला भैया तुम कहां जा रहे हो ? पहला लड़का वोला-पिताजी ने चने दिये हैं सो भुंजवाने जा रहा हूँ। इस पर दूसरा लड़का—तुम यही ठहरो इन लड़कों के साथ में मेरी जगह गैंद खेलो, इन्हें मात दो। लाओ चने मै भुंजवा लाता हूं, ऐसा कह कर उसके हाथ से चने छीन कर दौड़ पड़ा और

भड़भूंजे के पास गया तो जाते ही उसका काम तमाम हो गया।

वन्धुओ! व्यर्थ की ईर्षा के वश होकर मन्त्री पराये लड़के को मारना चाहता था तो उसका खुद का प्राणों से प्यारा लड़का मारा गया। यही सोच कर उपासक पुरुष किसी भी दूसरे के लिये कुछ भी बुरा विचार कभी भी नहीं करता है। सच्चरित्रता वृक्ष हो और उसकी छाया न हो तो उसका होना बेकार है। नदी में यदि जल न हो तो वह नदी भी सिर्फ नाम मात्र के लिये है। उसी प्रकार मनुष्य में अगर सच्चरित्रता नहीं तो उस मनुष्य का भी जीवन निःसार ही होता है। चरित्रहीन मानव का जीवन सुगंधहीन फूल जैसा है।

मकान का पाया बहुत गहरा हो, दीवारें चोड़ी और सङ्गीन हों, रङ्ग रोगन भी अच्छी तरह से किया हुआ हो और सभी बातें तथा रीति ठीक हो, परन्तु ऊपर में यदि छत नहीं हो तो सभी बेकार। वैसे सदाचार के बिना मनुष्य में बलवीर्यादि सभी बातें होकर भी निकम्मी ही होती है। देखो रावण बहुत पराक्रमी था। उसके शारीरिक बल के आगे सभी कायल थे। फिर भी वह आज निन्दा का पात्र बना हुआ है। हम देख रहे हैं कि हर एक आदमी अपने लड़के का नाम राम तो बड़ी खुशी के साथ रख लेता है, किंतु रावण का नाम भी सुनना पसन्द नहीं करता, सो क्यों? इस पर सोच कर देखा जावे तो एक ही कारण प्रतीत होता है कि रावण के जीवन में दुराचार की बदबू ने घर कर लिया था। जिससे कि रामचन्द्रजी हजारों कोस दूर थे, किन्तु सदाचार को अपने हृदय का हार बनाये हुये थे। यही बात है कि सारी दुनियां आज श्रीरामचंद्रजी

का नाम लेकर अपने को गौरवान्वित समझती है। हम भी यदि अपने जीवन को सार्थक वनाना चाहते हैं तो हमें चाहिये कि हम भी अपने अन्तरङ्ग में सदाचार को स्थान दे।

सहानुभूति

दृष्टिपथ में आने वाले शरीरधारियों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। (१) मनुष्य (२) पशु पक्षी। इनमें से पशु पक्षी वर्ग की अपेक्षा से आम तौर पर मनुष्यवर्ग अच्छा समझा जाता है, सो क्यों? उसमें कौनसा अच्छापन है? यही यहाँ देखना है। खाना, पीना, नींदलेना, डरना डराना और परिश्रम करना आदि बातें जैसी मनुष्य में हैं वैसी ही पशु पक्षियों में भी पाई जाती है। फिर ऐसी कौनसी वात है कि जिससे मनुष्य को पशु पक्षियों से अच्छा समझा जाता है।

वात यह है कि मनुष्यमें सहानुभूति होती है, जिसका कि पशु-पक्षियों में अभाव होता है। पशु को जव भूख लगती है तो खाना चाहता है और खाना मिलने पर पेट भर खा लेता है। उसे अपने पेट भरने से काम रहता है। और उसे अपने साथियोंका कुछ फिकर नहीं होता। उसकी निगाह में उसका कोई साथी ही नहीं होता जिसकी कि वह अपने विचार में कुछ भी अपेक्षा रक्खे। मनुष्य का स्वभाव इससे कुछ भिन्न प्रकार का होता है। वह अपनी तरह से अपने साथी की भी परवाह करना जानता है। यदि खाना मिलता है तो अपने साथी को खिला कर खाना चाहता है। वस्त्र भी मिलता है तो साथीको पहनाकर फिर आप पहिनना ठीक समझता है।

आप भले ही थोड़ी देर के लिए भूखा प्यासा रह सकता है परन्तु अपने साथी को भूखा प्यासा रखना या रहने देना इसके लिये अनहोनी बात है। बस इसी का नाम सहानुभूति है। जिसके कि बल पर मनुष्य सबका प्यारा और आदरणीय समझा जाता है। हां, यदि मनुष्य में सहानुभूति न हो तो फिर वह पशु से भी भयंकर बन जाता है। क्रूर से क्रूर सिंह भी प्रजा में इतना विपल्व नहीं मचा सकता जितना कि सहानुभूति से शून्य होने पर एक मनुष्य कर जाता है। सिंह तो क्रूरता में आकर दो चार प्राणियों का ही संहार करता है किन्तु मनुष्य जब सहानुभूति को त्याग कर एकान्त स्वार्थ बन जाता है तो वह सैकड़ों, हजारों आदमियोंका संहार कर डालता है। कपट वचन के द्वारा लोगों को धोके में डालकर बरबाद कर देता है। लोगों की प्राणों से प्यारी जीवन निर्वाह योग्य सामग्री को भी लूटखसोट कर उन्हें दुःखी बनाता है। मनचलेपन में आकर कुलीन महिलाओं पर बलात्कार करके उनके शीलरत्न का अपहरण करता है। भूतलभर पर होने वाले खाद्य पदार्थ वगैहर पर अपना ही अधिकार जमाकर सम्पूर्ण प्रजा को कष्ट में डाल देता है।

हिंसा का स्पष्टीकरण

इस जीवको मारदूं, पीटदूं, या यह मरजावे, पिट जावे, दुःख पावे इस प्रकार के विचार का नामभाव हिंसा है और अपने इस विचार को कार्यान्वित करने के लिये किसी भी तरह की चेष्टा करना द्रव्यहिंसा है। भावहिंसा पूर्वक ही द्रव्यहिंसा होती है। विनाभाव हिंसा के द्रव्यहिंसा नहीं होती और जहां भावहिंसा होती है वहां द्रव्यहिंसा

यदि न भी होतो वह हिंसक या हत्यारा हो रहता है। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि एक शस्त्र चिकित्सक है डाक्टर है और वह किसी घाव वाले रोगी को बहाल करने के लिए उसके घाव को चीरता है। घाव के चीरने में वह रोगी मर जाता है तो वहाँ डाक्टर हिंसक नहीं होता। परन्तु पारधी शिकार खेलने के विचार को लेकर जंगल में जाता है और वहां उसकी निगाह में कोई भी पशु पक्षी नहीं आता। लाचार होकर उसे योंहि अपने घर को वापिस लौटना पड़ता है। फिर भी वह हिंसक है, हत्यारा है; भले ही उसने किसी भी जीव को मारा नहीं है, फिर भी वह हिंसा से बचा हुआ नहीं है। क्योंकि प्राणियों को मारने के विचार को लिये हुये है। ऐसा हमारे महर्षियों का कहना है।

इसी को स्पष्ट समझने के लिये हमारे यहां एक कथा है कि स्वयंभूरमण समुद्र में एक राघवमच्छ है, जो बहुत बड़ा है। वह जितनी मछलियों को खाता है खा लेता है और पेट भर जानेके बाद भी मुंह में अनेकों मछलियाँ जाती हैं और वापिस निकलती रहती हैं उन मछलियों को जीवित निकली देख कर उस मच्छ की आंखों पर एक तन्दुल मच्छ होता है। वह सोचता है कि यह मच्छ बड़ा मूर्ख है जो इन मछलियों को जीवित ही छोड़ देता है। और यदि मैं इस जैसा होता तो सबको हड़प जाता। बस इसी दुर्भाव की वजह से वह मर कर घोर नरक में जा पड़ता है।

कोई भी अपने विचारों से ही भला या बुरा बनता है

"परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्य पापयोः प्राज्ञाः" ऐसा श्री पुरषार्थ सिद्ध्युपाय में कहा गया हुआ है। यानि मनुष्य जैसे अच्छे या बुरे विचार करता है वैसा स्वयं बन रहता है, यह निःसंदेह बात है। विचार मनुष्य का सूक्ष्म जीवन है तो कार्यकरण उसका स्थूल रूप। मनुष्य का मन एक समुद्र सरीखा है, जिसमें कि विचार की तरंगें निरन्तर चलती रहती हैं। पूर्व क्षणमें कोई एक विचार होता है तो उत्तर क्षण में कोई और दूसरा। जैसे किसी को देखते ही विचारता है कि मैं इसे मार डालूं परन्तु उत्तर क्षण में विचार सकता है कि अरे मैं इसे क्यों मारूं इसने मेरा क्या बिगाड़ किया है। यह अपने रास्ते है तो मैं अपने रास्ते इत्यादि। हां जबकि यह बुरा है, काला है, देखने में भद्दा है मेरे सामने क्यों आया! यह मारा जाना चाहिये। ऐसी अनेक क्षण स्थायी एकसी विचारधारा बन रहती है। तब उसी के अनुसार बाह्य चेष्टा भी होने लगती है। आंखें लाल हो जाती हैं, शरीर कॉपने लगता है। वचन से कहता है इसे मारो, पकड़ो, भागने न पावे एवं स्वयं उसे मारने में प्रवृत होता है तो आम लोग कहने लगते हैं कि यह हिंसक है, हत्यारा है, इस बेचारे रास्ते चलते को मारने लग रहा है।

हां, यदि कहीं वही चित्त कोमलता के सम्मुख हुआ तो उपर्युक्त विचारों के बदले में वहाँ इस प्रकार के विचार हो सकते है कि अहो देखो यह कैसा गरीब है, जिसके कि पास खानेको अन्न

और पहनने को कपड़ा भी नहीं है जिससे कि इसकी यह दयनीय दशा हो रही है। मैंने तो अभी खाया है, ये रोटियां बची हुई हैं इसे दे देता हूं ताकि यह खाकर पानी पीले। तथा मेरे पास अनेक धोती और कुरते हैं उनमें से एक एक इसे दे दूं, सो पहन ले तो अच्छा ही है। एवं मैंने तो नया खांचा बना ही लिया है। वह पुराणा खॉचा जो पड़ा है सो इसे देदूं। पानी की बाढ आ जाने से सड़क पर गढे पड़ गये हैं, जिससे आने जाने वालों को कष्ट होता देख कर सरकार की तरफ से उसकी मरम्मत का काम चालू है जहाँकि काम करने को मैं जाया करता हूं वहॉ इसे भी ले चलूं, ताकि यह भी धन्धे पर लग जावे तो ठीक ही है। यद्यपि इन विचारों को कार्यान्वित करने में प्रासङ्गिक प्राणी वध होना संभव ही नहीं वल्कि अवश्यंभावी है फिर भी ऐसा करने वाला हिंसक नहीं किन्तु दयालु है। क्योंकि वह अपने कर्तव्य का पालन कर रहा है। अपने से होने योग्य, एक गरीब भाई की मदद कर रहा है। उसके कष्ट को दूर करने में समुचित सहयोग दे रहा है। प्राणी वध तो उसके ऐसा करने में होता है सो होता है वह क्या करे? वह उसका जुम्मेवार नहीं है। मनुष्य अपने करने योग्य कार्य करे। उसमें भी जो जीव वध हो उसके द्वारा भी यदि हिंसक माना जावे तव तो फिर कोई भी अहिंसक हो ही नहीं सकता। क्योंकि आहार, निहार और विहार जैसी क्रिया तो जब तक छद्मस्थ अवस्था रहती है तव तक साधु महात्मा लोगों को भी करनी ही पड़ती है। जिसमें जीव वध हुए बिना नहीं रहता अतः यही मानना पड़ता है कि जहॉ जिसके विचार जीव मारने के हैं, वहीं वह हिंसक, हत्यारा या पापी

है, किन्तु जिसके विचार किसी को मारने के नहीं हैं और उसके समुचित आवश्यक कार्य करने में कोई जीव यदि मर भी जाता है तो वह हिंसक नहीं है।

अहिंसा की आवश्यकता

जैसे पापों में सबसे मुख्य हिंसा है वैसे ही धर्माचरणों में सबसे पहला नम्बर अहिंसा का है। जिस किसी को दिल में हिंसा से परहेज या अहिंसा भाव नहीं है तो समझ लेना चाहिये कि वहां सदाचार का नामोनिशान भी नहीं है। अहिंसा का सीधा सा अर्थ है किसी भी प्राणीका वध नहीं करना। जीना सबको प्रिय है, मरना कोई नहीं चाहता। अतः अहिंसा कम से कम अपने आपके लिये सबको अभीष्ट है। जो खुद अहिंसा को पसंद करे परन्तु औरों के लिये हिंसामय प्रयोग करे उसे प्रकृति मन्जूर नहीं करती, रुष्ट हो रहती है। जिससे कि विप्लव मचता है जैसा कि प्रायः आजकल देखने में आ रहा है। आज का अधिकांश मानव स्वार्थ के वश होकर दूसरों को बरबाद करने की ही सोचता रहता है। किसी ने तो टेलीफोन का उद्घाटन करके हलकारे की रोजी पर कुठाराघात किया है तो कोई खरादि के पुतलों द्वारा लिखा पढ़ी का काम लेना बता कर क्लर्क लोगों की आजीविका का मूलोच्छेद करने जा रहा है। किसी ने कुक्कुर चुल्ला खड़ा करके अपने आप खाना बनाना बता कर पूंजीवादियों की पीठ ठोकते हुए, बिचारे खाना बनाने वाले रसोईदारों को बेकार बनाने पर कमर कस ली है। इसी प्रकार रोज एक से एक नई तजवीज खड़ी की जा रही है। जिनसे गरीबों

के धन्धे छिनते जा रहे हैं और धनवान लोग फैसनबाज, आराम-तलव एवं लापरवाह होते जा रहे हैं।

वन्धुओ ! जरा आप ही सोच कर कहिये कि उपर्युक्त बातोंका और फिर फल ही क्या होता है ? किसलिये ऐसा किया जाता है या होता है ? क्या काम करने वाले लोगों की कमी है ? क़िन्तु नहीं। क्योंकि किसी प्रकार के काम करने वाले की वावत आप आवश्यकता निकाल कर देखिये कि आपके पास एक नहीं बल्कि पचासों प्रार्थना-पत्र आ पहुंचेंगे कि आपके यहां अमुक कार्य करने में आ रहा हूं। सिर्फ आपकी आज्ञा आ जानी चाहिये इत्यादि । हां, यह जरूर कहा जा सकता है कि नये २ आविष्कारों को जन्म दिये विना आविष्कारों की तरक्की नहीं हो सकती, परन्तु वह विज्ञान भी किस काम का जो समाज को भूखों मारने का कारण बन कर घातक सिद्ध हो रहा हो। वह जंगली जीवन भी अच्छा जहॉ कि कम से कम और भी कुछ नहीं तो फल फूल तो खाने को मिल जावे तथा वृक्षों के पत्ते तन ढांकने को मिल जावें। वह महलों का निवास किस काम का जहां पर चकाचौंध में डालने वाले अनेक प्रकार के दृश्य होकर भी भूखे के लिये पानी नदारत हो बल्कि अपना खाना लेजा कर भी खाया जाता हो तो महल मैला हो जाने के भय से छीन कर फैंक दिया जावे। मेरी समझ में आज का विज्ञान भी ऐसा ही है जो हमें अनेक प्रकार की आश्चर्यकारी चीजें तो अवश्य देता है, परन्तु इसने आम जनता की रोटियां छीन ली हैं और छीनता ही जा रहा है। कहीं राकेट बना कर उड़ाने में समय खोया जा रहा है तो कहीं अणुबम के परीक्षण में जनता के

धन और जीवन को बरबाद किया जा रहा है। सुना है कि एक अणुबम को तैयार करने में सतरह अरब रुपया खर्च होता है। जिसका कि निर्माण जन-संहार के लिये होता है। द्वितीय महायुद्ध के समय अमेरिका ने जापान पर अणुबम का प्रयोग किया था। जिसकी सताई हुई जनता आज तक भी नहीं पनप पाई है। अभी अभी परीक्षण के हेतु एक बम समुद्र में डाला गया जिससे ऋतु विपरीत्य होकर कितनी बरबादी हो रही है यह पाठकों के समक्ष में है।

मतलब यह है कि विज्ञान के साथ २ अगर अहिंसा की भावना भी बढती रहे तब तो विज्ञान गुणकारी हो किन्तु आज तो परस्पर विद्वेषभाव अंकार आदि की बढवारी होती जा रही है अतः विज्ञान तरक्की पर होकर भी घातक होता जा रहा है।

अहिंसा के दो पहलू और उसकी सार्थकता

किसी को नहीं मारना चाहिये या कष्ट नहीं देना यह अहिंसा का एक पहलू है तो दूसरा पहलू है कि किसी भी कष्ट में पड़े हुये के निवारण करने का यथाशक्य प्रयत्न करना ये दोनों ही बातें साधक में एक साथ होना चाहिये तभी वह अहिंसक बन सकता है। अधिकांश देखने में आता है कि आज की दुनियां के लोग कीड़ी-मकोड़े सरीखोंको भी मारनेमें तो पाप समझते हैं सो तो ठीक ही है परन्तु किसके साथ में कैसा व्यवहार करना चाहिये। मेरे इस बर्ताव से सामने वाला बन्धु निराकुल होने के बदले कहीं उलटा कष्ट से तो नहीं घिर जावेगा इस बातका विचार बहुत कम होता है। इसी से

हरेक देश, हरेक समाज, हरेक जाति और हरेक घर नरक जैसा बनता चला जारहा है। प्रायः हरेक आदमी का यही रवैया हो लिया है कि दूसरे आदमी काम खूब करें और खाना बहुतकम खावे बल्कि न खावें तो और भी अच्छा, किन्तु मुझे काम बहुत कम करना पड़े और खाने को मनचाहा खूब मिले। बस इसी हिंसामय दुर्विचार से ईर्षा और द्वेष की आग दधक रही है जिसमें सारा ही विश्वझुलसा जारहा है। परस्पर प्रेम का भाव हम लोगों के दिल में से उठता जा रहा है। जो कि प्रेम अहिंसा का संजीवन माना गया हुआ है। जबकि किसी के प्रति हार्दिक प्रेम भावना होती है तो अपने आप यह विचार आने लगता है कि इसे कहीं परिश्रम न करना पड़े। मैं ही मेरे अथक परिश्रम से कार्य को सम्पन्न करलूं और उसका फल हम दोनोंमिल कर भोगे। इस प्रकार प्रेमरूप अमृत स्त्रोत से ही अहिंसा रूप वल्ली पल्लवित होती है।

पुराने समय की बात

एक शाहीघराना था। सेठ सेठानी प्रौढ अवस्था पर थे। जिन के पांच लड़के और सबसे छोटी लड़की थी। बड़े चारों लड़कों की शादियां होकर उनके बाल बच्चे भी हो लिये थे। छोटे लड़के की भी शादी तो होली थी मगर बहू अभी अपने पिता के यहां ही थी। यहां घर पर एक कन्या, चार बहूये और एक सास इस प्रकार छः औरतें थी जो सब मिलजुल कर घर का कार्य चलाना चाहती तो अच्छी तरह से चला सकती थी परन्तु परस्पर प्रेम का अभाव होने से तेरे मेरे में ही उनका अधिकांश समय बरबाद हो जाता था

एक सोचती थी कि मुझे काम कम करना पड़े और आराम विशेष मिले तो दूसरी सोचती थी कि मैं ही काम क्यों करूं ! इस तरह से कलह का साम्राज्य होगया था। इसी बीच में छोटी बहू माय के से आई जोकि एकशिक्षित घराने की लड़की थी। उसने बालकपन में अच्छी शिक्षा पाई थी भले संस्कारों में पली थी ! वह जब आई और घरका वातावरण दूषित देखा तो घबरा गई। वह क्या देखती है कि सास और जेठानियां बिना कुछ बात पर आपस में लड़ रही हैं। यह देखकर वह रोपड़ी और मन ही मन सोचने लगी कि हे भगवान क्या मेंरे भाग्य में यही सिनेमा देखने को बदा है ? मै यहां किस तरह से अपनी जिन्दगी बिता सकूंगीं ? यों रोते २ वह थक गई और बेहोस सी होगई। आवाज आई कि उठ सावधान हो, लोहे को कन्चन बनाने के लिये पारस के समान तेरा समागम इस घर को सुधारने के लिये ही तो हुआ है।

अपनी भलाई ही है औरों के सुधारने के लिये

उसने सोचा यहां पर मुख्य लड़ाई काम करने की है। इन्हें इनके विचारानुसार काम करने में कष्टका अनुभव होता है। ये सब अपने को आलसी बनाये रखने में ही सुखी हुआ समझती हैं ! यदि घर के धन्धों को मैं मेरे हाथ से करने लगजाऊं तो अच्छा हो, मेरा शरीर भी चुस्त रहे और इन लोगों का आपस का झगड़ा भी मिट जाये, एकतीर्थ और दो काज वाली बात है। अब एक रोज जबकिं सब जनियां भोजनपानरे अनन्तर आकर एक जगह बैठी तो सुशिक्षिता ने कहा कि सासू जी और जीजीबाइयो सुनो मेरे रहते हुये आप

लोग काम करो यह मेरे लिये शोभा की बात नहीं, अपितु मैं इसमें अपनी हानि और अपमान ही समझती हूँ। यहाँ कोई विशेष काम भी नहीं है और मेरा अभ्यास कुछ ऐसा ही है कि काम करने में ही मुझे आनन्द मालूम होता है। अतः कल से घर का रसोई पानी का काम मैं ही कर लिया करूं, ऐसी आज्ञा चाहती हूं। इस पर बड़ी जेठानी बोली कि कंवराणीजी! अभी तो आपके खाने पीने और विनोद कर विताने के दिन हैं, फिर तो तुम्हें ही सब कुछ करना पड़ेगा ताकि करते करते थक भी जाओगी। सुशिक्षिता नम्रता के साथ कहने लगी कि जीजी मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ मुझे निराश मत करो, मेरे तो यही काम करने के दिन हैं। अभी से करने लगूंगी तो कुछ दिनों में आप लोगों का शुभाशीर्वाद से आगे को काम करने लायक रहूंगी। अन्यथा तो मैं आलसी बन रहूंगी, ताकि फिर भविष्य में कुछ भी न कर सकूंगी। यथाशक्ति घर का काम करना मेरा कर्तव्य है। अतः दया कीजिये और मुझसे काम लीजिये। हाँ, यह अवश्य हो कि मै कहीं भूल रहूं तो बताते तथा होशियार अवश्य करते रहिये।

अब वह रोज सवेरे उठती और नहा धोकर भगवद्भजन करके भोजन बनाने में लग रहती थी। अनेक तरह का सरस, स्वादिष्ट भोजन थोड़ी सी देर में तैयार कर लेती और सबको भोजन करवा कर बाद में आप भोजन किया करती थी। यदि कभी कोई पाहुणा आ गया और असमय में भी भोजन बनाना पड़ा तो बड़े उत्साह के साथ वही भोजन बनाया करती थी।

यह देख कर सास ने एक दिन आश्चर्य पूर्वक पूछा कि बहू!

तू ऐसा क्यों करती है ? सब काम तू अकेली ही क्यों किया करती है ? तब सुशिक्षिता बोली कि सासू जी ! आप यह क्या कह रही हैं ? काम करने से कोई दुबला थोड़े ही हो जाता है। होता काम करने से तो प्रत्युत्त शरीर स्वस्थ रहता है। यह तो मेरे घर का कार्य है मुझे करना ही चाहिये। कोई भी अपना काम करे इसमें तो बड़ाई ही क्या है ? मनुष्यता तो इसमें है कि अपने घर का काम सावधानता से निवटा कर फिर पड़ोसी के भी काम में हाथ बटाया जावे। यह शरीर तो एक रोज मिट्टी में मिल जावेगा। हो सके तो जहाँ तक इसको दूसरों की सेवा में लगा देना ही ठीक है।

सुशिक्षिता की जेठानियां भी यह सब बात सुन रही थी अतः वे सब सोचने लगी कि देखो हम लोग कितनी भूल रही हैं। पड़ोसिन के कार्य में हाथ बटाना तो दूर किनार रहा हम लोग तो अपने घर के कार्यों को भी इसी के ऊपर छोड़ कर वेखवर हो रही हैं जैसा ही इस घर में होने वाला कार्य इसका इस्से पहिले हमारा भी तो है फिर हम लोगों को क्यों न करना चाहिये, क्यों जी चुराना चाहिये ? बस अब सभी अपना २ कार्य स्वयं करने लगी।

कोई किसी से जैसा कराना चाहे वैसा खुद करे

सुशिक्षिता ने देखा कि अब मेरे जुम्मे कोई खास काम नहीं रहा है तो एक दिन वह चक्की तो घर में थी ही कुछ गेहूं लेकर पीसने बैठ गई। उसे ऐसा करते देख कर सासू आई और बोली कि बहू आज यह क्या कर रही है ? क्या पनचक्की दुनियां से उठ गई ? ताकि तू गेहूँ लेकर पीसने को बैठी है ? इस पर सुक्षिशिता

बोली कि सासू जी आप या जेठानियां और तो कुछ करने नहीं देती, खुद करने लग गई हैं तो फिर मैं क्या करूं ? काम न करने से शरीर आलसी बन जाता है। दिन भर निठल्ला बैठे रहने से मनमें अनेक प्रकार के खोटे विचार आते हैं। पीसने से कसरत भी कुछ सहज ही बन जाती हैं ताकि शरीर और मन दोनों प्रसन्न हो रहते हैं। इसके अलावा पनचक्की का आटा खाने से धार्मिक और आर्थिक हानि के साथ साथ शारीरिक स्वास्थ्य भी बिगड़ता है इस लिये मैंने ऐसा करना ठीक समझा है।

सुशिक्षिता को ऐसा करती हुई सुन कर उसकी जेठानियों को तमासा सा लगा अतः एक एक करके वे सब भी उसके पास में आ खड़ी हुई और देखने लगी। एक ने देखा कि यह तो बड़ी ही आसानी से चक्की को घुमा रही है एवं एक प्रकार का आनन्द का अनुभव कर रही है जरा मैं भी इसे घुमा कर क्यों न देखूं ? ऐसे मन से उसके साथमें आटा पीसनेको बैठी और थोड़ी देर बाद बोली कि ओह, यह तो बहुत अच्छी बात है। यद्यपि थोड़ा परि-श्रम तो इसमें होता है। सो तो हिंडोले पर हींडने में भी होता है, जो कि मनोविनोद के लिये किया जाया करता है। इसमें तो विनोद का विनोद और काम का काम तथा शरीर बिल्कुल फूल जैसा ही हलका बन जाता है। मैं भी रोजमर्रा थोड़ा बहुत पीसा करूंगी। फिर क्या था, फिर तो क्रम क्रम से सभी पीसने लगी।

सुशिक्षिताने फिर फुरसत पाई कि हाथ में बुहारी लेकर घर का कूड़ा कचरा साफ किया और फिर घड़ा लेकर कूंवे पर पानी भरने को जाने लगी तो सासू ने प्रेम से कहा बेटी यह क्या करती

है ? घर पर तो नौकर बहुत हैं, उनसे काम कराओ ! जवाब में सुशिक्षिता ने कहा माता जी ? कोई व्यक्ति आप बैठा रहकर नौकरों से काम ले, मैं इसे अच्छा नहीं समझती क्योंकि क्या उसके खुद के हाथ पैर नहीं हैं ? अगर हैं तो ऐसा क्यों होना चाहिये ऐसा करना तो मेरी समझ में उन नौकरों के साथ में दुर्व्यहार करना है ! नौकर भी तो समझदार के लिये उसके भाई-बन्धु स्थानीय ही होते हैं । उन्हें तो इसलिये रक्खा जाता है कि समय पर मनुष्य से खुद से काम पूरा न किया जा सकता हो या जिस २ कामको वह नहीं कर जानता हो वह काम प्रेम-पूर्वक उनसे लेता रहे । कार्य करने से मनुष्य की प्रतिष्ठा कम नहीं होती प्रत्युत बढ़ती है । प्रतिष्ठा के कम होने का तो कारण है तो स्वार्थ-परायणता या विलासिता है । सुशिक्षिता की ऐसी ज्ञान भरी बात सुनकर सेठानी को बड़ी प्रसन्नता हुई । वह मन में सोचने लगी कि अहो देखो इसके कितने ऊंचे विचार हैं । यह साक्षात भलाई की मूर्ति ही प्रतीत होती है जिसकी कि वजह से आज मेरे इस घर में शान्ति का साम्राज्य होगया हुआ है जहां पर कि इससे पूर्व में कलह का आतङ्क छाया हुआ था । अब एक रोज सेठानी बाजार से मंगवा कर सब बहूवों को उनके साल भरके खर्चके योग्य छः २ जोड़ा साड़ियों के दिये तो । सुशिक्षिता ने अपने उन जोड़ों में से एक जोड़ा लेकर, हे जीजी मेरे पास पहले ही से बहुत सी साड़ियां मेरी पेटी में धरी रक्खी हैं काम में नहीं आती तो मैं अब इनका क्या करूंगी ? अतः यह एक साड़ी जोड़ा आप ही ग्रहण करें, ऐसा कहते हुए बड़ी जेठानी को भेंट किया एवं एक एक जोड़ा और जेठानियों को दिया तथा ननद

को भी एक जोड़ा दे दिया जिससे वे सब बड़ी प्रसन्न हुई।

इधर सेठानी को यह बात मालूम हुई और इसने पूछा कि बहू यह क्या किया ? तो सुशिक्षिता बोली कि सासूजी आपही देखती हैं कि मै तो मेरे हाथ के कते हुए सूतसे खुद ही बुनकर तैयार कर लेती हूं उस साड़ी को पहनती हूँ जो कि साल भर में दो साड़ियां ही मेरे लिये पर्याप्त होती हैं किन्तु मैं साल भर में छः सात साड़ियां तैयार कर लेती हूं। जो कि मेरे पास सन्दूक में भरी रक्खी है। मैं तो उनमें से भी इनको देना चाहती हूं, परन्तु ये जीजी बाइयाँ भले घरानों की हैं। इन्हें ऐसी मोटी साड़ियां पसन्द नहीं आती। आज आपने ये बेशकीमती साड़ियां मंगवाकर हम सबको पारितोषिक रूप में दी तो आपका हाथ पाछा गिराना तो मैंने उचित नहीं समझा। किन्तु मैं व्यर्थ ही इनका संग्रह करके क्या करती ? अतः एक एक जोड़ा इनको मैंने दे दिया। अब यह एक जोड़ा और शेष है इसको भी अगर आप अपने लिये रखलें तो बहुत अच्छा हो। आपके काम में आ जावेगा, वरना मेरे पास तो व्यर्थ ही पड़ा रहेगा। मै तो मेरी हाथ की बुनी हुई साड़ियोंमें से भी कभी किसी नोकरानी को तो कभी किसी गरीब बहिन को दे दिया करती हूं। संग्रहवृत्तियां फैसनबाजी को मै मेरे लिये अच्छा नहीं समझती। वस्त्रादि चीजों को संग्रह कर रखने में मन उन्हीं वस्तुओं में चिपका रहता है। मोह उत्पन्न होता है। जो बहिनें नित्य नई पोसाकें बदलना जानती है वे सब अपने पतीदेवों को व्यर्थ की परेशानी में डालने का काम करती हैं। क्योंकि अन्याय अनर्थ का न होता कार्य करके भी धन कमा लाकर उनकी हवस पूरी करने की ही चिन्ता

रहती है। जो कि एक बड़ी भारी हिंसा जिसका उत्तरदायित्व उन मेरी फैशनबाज बहनों के जुम्मे होता है, जिन्हें कि शोभा का प्रलोभन होता है। परन्तु उन्हें सोचना चाहिये कि शोभा तो गहनों और कपड़ों से न होकर समुचित निःस्वार्थ सेवा और परोपकार आदि सद्गुणों द्वारा होगी। इस प्रकार सुन कर सेठानी ने कहा कि बहू तेरा कहना बहुत ठीक है। आज से मैं तो यह प्रतिज्ञा करती हूं कि तेरे हाथ के बने हुए कपड़ों को ही पहिना करूंगी। एवं सादगी से अपना जीवन विताऊंगी।

अहिंसा अव्यवहार्य नहीं है

किसी को भी मारना हिंसा है, न कि मरना। क्योंकि मरना तो कभी न कभी शरीरधारी को पड़ता ही है। हां अपने आप जान बूझ कर, पर्वत से पड़ कर, कूप में पड़ कर, तलवार खाकर या विष भक्षण कर मरना वह मरना नहीं है, किन्तु अपने आपको मारना है। जैसे दूसरेको मारना हिसा है वैसे ही अपने आपको मारना भी हिंसा ही नहीं बल्कि घोर हिंसा है। जिसको आत्मघात बता कर महर्षियों ने उसकी घोर निन्दा की है। और जबकि मारने का नाम हिंसा है तो फिर हिंसा किये बिना निर्वाह नहीं हो सकता, यह विश्वास झूठा है। क्या किसी को मारे विना किसी का काम नहीं बन सकता ? नहीं, ऐसी बात नहीं है। हां कोई बहुत या थोड़ी हिंसा करता है तो कोई हिंसा किये बिना भी रह सकता है। बल्कि अहिंसा के बिना किसी का भी गुजर नहीं हो सकता। एक बड़े से बड़ा पारधी जिसने प्राणियों को मारना ही अपना काम

समझ रखा है वह भी कम से कम, अपनी उसकी पक्ष करने वाले को तो नहीं मारता है। अतः यह तो मानना ही होगा कि अहिंसा सब कोई की उपास्य देवता है।

हां यह कहा जा सकता है कि अपने शरीर का निर्वाह अपने आप करने वाला आदमी भले ही मॉस न खावे और खून या शराब पीये विना रह जावे परन्तु शाक सब्जी तो उसे खाना ही होगा और प्यास बुझाने के लिये स्वच्छ पानी भी पीना ही होगा। बस इसी लिये हमारे दीव्य ज्ञानी महर्पियों ने बतलाया है कि कौटाम्बिक जीवन वाले लोगों को स्थावर हिंसा करना आवश्यक है, उनके विना उनका निर्वाह नहीं हो सकता किन्तु त्रसअहिंसा तो उनको भी कभी नहीं करना चाहिये।

अहिंसा में अपवाद्

ऊपर में बताया गया हुआ है कि त्रसों की हिंसा कभी-नहीं करना चाहिये। फिर भी साधक के सम्मुख ऐसी विषम परिस्थिति कभी कभी आ उपस्थित होती है कि वह उसे हिंसा करने के लिये वाध्य करती है। मान लीजिये कि आप यात्रा को जा रहे हैं। एक कुलीन वहिन भी आपके भरोसे पर आपके साथ चल रही है। रास्ते में कोई लुटेरा आकर उस पर वलात्कार करना चाहता है। क्या आप उसे ऐसा करने देंगे? कभी नहीं। जहां तक हो सकेगा उसका हाथ भी उस वहन के नहीं लगने देने के लिए आप डट कर उस डाकू का मुकावला करेंगे और उसे मार लगावेंगे।

एक जच्चा है जिसके बच्चा होने वाला है। वहुत देर हो गई वह

वह परेशान हो रही है। बच्चा और किसी भी उपाय से बाहर नहीं आता है। तो फिर डाक्टर उस बच्चे को खण्ड खण्ड करके बाहर निकालता है। क्या करे लाचार है। बच्चे को मार कर भी जच्चा को बचाता है।

अपने जीवन में ऐसे और भी अनेकानेक प्रसङ्ग आ उपस्थित होते हैं जहां पर गृहस्थ को अपने अभिष्ट को बचाये रखने के लिये तद्विरोधी अनिष्ट का परिहार करना ही पड़ता है। इस पर आज हमें ऐतिहासिक घटना का स्मरण हो आता है। विश्वशान्ति के अग्रदूत श्री वर्द्धमान स्वामी नाम की पुस्तक जो कि श्री दिगम्बर दास जैन मुखत्यार सहारनपुर की लिखी हुई है। उसके तीसरे भाग में पृष्ठ ४२६ में लेखक लिखता है—

जैन वीरों की देशभक्ति

मुसलमानों ने गुजरात पर आक्रमण कर दिया। वहां के सेनापति आवूव्रती श्रावक थे। जोकि नित्य नियम-पूर्वक प्रतिक्रमण किया करते थे। शत्रुओं से लड़ते २ उनके प्रतिक्रमण का समय हो गया जिसके लिये उन्होंने एकान्त स्थान पर जाना चाहा। परन्तु मुसलमानों की जबरदस्त सेना के सामने अपनी मुट्ठी भर फौज के पांव उखड़ते देख कर राष्ट्रीय सेवा के कारण रणभूमि को छोड़ना उचित न जाना और दोनों हाथों में तलवार लिए होदे पर बैठे हुये बोलने लगे-जेमे जीवा विराहिया एगिन्दिया वावे इन्दिया वा इत्यादि जिसको सुन कर सेना के सरदार चौंक उठे कि देखो ये रणभूमि में भी जहां कि तलवारों की खनाखनी और मारो २ के

भयानक शब्दों के सिवाय कुछ सुनाई नही देता। वहां ऐकेन्द्रीय दो इन्द्रिय जीवों तक से क्षमा चाह रहे है। ये नरम नरम हलवा खाने वाले जैनी क्या वीरता दिखा सकते है। प्रतिक्रमण का समय समाप्त होने पर सेनापति ने शत्रुओं के सरदारको ललकारा कि ओ! इधर आ; हाथ में तलवार ले, खांडा संभाल। वीरता अपनी दिखा, होशकर मनकी निकाल। धर्म का पालन किया होतो धर्मकीशक्ति दिखा, वरना जान बचाकर फौरन यहां से भाग जा। इस पर शत्रुओं का सरदार उत्तर भी देने न पाया था कि जैन सेनापति आबू ने इस वीरता और योग्यतासे हमला किया कि शत्रुओं के छक्के छूटगये और मुसलमान सेनापति को मैदान छोड़कर भागना पड़ा। फिर क्या था ? गुजरात का बच्चा २ आबू की वीरता के गोत गाने लगा। उसको अभिनन्दन पत्र देते हुये रानी ने हंसी में कहा कि सेनापति! जब युद्धमे एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय जीवों तक से क्षमा मांगरहे थे तो हमारी फौंज घबरा उठी थी कि एकेन्द्रिय जीवसे क्षमा मांगने वाला पंचेन्द्रिय मनुष्य को युद्ध में कैसे मार सकेगा इस पर व्रतीश्रावक आबू ने उत्तर दिया कि महाराणी जी ? मेरे अहिसा व्रतका सम्बन्ध मेरी आत्मा के साथ है। एकेन्द्रिय दो इन्द्रिय जीवों तक को वाधा न पहुँचाने का जो नियम मैंने ले रखा है वह मेरे व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा से है। देश की सेवा अथवा राज्य की आज्ञा के लिये यदि मुझे युद्ध अथवा हिंसा करना पडे ता ऐसा करने में मै मेरा धर्म समझता हूँ क्योंकि मेरा यह शरीर राष्ट्रीय सम्पत्ति है। इसका उपयोग राष्ट्र की आज्ञा और आवश्यकता के अनुसार ही होना उचित है परन्तु आत्मा और मन मेरीनिजी सम्पत्ति है। इन दोनों को हिंसा भावसे अलग रखना मेरे अहिंसा व्रतका

लक्षण है। ठीक ही है ऐसा किये बिना गृहस्थों का निर्वाह नहीं हो सकता। गृहस्थ ही क्या कभी २ तो साधु महात्माओं तक को भी ऐसा करने के लिये वाध्य होना पड़ा है।

पद्मपुराण में एक जगह वर्णन आता है कि रावण पुष्पक विमान में बैठ कर आकाश मार्ग से कहीं जा रहा था। तो रास्ते में कैलाश पर्वत पर आकर उसका विमान रुक गया। मेरे विमानको किसनेरोक लिया। इस विचार से वह इधर उधर देखने लगा तो नीचे पर्वत पर बाली मुनि को तपस्या करते हुए पाया और विचार किया कि इन्हीं ने मेरे विमान को रोका है। अतः रोष में आकर सोचने लगा कि मैं मेरे इस अपमान का इनसे बदला लूंगा, पर्वत सहित इनको उठाकर समुद्र में डाल दूंगा। और जब वह अपने इस विचार को कार्य रूप में परिणत करने के लिए पहाड़ के मूल भाग में पहुँच गया तो महर्षि ने सोचा कि कहीं यदि यह सफल हो गया तो बड़ा अनर्थ हो जावेगा। भरत चक्रवर्ती के बनाये हुये बहुमूल्य और ऐतिहासिक जिनायतन भी नष्ट हो जावेंगे तथा पर्वत में निवास करने वाले पशु पक्षी भी मारे जावेंगे। एवं उन्होंने अपने पैर के अंगूठे से जरा दबा दिया तब रावण दब कर रोने लगा। तब मन्दोदरी ने आकर महर्षि से अपने पति की भिक्षा मांगी तो महर्षिने पैर को ढीला किया।

जैन कौन होता है ?

पक्षपातं जयतीति जिनः। यानि जो कोई भी महाशय यह तेरा है और यह मेरा, यह अच्छा है और यह बुरा। इस प्रकार के

विछिन्न भाव को अपने मन में से निकाल बाहर कर देता है एवं जो सदा सब तरफ सबको साथ एकसी माध्यमीक व्यापक दृष्टि से देखने लगता है वह जैन कहलाता है। यह दुनियांदारी का पामर प्राणी अनायास ही अपने शरीर और इन्द्रियों के सम्पोषण रूप स्वार्थ में संलग्न पाया जाताहै जो कि शरीर नश्वर है तथापि आत्मा अविनश्वर, किन्तु इसकी विचार धारा इस ओर नहीं जाती। यह तो अपनी मोटी वुद्धी से इस चलते फिरते शरीर को ही आत्मा समझे हुये है, अतः इसे विगड़ने न देकर चिरस्थाई बनाई रखने की सोचता है, एवं इसके इस काम में जो सहायता देने वाले हैं उन्हें अपने और अच्छे मान कर अपनाता है। किन्तु इससे विरुद्ध को पराये और वुरे समझकर उन्हे वरबाद करने में तत्पर है एवं संघर्ष का जन्मदाता वना हुआ है शान्ति से दूर है।

हां, मनुष्य अगर अपनी प्रज्ञा से काम ले तो इसकी समझ में आ सकता है कि शरीर और आत्मा भिन्न २ चीजें हैं, शरीर जड़ और नाशवान है तो मेरी आत्मा चैतन्य की धारक शाश्वत रहने वाली। एवं जैसी मेरी आत्मा है वैसी ही इन इतर शरीरधारियो की भी आत्मायें हैं, ऐसे विचार को लेकर फिर वह जिसमें किसी भी प्राणी को कष्ट हो ऐसी चेष्टा न करके ऐसी प्रक्रिया करता है जिस में कि प्राणीमात्र का हित सन्निहित है। यानि जो स्वार्थ से दूर रह कर पूर्णतया परमार्थ की सड़क पर आजाता है वही जिन कहलाता है, एवं इस प्रकार जिन वनने का हरेक मनुष्य को अधिकार है यदि वह उपर्युक्त रूप से आत्म साधना को स्वीकार करले। वस ऐसा जिसका विश्वास हो वह जैन होता है जोकि अहिंसा में रुचि रखने

वाला होता है; हिंसा से परहेज करता है।

अहिंसक के लिए विरोध का क्षेत्र

जो अहिंसक होता है वह स्वंय तो वीर वहादुर होता है। उसे किसी से भी किसी प्रकार का डर नहीं होता। परन्तु उसने जिन बुजदिलों या बालवृद्ध आदि लोगों की सम्भाल रखने का संकल्प ले रक्खा है, उन लोगों पर यदि कोई मनचला आदमी अनुचित आक्रमण करके गड़बड़ी मचाना चाहता है तो उसे सहन कर लेना उसके आत्मत्व से बाहर की बात हो जाती है। अतः वह उसे उस गड़बड़ी करने से रोकता है, कहता सुनता है। यदि कहने सुनने से मान जावे जब तो ठीक ही है और नहीं तो फिर बल प्रयोग द्वारा भी उसका उसे प्रतिवाद करना पड़ता है। इसीका नाम विरोध है। जो कि एक अहिंसक का कर्तव्य माना गया है। क्योंकि ऐसा न करने से अपने आश्रितों की रक्षा करने का और दूसरा कोई चारा नहीं होता।

इस विरोध करने में आक्रमणकारी का कुछ न कुछ विगाड़ अवश्य होता है जिसको कि लेकर विरोधक को हिंसक ठहराया जाया करता है। परन्तु वहाँ पर जितना भी विगाड़ होता है उसका उत्तर-दायित्व तो वह आक्रमक ही है। विरोधक तो अपने उन लोगों की रक्षा करने का प्रयत्न करता है, जिनकी रक्षा करने का उसने प्रण ले रक्खा है एवं समर्थ है।

राम और रावण

ये दोनों ही यद्यपि महाकुलोत्पन्न थे। महाशक्तिशाली थे। अनेक प्रकार के हथियारों को धारण करने वाले थे। फिर भी दोनों के कर्तव्य

कार्यमें बड़ा भारी अन्तर था। राम की शक्ति और उनके हथियारों का प्रयोग सदा परमार्थ परोपकार के लिए हुआ करता था। किन्तु रावण की सारी चेष्टायें स्वार्थ भरी थी क्योंकि राम समुचिताहयव-साथी दृढ़मना महापुरुष थे। किन्तु रावण दुरभिलापी था मन चलेपन को लिये हुये था। श्री रामचन्द्र जी की शक्ति और हथियारों का प्रयोग सदा विश्वकल्याण के लिये हुआ करता था। किन्तु रावण की सभी क्रियायें औरों की तो बात ही क्या अपने कुटुम्ब के लोगों के भी विरुद्ध उनको कष्ट देने वाली होकर सिर्फ उसकी स्वार्थान्धता को ही पनपाने वाली थी, इसमें अगर कोई कारण था तो एक उसका मनचलापन ही था।

कुलक्रम निश्चित नहीं है

कश्यपु के प्रल्हाद हो, अग्रसेन के कंश।
फिर कोई कैसा कहै, किसका कैसा वंश॥

चिरन्तन काल से चली आई हुई इस मनुष्य परम्परा में कोई आदमी सरल स्वभाव का होता है, किन्तु उसका लड़का बिल्कुल वक्र स्वभाव वाला दीख पड़ता है। और अज्ञानी बाप का लड़का अतिश्यातीक्षण बुद्धि वाला पाया जाता है। हिरण्यकश्यपु एकान्त है एवं समर्थ है
नास्तिक विचार वाला था किन्तु उसीका लड़का प्रल्हाद परम आस्तिक था। एवं महाराज उग्रसेन जोकि परम क्षत्रिय थे, प्रजा वत्सल थे उनका लड़का कंस उनके बिल्कुल विपरीत उग्र स्वभाव का धारक प्रजा को निष्कारण ही कष्ट देने वाला हुआ। ऐसी हालत में कौन आदमी कैसे मां बाप का लड़का है इसका निर्णय कैसे कियाजा

सकता है। यद्यपि मूंगों से मूंग ही पैदा होते हैं, फिर भी उन्हीं में कोई २ घोरड़ू भी पैदा होता है जोकि न तो सिझता है और न भीझता है। जिस खदान में पत्थर निकलते हैं उसी में कहीं कभी हीरा भी निकल आता है। यही कुलक्रम का हाल है।

एक भील का अटल संकल्प

महाभारत मे एक जगह आया है कि-वाण विद्या की कुशलता के बारे में द्रोणाचार्य की प्रसिद्धि सुन कर एक भील उनके पास आया और बोला कि प्रभो मुझे बाण विद्या सिखा देवें। द्रोणाचार्य ने जबाब दिया कि मै अपनी विद्या क्षत्रिय को ही सिखाया करता हूं यह मेरा प्रण है अतः मै तुझे सिखाने के लिए लाचार हूँ इस पर भील ने कहा प्रभो ! मेरा भी यह दृढ़ संकल्प है कि मै आपसे ही विद्या सीखूंगा ऐसा बोलकर चला गया और द्रोणाचार्य की मूर्ति बना कर उसके आगे बाण चलाना सिखने लगा। कुछ दिन में वह अर्जुन से भी अधिक प्रवीण होगया। एवं उसकी फलती हुए वाण विद्या की कीर्ती को सुना तो घूमते फिरते हुए द्रोणाचार्य एक रोज उसके पास आये और बोले कि भाई ? तुमने यह विद्या किस से सीखी। उत्तर में यह कहते हुए कि प्रभो ! मैने आपसे ही सिखी है। यह देखिये आपकी मूर्ति बनाकर रख छोड़ी है। द्रोणाचार्य के चरणों में गिर गया। द्रोणाचार्य बोले यदि ऐसा है तो इसकी दक्षिणा मुझे मिलनी चाहिए। जबाब मिला आप जो चाहें सो ही लीजिये द्रोणाचार्य बोले और कुछ नहीं सीर्फ अपने हाथ का अंगूठा दे दो ! भील ने झट अंगूठा काटकर दे दिया। द्रोणाचार्य हंसे और बोले कि भील अब

तुम बाण कैसे चलावोगे ? गुरू कृपा चाहिए, ऐसा कहते हुए भीलने पैर के अंगूठे से बाण चला दिया। द्रोणाचार्य ने उसकी पीठ ठोकते हुए कहा कि शावाश वेटे ? किन्तु किसी भी प्राणी कि हिंसा करने मे इस विद्या का दुरुपयोग मत करना। जवाब मीला कि प्रभो ! हिंसा करना तो कमीना पना है मै कमीना नहीं हूं इस पर, द्रोणाचार्य हंसे। उनके हंसने का मतलब भील समझ गया। अतः वह बोला कि प्रभो यद्यपि मैं एक वनचर का लड़का हूँ किन्तु में समझता हूं कि जन्म से कोई नीच और उच्च नहीं होता। जन्म तो सबका एक ही मार्ग से होता है। नीचता और उच्चता तो मनुष्यों के विचारों या कर्तव्यों पर निर्भर है। जो आदमी एकान्त स्वार्थपरता को अपना कर चोरी, चुगल खोरी जैसे दुष्कर्मों में फंसा रहता है वह मनुष्यता से दूर होने के कारण नीच बना रहता है। परन्तु जो मनुष्यता में समझता है वह इन दुर्गुणों से बिलकुल दूर रहकर परोपकार, सेवाभाव आदि सद्गुणों को अपनाता है। एवं उच्च बनता है। मै भी अपने आप को मनुष्य मानता हूं फिर आप ही कहें कि मै मनुष्यता को कैसे भूल सकता हूँ।

शस्त्र सन्धारण करते को भी आज हिंसा का कारण मानकर हेय समझा जाने लगा है। जो कि पूर्व जमाने में क्षत्रियता का भूषण होता हुआ चला आया है। पाषाण काल के अन्त में जब लोगों के लिए कृषि सम्पादन की आवश्यकता हुई तब दिव्य ज्ञानी भगवान ऋषभदेव ने उस की सुव्यवस्था के लिए मनुष्य मात्र को तीन भागों में विभक्त किया।

क्षत्रिय, २ वैश्य, ३ शुद्र । उनमें से वैश्यों के जुम्मे खेती करने का और उसमें उत्पन्न हुई चीजों को यहां पहुंचाने का काम सोंपा गया। शुद्रों को उन्होंने मनुष्यों के काम में आने योग्य बनाने का काम सोंपा गया और क्षत्रिय को उन सबकी रक्षा के लिए नियुक्त किया गया था। तब उन सबको उनके योग्य हथियार बनाकर दिये गये थे ताकि वे लोग आसानी से अपने २ कार्य को सुसम्पन्न कर सकें। जैसा किसान के लिए हल मूसल वगैरह। लौहार के लिए हथोड़ा घन वगैरह। खाती को बसोला, करोत वैगरह। हलवाई को भर कोंचा कडाही वगैरह। वैसे ही क्षत्रिय के लिए तलवार बन्दूक वैगरह दिये गये थे। जिनके द्वारा क्षत्रिय वर्ग अपने प्रजा संरक्षण रूप कार्य में कुशलता पूर्वक उत्तीर्ण हो रहे हैं। एवं वास्तव में वह हिंसा का नहीं बल्कि अहिंसा का पोषक ही ठहरता है यह बात दूसरी कि वह अगर किसी सांसी बॉवरिया आदि हिंसक व्यक्ति के हाथ में आ जावेगा तो अवश्य ही हिंसा में प्रयुक्त होगा। परन्तु वह उस हथियार का दोष नहीं वह तो उस व्यक्ति के मनचलेपन का फल है। हॉ, आज की जनता का अधिकांश यह हाल है कि वह क्षत्रियता से दूर होकर स्वार्थपरायणता की ओर ही बड़ी तेजी से दोड़ी चली जा रही है। इसलिए शस्त्र वृत्ती भी अनुपयोगी ही नहीं प्रत्युत घातक बनती जा रही है। जब कोई किसी भी शस्त्रधारी को देखता है तो भय के मारे थर २ कॉप उठता है क्योंकि उसके मन में यह शस्त्रधर घर है। सबल है : अतः मेरी रक्षा करोगे। ऐसा विचार न आकर इसके स्थान पर यही भाव उत्पन्न होता है। कि यह कहीं मुझे मार न डाले। क्यों कि आज जहां तहां बलीयानबलं ग्रसते बली

कहावत के अनुसार-जो भी बलवान है वह अपने उस बल का दुरुपयोग दुर्बलों को हड़पने में करता हुआ देखा जाता है। इसलिए हमारी सरकार को भी यह नियम बनाना पड़ा है कि जो कोई भी शस्त्र रखना चाहे वह शस्त्र धारण करने से पहले इस बात को प्रमाणित करदे कि मै उस शस्त्र के द्वारा संरक्षण का ही काम लूंगा, संहार करने का नहीं। एवं भले ही हमारी सरकार ने सर्वसाधारण को चुनौती दी है फिर भी मनचले आदमी समय पर अपनी काली करतूतों से बाज नहीं आते हैं।

अहिंसा की निरुक्ति

हिंसा के नाम का अभाव अहिंसा है। हनन हिंसा इस प्रकार हन धातुसे हिंसा सम्बन्ध निष्पन्न हुआ है जोकि हन धातु सकर्मक है। यानी किसी को भी मार देना, कष्ट पहुंचाना, सताना हिंसा है। परन्तु किसी भी अबोध बालक का पिता गल्ती करते हुए अपने उस बच्चे की उस गल्ती को सुधारने के लिए उसे डराता, धमकाता है और फिर भी नहीं मानने पर उसे मारता, पीटता है। अब शब्दार्थ के ऊपर ध्यान देने से पिता का यह काम हिंसा में आ जाता है। एवं यह हिंसक बनकर पापी ठहरता है। जो कि किसी भी प्रकार किसी को भी अभिष्ट नहीं है। अतः उस दुर्गण से बचने के लिए हमारे महापुरुषों ने इसमें एक विशेषता स्वीकार की है। वह यह की किसी को भी बरबाद कर देने की दृष्टि से उसे कष्ट दिया जावे तो वह हिंसा है। जैसा की उमास्वामी महाराज के प्रमत्त योगा त्प्राणं व्यपरों पण हिंसा इस सूत्र से सपष्ट है। मतलब यह है कि

जो कि उसके पालन पोषण का पूर्ण अधिकारी है। बालक के जीवन को निराकुल बनाने के लिए सतत प्रयत्नशील हुआ करता है। तो बालक जबकि अपने भोलेपन के कारण उसके जीवन को समुन्नत बनाने वाली भलाई की ओर बढ़कर प्रत्युत बुराइयों में फसने लगता है तब ऐसा करने से रोकने के लिए उसे डाट बताना पिता का कर्तव्य हो जाता है। इस प्रकार अपने कर्तव्य का निर्वाह करता हुआ पिता पुत्र का मारक नहीं किन्तु संजीवन सरक्षक होकर उसके द्वारा सदा के लिए समादरणीय होता है।

राजनीति और धर्मनीति

इन दोनों में परस्पर विरोध है। क्योंकि धर्म तो अहिंसा का पालन करने एवं उसे अन्ततक अक्षुण रूप निभावत लाने को कहते हैं। परन्तु राजाओं का काम अपने राज्य शाशन को बनाये रखना होता है। अतः उसके लिए येन केन रूपेण अपने पक्ष को प्रबल बनाते चले जाना और अपने विरोधियों को दमन करते रहना होता है। इसलिये राज्य सत्ता हिंसा पूर्ण पाप मय हुआ करती है ऐसा कुछ लोग समझ बैठे हैं। किन्तु विचार करने पर यह ठीक प्रतीत नहीं होता है क्योंकि कर्म जो कि विश्व के कल्याण की चीज है उसे अपने जीवन में उतारने का नाम नीति है। राजा प्रजा का पालक होता है। संपूर्ण प्रजा को पापपङ्क से बचाकर उसे धर्म के पथ पर समारूढ़ कर देना ही राजा का काम है। प्रजा में सभी तरह के लोग होते हैं। अत जो लोग अपने मनचले पन से उत्पथ की ओर जारहे हों उन्हें नियंत्रित करने केलिये विधान करना शिष्यों

का अनुग्रहण करना उन्हें सत्पथ की ओर बढने के लिये प्रोत्साहन देना और दुष्टों की दुष्टता को निकाल कर शिष्टता के सन्मुख होने को उन्हें बाध्य करना यह राजनीति है। इसलिये यह धर्म से विरुद्ध कैसे कही जा सकती है ? यह तो धर्मको प्रोत्साहन देने वाली है। हां इसमें, इतनी बात अवश्य है कि धर्म तत्व सदा अटल है। परन्तु नीति तत्वों में देश, काल की परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। फिर भी उस संविधान का कलेवर जितना भी हो वह सारा का सारा ही जन समाज के हितको लक्ष्य में लेकर किया हुआ होना चाहिये उसका एक भी विधेयक ऐसा नहीं जोकि किसी के भी व्यक्ति गत स्वार्थ को लेकर रचा गया हो।

हिंसा के रूपान्तर

चीन देश में बौद्धों का निवास है उन लोगोंको विश्वास है कि किसी भी प्राणी को मारकर नहीं खाना चाहिये। मुरदा मांसके खाने में कोई दोप नहीं है। वहां ऐसी प्रवृत्ति चल पड़ी है। कि जिस बकरे वगैरह को खाने की जिसकी दृष्टि होती है वह उसको मकान मे ढकेल कर कपाट बन्द करदेता है और दो चार दिन में तड़फड़ा करके जब वह मर जाता है तो उसे खा लिया जाता है। कहने को कहा जाता है कि मैंने इसे मारा है थोड़े ही, यह तो अपने आप मर गया हुआ है। परन्तु उसे भले आदमी को सोचना चाहिये कि यदि वह उसे बन्द न करता तो वह क्यों मरता। अत. यह तो उस प्राणी को मारने के साथ २ अपने आपको धोका देना है सो बहुत बुरी बात है।

हां माता अपने पुत्र में कोई बुरी आदत देखती है तो उसे उसके छोड़ने को कहती है और नहीं मानता है तो धमकाने के लिये कभी २ उसे रस्से वगैरह से भी कुछ देर के लिये बांध देती है या मकान के अन्दर वन्द करदेती है। सो ऐसा करना हिंसा में सुमार नहीं होना चाहिये क्योंकि यह तो उसको सुधारने के लिये किया जाता है अन्तरंग में उसके प्रति उसका करुणाभाव ही होता है। देखो माता अपने बच्चे को जब चपेट मारने लगती है तो दिखाती बड़े जोर से है किन्तु बच्चे के गालके समीप आते ही उसका वेग बिल्कुल धीमा पड़ जाता है क्योंकि उसके दिल में दया और प्रेमका भाव होता है ताकि वह सोचती है कि यह डर कर सुधर जावे जरूर किन्तु इसके चोट नहीं आने पाये । सो ऐसा तो करना ही पड़ता है। परन्तु कभी कभी ऐसा होता है कि मनुष्य अपना बैर भाव निकालने के लिये कमजोर अपने पड़ोसी को मुक्कों ही मुक्कों की मार से घायल कर डालता है। या कोई पशु उसकी धानकी ढेरी में मुंह दे जाये तो रोष में आकर ऐसी लाठी वगैरह की चोट मारता है कि उसकी टांग वगैरह टूट जाती है सो ऐसा करना बुरा है।

पशुपालक लोग बैलों को बधिया कर लेते हैं या उनके नाक में नाथ डालते हैं। वनचर लोग सुरभिगाय की पूंछ तरास लेते हैं या हाथी के दांत काट लेते हैं यह भी एक तरह की हिंसा है क्योंकि ऐसा करने में उस पशु को पूरा कष्ट होता है और काटने वाले की केवल स्वार्थपूर्ति है। हां किसी भी रोगी को डांमवगैरह दिया जाता है वह बात दूसरी है। किसी से भी शक्ति से अधिक कामलेना सो आतिभार रोपण है। जिस पशु पर पांच मन वजन लादा जा

सकता है, उस पर लोभलालच के वश हो छह मन लाद देना। जो चलते २ थक गया है, चल नहीं सकरहा है। उसको जबरन हण्टर के जोर से चलाते ही रहना। किसी भी नौकर चाकर से रुपये की एवज में सतरह आने का काम लेनेका विचार रखना। इत्यादि सब बातें भी हिंसा से खाली नहीं है।

हम देखते है कि प्रायः भले भले रईस लोग भी, जब उनका नौकर बीमार हो जाता है और काम नहीं आता है तो उसका इलाज कराने की सोचना तो दूर किनार रहा प्रत्युत उसकी उस दिनकी तनखा भीकाट लेते हैं। भला जरा सोचने की बात है अगर आपकी मोटर या बाईशिकिल खराबहो जावे तो उसकी मरम्मत करावेगे या नही ? यदि कहे कि उसकोतो दुरुस्त कराना ही होगा तो फिर नौकर जोकि आपही सरीखा मानव है ? वह उस निर्जीव बाइसिकिल से भी गया बीता हो गया है ? ताकि आप उसकी परवाह न करे। इसको काम करते २ कितनी देर होगई है भोजन का समय होगया है भूख लग आई होगी इस बात पर कोई ध्यान न देकर सिर्फ अपना काम होजाने कीं ही सोचते रहना निर्दयता से खाली नहीं है। परन्तु इस साथ में हम यह भी देखते हैं कि अधिकांश नौकर लोग भी मुफत की नौकरी लेना चाहते हैं। काम करने से भी जी चुराते हैं मालिक का काम भले ही बिगड़ो या सुधरो इसकी उन्हे कोई परवाह नहीं होती है। बल्कि यही सोचते हैं कि समय पूरा हो और कब मै यहां से चलूं सो यह भी बुरी बात है पाप है। सिद्धान्त तो यह कहता है कि मालिकऔर नौकर में परस्पर पिता पुत्र का सा व्यवहार होना चाहिये।

अहिंसा का माहात्म्य

जो किसी को भी कभी नहीं मारना चाहता उसे भी कोई क्यों मार सकता है? जिसकी आन्तरिकभावना निरंतर यही रहती है कि किसी को भी कोई तरह का कष्ट कभी भी न होवे तथा इसी विचारानुसार जिसकी बाहारी चेष्टा भी परिशुद्ध होती है उसकी उस पुनीत परिणति का प्रभाव ऐसा होता है कि उसके समुख में आउपस्थित हुआ एक खुंखवार प्राणी भी जरा सी देर में शांत हो रहता है। उसके ऊपर आई हुई आपत्ति भी उसके आत्मबल से क्षण भर में सम्पत्ति के रूप परिणित हो जाती है। इस बात के उदाहरण हमारे पुरातन इतिहास में भरे हुए हैं। वारिषेण पर चलाया हुआ खड्ग उसका कुछ भी बिगाड़ न कर सका, सोमासती को मारने के लिये लाया हुआ काला नाग उसके छूते हुये ही फूलमाला वनगया और एक गठरियामें बान्धकर तालाब में डाले गये राजकुमार और यमदण्ड चाण्डाल इन दोनों में से राजकुकार तो मगरमच्छ द्वारा भक्षण करलिया गया किन्तु यमदण्ड चाण्डाल बालबाल वच गया इत्यादि सब ये अहिंसा के ही प्रभाव हैं।

सुना जाता है कि दिग्विजय के लिये प्रस्तुत हुआ सिकन्दर जब भारत से वापिस लौट चला तो रास्ते में उसकी एक परमहंस महात्मा से भेट हुई। उन्हें देखते ही सिकन्दर के रोप का ठिकाना न रहा। वह बोला अबे बे अदब तूं इस प्रकार लापरवाह होकर कैसे खड़ा है? तुझे मालूम नहीं कि सामने से कौन आ रहा है। खबरदार हो, संभलजा वरना तो फिर देख यहतलवार आती है

इस प्रकार कहते हुए तलवार निकाल कर वह उनके ऊपर लपका। महात्मा तो अपने ध्यान में मस्त थे! परमात्मा से प्रार्थना कर रहे थे कि हे भगवान् सबको सुबुद्धि दे। वे क्यों उसकी बात सुनने लगे अतः उसी प्रकार निःशङ्क खड़े रहे। तब सिकन्दर के मन में एकाएक परिवर्तन होगया कि अहो! यह तो खुदा का रूप है प्रकृति की देन है अपने सहजभाव से खड़ा है मैं क्यों व्यर्थ ही इस पर रोष कर रहा हूं? एवं वह अपनी तलवार को वापिस म्यान में कर उनके चरणों में गिरपड़ा और बोला कि प्रभो! मैं समझता था कि मुझे कोई नहीं जीत सकता परन्तु आपने मुझे जीत लिया है फिर भी मैं इस पराजय को अपना परम सौभाग्य समझता हूं। इसी प्रकार ईसा पूर्व छटीशताब्दी में एक लुटेरा होगया हुआ है। वह जिसे भी पाता था उसी की हाथों की अंगुलियो को जला दिया करता था और उसके पासके माल असबाब को छीनलिया करता था इसीलिये लोग उसे अंगुलि माल कहते थे। वह किसी भी राजा महाराजा से नहीं पकड़ा जासका था। एकबार महात्माबुद्ध उधर होकर जाने लगे तो लोग बोले महात्मन् इधर को मत जाइये इधर में तो अंगुलि माल है जोकि बड़ा खूंखवार है परन्तु उन्होंने लोगों के कहने को नहीं सुना और चले ही गये। जबअंगुलिमाल ने देखा तो बोला अबे! कौन है खड़ा रह कहाँ जा रहा है। बुद्ध ने चलते २ जबाब दिया मैं तो खड़ाही हूँ तूं चलता है सो तूं खड़ा रह। अंगुलिमाल ने कहा बड़ा विचित्र आदमी है चला जारहा है और बोलता है कि खड़ा तो हूँ, ठहरजा नहीं तो फिर गोली से उड़ा दिया जावेगा। बुद्ध ने फिर कहा-भाई मैं ठीक तो कह रहा हूँ इन दुनियाँ के लोगों

को ठहरने के लिये जो बात होनी चाहिये मैं तो उसी बात पर स्थित हूं परन्तु तू इसके इधर उधर जा रहा है अतः तुझे उसको सम्भालना चाहिये। बस इतना सुनना था कि अकुंलिमाल के विचारों में बिलकुल परिवर्तन होगया। अहो ! मैं शरीर से मानव होकर भी मानवता से बिलकुल दूर हूँ। मुझे इन महात्मा के निकट रहकर मनुष्यता का पाठ पढ़ना चाहिये। इस तरह सोच कर उनका शिष्य बन गया।

सत्य की पूजा

आम तौर पर जैसा का तैसा कहने को सत्य समझा जाता है। परन्तु भगवान महावीर ने वाचनिक सत्य की अपेक्षा मानसिक सत्य को अधिक महत्व दिया है। हम देखते हैं कि काणे को काणा कहने पर वह चिढ़ उठता है। उसके लिये काणा कहना यह सत्य नहीं, किन्तु झूठ बन जाता है। क्योंकि उसमें वह अपनी अवज्ञा मानता है। है भी सचमुच ऐसा ही। जब उसे नीचा दिखाना होता है तभी कोई उसे काना कहता है। मानो अन्धे को अन्धा कहने वाले का वचन तो सत्य होता है फिर भी मन असत्य से घिरा हुआ होता है। क्षुद्रता को लिये हुये होता है। अन्यथा तो फिर आइये, सूरदासजी ! इन मिष्ट शब्दों में उसका आमन्त्रण किया जा सकता है। हाँ, वहीं कोई छोटा बच्चा बैठा हो और उसकी मां उससे कहे कि बेटा ! यह अन्धा है, इसे इसकी आखों से दीखता नहीं है। इस पर फिर बच्चा कहे कि अले यह अन्धा है इसे इसकी आखों से दीखता नहीं है। तो यह सुन कर औरों की ही तरह उस अन्धे को भी दुःख नहीं

होगा प्रत्युत वह भी प्रसन्न ही होगा। क्योंकि बच्चे के मन में फितूर नहीं किन्तु वह सरल होता है। वह तो जैसा सुनता है या देखता है वैसा ही कहना जानता है। बनावटीपन उसके पास बिल्कुल नहीं होता।

बालक के सरल और स्वाभाविक बोलने पर जब लोग हंसते हैं तो मेरे विचार में वह उन्हें हंसते देख कर अपने विकाशशील हृदय में सोचता है कि मेरे इस बोलने में कुछ कमी है इसी लिये ये सब मेरा उपहास कर रहे हैं। बस इसीलिये वह अपने उस बोलने में धीरे २ बनावटीपन लाने लगता है। मतलब यह हुआ कि सत्य बोलना तो मनुष्य का प्राकृतिक धर्म है किन्तु झूठ बोलना सीखना पड़ता है।

लोग कहा करते हैं कि दुनियांदारी के आदमी का काम असत्य बोले बिना नहीं चल सकता। परन्तु उनका यह विश्वास उल्टा है क्योंकि किसी भी कार्य के होने या करने में सत्य क्यों रोड़ा अटकाने लगा ? बल्कि यों कहना चाहिये कि सत्य के बिना काम नहीं चल सकता। जो लोग व्यर्थ के प्रलोभन में पड़ कर असत्य के आदि बने हुए हैं उन्हें भी अपने असत्य पर सत्य का मुलम्मा करना पड़ता है तभी गुजर होती है। फिर भी उनके मन में यह भय तो लगा ही रहता है कि कहीं हमारी पोल न खुल जावे। ऐसी हालत में फिर सत्य की ही शरण क्यों न लेनी चाहिये। जिससे कि निःसंकोच होकर चला जा सके। कुछ देर के लिये कहा जा सकता है कि इस स्वार्थभरी दुनियां में सत्यप्रिय को आर्थिक हानि उठानी पड़ती है सो भी कब तक ? जब तक लोगों को यह

पता न हो जावे कि यहाँ पर असत्य को कोई स्थान नहीं है। लोग सोचते हैं कि दुनियां दुरङ्गी है और दुनियाँ में ही यह भी रहता है। अतः उस दुरंगेपने से बच कैसे सकता है। बस इसीलिये सत्यवादी को लोग कसौटी पर कस कर देखना चाहते हैं। एवं जहां वह उनकी कसौटी पर खरा उतरा कि फिर तो लोग उसका पीछा नहीं छोड़ते।

एक समय की बात है कि एक मारवाड़ी भाई श्री वीर सागर महाराज के दर्शन करने के लिये आया। महाराज ने उससे पूछा क्या धन्धा करते हो ? तो जवाब मिला कि आसाम में कपड़े की दूकान है। महाराज ने कहा कि सत्य पर व्यापार करो तो अच्छा हो। इस पर वह हिचकचाहट करने लगा। महाराज ने फिर कहा, कमसे कम तुम छः महीने के लिये ऐसा करो, समझो कि बैठा खा रहा हूं। तब उसने कहा हाँ इतना तो मैं कर सकता हूं। सत्यवादी को इस बात पर ध्यान रखना होता है कि मेरे साथ में जिसका लेनदेन हो उसे अच्छा सौदा मिले एवं दो पैसे कम में मिले तथा प्रेम का वर्ताव हो। बस उसने ऐसा ही करना शुरू किया। फिर भी जोकि पहले से मोल मुलाई करते आरहे थे उन्हे एकाएक उस पर विश्वास कैसे हो सकता था। अतः फिर ग्राहक लौट कर जाने लगे। मगर जब देखा की उस दुकान से और दुकान पर हरेक चीज के एक दो पैसे अधिक ही लगते हैं तो लोगों के दिल में उसकी दुकान के प्रति प्रतिष्ठा जम गई। फिर क्या था ? उत्तरोत्तर रोज अधिक से अधिक संख्या में ग्राहक आने लगे और बेबूझ होकर सौदा लेने लगे।

सत्यवादी के स्मरण रखने योग्य बातें

जो सत्य का प्रेमी हो सच्चाई पर भरोसा रखता हो उसे चाहिये कि वह किसी की भी तरफदारी कभी न करे। अपने गुण अपने आप न गावे। दूसरों के अवगुण कभी प्रकट न करे। किसीकी कोई गोपनीय बात कभी देखने जानने में आजावे तो औरों के आगे कभी न कहे। हमेशा नपे तुले शब्द कहे। एवं अपने आप पर काबू पाये हुए रहे तभी वह अपने काम में सफल हो सकता है।

उदाहरण स्वरूप हमें यहां श्री सत्यवादी हरिश्चन्द्र का स्मरण हो आता है जो कि शयन दशा में दे डाले हुये अपने राज्य को भी त्याज्य समझ लेते हैं और फिर उसको उत्सर्ग करने के प्रतिफल रूप में बनारस के कालू भङ्गी के यहाँ कर्मकर हो रहने को भी अपना सौभाग्य समझते हैं। इधर उन्हीं के समान उनकी पत्नी जो कि एक गृहस्थ के यहां नोकरानी बन कर अपना गुजर बसर करने लग रही थी। उसके पुत्र रोहितास को सर्पकाट जाता है जिससे उसकी मृत्यु हो जाती है। उसकी लास को वह (रानी) लेजाकर जब हरिश्चन्द्र घाट पर जलाने लगती है तो हरिश्चन्द्र अपने मालिक कालू के द्वारा निश्चित की हुई टैक्स वसूल किये बिना जलाने नहीं देते हैं। अपने मन मे जरा भी संकोच नहीं करते है कि यह मेरे पुत्र की लास है और मेरी ही स्त्री इसे जला रही है। बल्कि सोचते हैं जब मेरे मालिक ने टैक्स निश्चित कर रखा है और उसकी वसूली के लिये मुझे यहां नियत किया है, फिर भला कोई भी क्यों न हो उससे टैक्स वसूल करना मेरा धर्म है। ओह ! कितना ऊंचा आदर्श है जिसे स्मरण

कर हृदय आनन्दविभोर हो जाता है। परन्तु उन्हीं की सन्तान प्रतिसन्तान आज के इन भारतवासियों की तरफमें जब हम निगाह डालते हैं तो रुलाई भी आ जाती है। क्योंकि आज के हम तुम सरीखे लोग दो दो पैसे में अपने ईमान धर्म को बेचने के लिये उतारू हो रहते हैं। बल्कि कितने ही लोग तो बिना मतलब ही झूठी बातें बनाने में प्रवृत होकर अपने आपको धन्य मानते हैं। परन्तु उन्हें सोचना चाहिये कि सत्य के बिना मनुष्य का जीवन वैसा ही है जैसा कि बकरी के गले में हो रहने वाले स्तन का होना है।

सत्य परमेश्वर रूप है

मैं जब बालबोध कक्षा में पढ़ रहा था तो एक दोहा मेरी किताब में आया:-

> सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
> जिसके मन में साँच है, वा के मनमें आप ॥

इसमें आये हुए आप शब्द का अर्थ अध्यापक महोदय ने परमेश्वर बतलाया जो कि मेरी समझ में नहीं आया। मैं सोचने लगा सांच तो झूठ का प्रतिपक्षी है, बोलचाल की चीज है, उसका ईश्वर के साथ में क्या सम्बन्ध हुआ। परन्तु अब मैं देखता हूँ कि उनका कहना ठीक था। क्योंकि दुनियाँ के जितने भी कार्य हैं वे सब सत्य के भरोसे पर ही चल रहे हैं। आम लोगों की धारणा भी यही है कि दुनियाँ का नियन्ता या कर्ता धर्ता परमेश्वर है। ऐसी हालत में यह ठीक ही है कि सत्य ही परमेश्वर है जिसके कि सर्वथा न होने पर विश्व के न होने पर विश्व के सारे काम ठप हो

जाते है। महात्मा गाँधी ने जब सत्याग्रह का काम चालू किया तो सबसे पहले पहल उन्होंने यही कहा कि जो लोग परमेश्वर पर भरोसा रखते हों वे ही लोग मेरे इस आन्दोलन में शामिल होवें। इस पर किसी भद्र पुरुष ने सवाल किया कि क्या फिर आपके इस काम में जैन लोग न आवें ? क्योंकि वे लोग ईश्वर को नहीं मानते हैं। परन्तु महात्मा जी ने कहा कि तुम भूलते हो क्योंकि जो सत्य और अहिंसा को मानता है वह ईश्वर को अवश्य मानता है।

मतलब यह है कि जैन लोग ईश्वर को नही मानते सो बात नहीं किन्तु उनके विचारानुसार ईश्वर हमारे हरेक कार्य करने वाला हमारा कोई नौकर नहीं है। किन्तु पदार्थ परिणामनशील स्वभाव है। जिसका कि दूसरा नाम सत्य है उस पर भरोसा लाकर अपना काम हम खुद करते हैं। हमें जब जो काम करना होता है तब अपने साहस धैर्य और प्रयत्न से उसके योग्य साधन सामग्री को जुटाकर एवं उसकी वाधक सामग्री से वचते हुये रहकर उसे कर बतातें हैं। हां हम छद्मस्थों की कुबुद्धी मन्दता से उर्पयुक्त प्रयत्न में जो कुछ कमी रहजाती है तो उतनी ही उस कार्य में सफलता कम मिलती है एवं प्रयत्न विपरीत हो जाने पर कार्य भी विपरीत हो रहता है। हां कितने ही कार्य जैसे वर्षा का होना, सर्दी का फैलना, गर्मी का पड़ना आदि कार्य उर्पयुक्त सत्य के आधार पर तत्काल के वातावरण को पाकर ही सम्पन्न हो रहते हैं उन्हें प्राकृतिक कहा जाता है। परन्तु उर्पयुक्त वातावरणके समुद्गम में भी अस्मादि-प्राणीयों का अहिंसा भाव उपयोगी होता है। इस तरह से

सत्यनारायण को विश्व का सम्पादक तथा अहिंसा उसकी शक्ति है ऐसा कहा जावे तो कोई न होती बात नहीं है।

अदत्तादान का विवेचन

बलात्कार से या धोखेबाजी से किसी दूसरे के धन को हड़प जाना सो अदत्ता दान है। बलात्कार से दूसरे के धन को छीन लेने वाला डाकू कहलाता है तो बहानाबाजीसे किसीके धनको लेले ने वाला चोर कहलाता है। चोरी या डकैती करना किसी का जातीय धन्धा नहीं है, जो ऐसा करता है वही वैसा बन रहता है। डाकूको तो प्रायः लोग जान जाते हैं अतः उससे सावधान होकर भी रह सकते है मगर चोर की कोई पहचान नही है। अतः उससे बचना कठिन है। जोकि चोर अनेक तरह का होता है जिसके प्रचलन को चौर्य कहना चाहिये। वह भी डाका डालने की तरह से अदत्ता दान है। बिना दिये ही ले लेना है। जैसे किसी सुनार को जेवर बना देने के लिये सोना दिया गया तो वह जेवर बना देता है और उसकी उचित मजूरी लेता है वह तो ठीक, किन्तु उसमें थोड़ी बहुत खाद अपनी तरफ से मिला देता है और उसकी एवज मे सोना जो रख लेता है वह उसका अदत्तादान हुआ, बिना दिये लेना हुआ अतः चोर ठहरता है। दर्जी कोट वगैरह बनाकर देता है और उसकी उचित सिलाई लेता है ठीक है किन्तु जहाँ तीन गज कपड़ा लगता हो वहां बहाना बनाकर साढे तीन गज लेलेवे तो वह अदत्तादान है। ऐसे ही और भी समझलेना चाहिये जैसा कि प्रायः यहां पर देखने में आ रहा है। कोई भी आदमी पूर्ण विश्वास के साथ में

यह नही कह सकता कि बाजार में वह एक चीज तो ठीक मूल्य पर और सही सलामत मिल जावेगी। जीरे में गाजर का बीज, काली मिरचों में ऐरण्ड ककड़ी के बीज, घी में डालडा इत्यादि हर एक चीज में कोई न कोई तत्सदृश अल्प मूल्य की चीज का समिश्रण करके देना तो साधारण बात है। और तो क्या शरीर को स्वस्थ बनाने के लिये ली जानेवाली दवावों तक में बनावटीपन होता है। जिससे कि देशकी परिस्थिति दिन पर दिन भयंकरसे भयंकर बनती चली जा रही है। मैंने एक किताब मे पढ़ा था कि एक बार एक हिन्दुस्तानी भाई विलायत में घूम रहा था सो क्या देखता है कि एक बहिन जिसके आगे दूध का बतेन रखा हुआ है, फिकर में खड़ी है अतः उसने पूछा कि बहिन तुम क्या सोच रही हो? उसने कहा भाई साहेब! मैंने एक महाशय को ५ सेर दूध देना कर दिया है और मेरी गाय ने आज जो दूध दिया वह पाव कम पांच सेर है अतः मै सोच रही हूँ कि क्या करूं? इसे पूरा कैसे किया जा सकता है। इस पर उसी हिंदुस्तानी भाई ने तपाक से कहा कि वाह यह भी कोई फिक्र की बात है क्या? इसका तो उपाय बहुत आसान है इसमें से भले ही तुम पाव भर दूध और भी निकाल लो तथा इसमें आध सेर पानी मिलाकर देआओ। उसने तो स्याबास पाने के लिये यह कहा था मगर उस बहिन ने कहा छी छी यह तो बहुत बुरी बात है ऐसा करने से हमारे देश के बाल बच्चे पोष कैसे पा सकेंगे? खैर कहने का मतलब यह है कि मिलावट बाजी ने बहुत तरक्की पाई है जिससे हमारे देश का भारी नुकसान हो रहा है। सरसों के तेल में सियाल कॉटी का तेल मिलाकर दिया जाता है

जिसको उपयोग में लाने वाले, उसको शरीर पर लगाने वाले के शरीर में फोड़े फुंसी हो जाते हैं। परन्तु देने वाले को इसकी कोई चिन्ता नही, उसे तो सिर्फ पैसा प्राप्त करलेने की सूझती है। आज पैसा परमेश्वर बन रहा है किन्तु मनुष्य मनुष्य भी नहीं रहा, कैसी दयनीय दशा है कहा नहीं जाता। मै सोच ही रहा था कि एक आदमी बोला महाराज क्या आश्चर्य है ? मिलावट में तो थोड़ी बहुत चीज रहती है। यहाँ तो चाय के बदले सर्वेसर्वाचनों के छिलके होते हैं और लेने वाले को पता भी नहीं पड़ता, हद होगई।

आज कल के लोगों का दृष्टिकोण

भूत पर दो चीजें मुख्य हैं शरीर और आत्मा। शरीर नश्वर और जड़ है तो आत्मा शाश्वत और चेतन। इन दोनों का समायोग विशेष मानव जीवन है। अतः शरीर को पोषण देने के लिये धन की जरूरत होती है तो आत्मा के लिये धर्म की एवं साधक दशा में मनुष्य के लिये यद्यपि दोनों ही अपेक्षनीय हैं। फिर भी हमारे बुजुर्गों की निगाह में धर्म का प्रथम स्थान था। हां उसको सहायक साधन रूप में धन को भी स्वीकार किया जाता था। परन्तु जहां पर वह धन या उसके अर्जन करने की तरकीब यदि धर्म की घातक हुई तो उस ऐसे धन को लात मार कर धर्म का संरक्षण किया करते थे। किन्तु आज के लोगों का दृष्टिकोण सर्वथा इसके विपरीत है। आज तो धर्म को ढकोसला कह कर धन को ही सब कुछ समझा जाता है। एन केन रूपेण पैसा बटोरने का ही लक्ष्य रह गया है। कहीं कोई बिरला ही मिलेगा जो कि अपनी मेहनत की कमाई पर

गुजर बसर कर रहा हो प्रायः प्रत्येक का यही विचार रहता है कि कहीं से लूट खसोट का माल हाथ लगजावे। कहीं पाकेट मारी का हल्ला सुनाई देता है तो कहीं जुआ चोरी का। कोई खुद चोरी करता है तो कोई उसके लाये हुये माल को लेकर उसे प्रोत्साहन देता है। आयातनिर्यात की चोरियों का तो कुछ ठिकाना ही नहीं रहा है। सुना गया है दूसरे देशों से सोना लाने वाले लोग जांघ फाड़ कर वहाँ भरलाते हैं। कोई सोने की गोलियाँ बनाकर मुंह में रख लेता है बिना टिकट रेलगाड़ी वगैर हमें जाना आना तो भले २ लोगों के मुंह से सुना जाता है मानो वह तो कोई अपराध ही नही। मैं तो कहता हूं कि व्यक्तिगत चोरी की अपेक्षा से भी स्वार्थवश होकर कानून भङ्ग करना और सरकारी चोरी करना तो और भी घोर पाप है, अपराध है। क्योंकि उस का प्रभाव तो सारी समाज पर जा पड़ता है। परन्तु जो कोई सिर्फ अपनी ही हवस पूरी करना जानता है उसे यह विचार कहां। वह तो किसी भी तरह से अपना मतलब करना चाहत है। सरकार तो क्या, लोग तो धर्मायतमों से भी धोखा करने में नहीं चूकते हैं। गोशाला सरीखी सार्वजनिक धार्मिक संस्थाओं में भी आये दिन गड़बड़ी होती हुई सुनो जाती है। प्रामाणिकता का कहीं दर्शन होना ही दुर्लभ हो रहा है। सरकार प्रबन्ध करते करते थक गई है और अपराध दिन पर दिन बढ़ते जा रहे हैं। लोग कहते हैं कि सिंह बड़ा क्रूर जानवर होता है परन्तु मैं तो कहता हूं कि ये बिना मार्का के सिंह उससे भी अधिक क्रूर हैं जो कि देश भर में विप्लव करते चले जारहे हैं।

एक रोज एक निशानबाज आदमी घोड़े पर चढ़ कर जङ्गल की ओर चल दिया कुछ दूर जाने पर उसे एक बाघ दीख पड़ा तो उसने अपना घोडा उसी बाघ के पीछे कर दिया। थोड़ी देर बाद वह बाघ तो अदृश्य हो गया और उसकी एवज में उसे एक साधु से भेंट हुई। वह तो साधु के पैरों पड़ा। साधु ने कहा तुम कौन हो तो वह बोला प्रभो एक तीरन्दाज हूं और क्रूर प्राणियों की शिकार किया करता हूँ। आज एक बाघ मेरे आगे आया था परन्तु नमालूम अब वह कहां गायब हो गया और अब तो रात होने को आगई है। साधु ने कहा कोई हर्ज नहीं रात को शिकार और भी अच्छा मिलता है चलो मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ। चलते २ मदनबाजार में एक वेश्या के घर पर पहुंच जाते है तो क्या देखते हैं कि एक महाशय वेश्या के साथ बैठे २ शराब पीते जाते हैं और कहते जाते हैं कि हे प्रिये इस दुनियां में मेरी तो उपास्य देवता एक तूं ही है। दिन में साधु बनकर सड़क पर बैठ जाता हूं और किसी भगत को फीचर के आँक तो किसी को सट्टे फाटके की तेजी मन्दी बता देता हूँ एवं कोई पक्का जुवारी मिल गया तो उसे विजय कारक यन्त्र देने का ढोंग रचकर माल ऐंठता हूं: दिन भर में जो कुछ पाया वह रात को आकर तेरी भेंट चढा जाता हूं। आगत साधु अपने साथी तीरन्दाज से बोला कि कहो कैसा शिकार है मगर अब दूर थोड़ी आगे चलो। चलकर चीफ जज के मकान पर पहुंचे तो वहाँ पर जज साहेब के सामने एक वकील महाशय खड़े है जो कि एक हजार मोहरों की थैली देते

हुये उन्हें कह रहे हैं कि श्रीमान् जी मेरे मोकील का मुकदमा आपके पास विचारार्थ आया हुआ है जिसमें उसके लिये बलात्कार के अभियोग स्वरूप कारागार का हुकम अदालत ने निश्चित किया है। प्रार्थना है कि विचार करते समय आप उसे उससे उन्मुक्त रहने देने की कृपा करें और बाल बच्चों के लिये यह तुच्छ भेंट स्वीकार करें।

जिसे देखकर तीरन्दाज़ बोला ओह! बड़ा अनर्थ है। यहां पर तो स्वार्थवश होकर न्याय का ही गला घोटा जा रहा है किन्तु साधू बोला अभी थोड़ा और आगे चलना है। चलकर एक इन्सपेक्टर (निरीक्षक) के कमरे के पास पहुंच जाते हैं। वहां क्या देखते हैं कि उनके सम्मुख मेज पर तीन चार बन्द बोतलें रखी हैं जिनमें शुद्ध पानी भरा हुआ है और आरोग्य सुधा का लेबिल चिपका हुआ है। आगे एक आदमी खड़ा है और कह रहा है महाशय! अपराध क्षमा कीजिए, यह दो हजार मोहरों की थैली लीजिए और इन बोतलों के बदले में ये आरोग्य सुधा की यह असली बोतले रख देने दीजिए। अब तो तीरन्दाज के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह कहने लगा कि हे भगवन् यहां तो जिधर देखो उधर ही यही हाल है किस किस को तीर का निशान बनाया जाय। वस्तुत. विचार कर देखा जाय तो जिस प्रकार ये लोग अपने जीवन के लिये औरों के खून के प्यासे बने हुये हैं। अन्याय करते हैं तो मैं क्या इन सबसे कम हूं? ये लोग तो स्वार्थवश अन्धे होकर ऐसा करते हैं। मैं तो व्यर्थ इनके प्राणों का ग्राहक हो रहा हूँ। अगर कहूं कि क्रूरता का अन्त करना है तो भला कहीं क्रूरता के द्वारा क्रूरता का अन्त थोड़े

ही होने वाला है। क्रूरता को मारने के लिये शान्ति की जरूरत है तो स्वार्थ को मारने के लिये त्याग की और दूसरों को सुधारने के लिये अपने आप सुधर कर रहने की। एवं अपने आप सुधर कर रहने के लिये सबसे पहले काम पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।

काम पर विजय श्रेयस्कर है—

काम यह संस्कृत भाषा में इच्छा का पर्यायवाची माना गया है। वैसे तो मनुष्य नाना प्रकार की इच्छाओं का केन्द्र होता है किन्तु उन इच्छाओं में तीन तरह की इच्छायें प्रसिद्ध हैं। खाने की, सोने की, और स्त्री प्रसंग की। इनमें से दो इच्छायें बालकपन से ही प्रादुर्भूत होती हैं तो स्त्री प्रसंग की इच्छा युवावस्था में विकसित हुआ करती है। एवं पहले वाली दोनों इच्छाओं को सम्पोषण देना एक प्रकार से शरीर के सम्पोषण के लिए होता है किन्तु स्त्री प्रसंग को कार्यान्वित करना केवल शरीर के शोषण का ही हेतु होता है। अतः पूर्व की दो इच्छाओं को हमारे महर्षियों ने काम न कहकर आवश्यकता कहा है एवं कुछ हद तक उन्हें पूर्ण करना भी अभिष्ट बताया है। इसलिये गृहस्थ की तो बात ही क्या? साधुओं तक को उनकी पूर्ति के लिये यथोचित आज्ञा प्रदान की है परन्तु स्त्री-प्रसंग की इच्छा को तो सर्वथा नियन्त्रण योग्य ही कहा है यह बात दूसरी कि हरेक आदमी उसका पूर्ण नियन्त्रण करने में समर्थ न हो सके। एवं कामेच्छा को नियन्त्रण करना इसलिये आवश्यक कहा गया है कि कोई भी मरना नहीं चाहता हर समय अमर रहने के लिये ही अपना

बुद्धि से सोचता है। काम को जीतना सो बुद्धि के विकास का हेतु और मृत्यु का जीतना है परन्तु काम सेवन करना बुद्धि के विध्वंश के लिए होकर मृत्यु को निमन्त्रण देना है। अपने आप मरण मार्ग का निर्माण करना है।

हमारे हित चिन्तक महात्माओं ने उपर्युक्त सिद्धांतको लक्ष्य में रखकर ही हम लोगों के लिये ब्रह्मचर्य का विधान किया है। बतलाया है कि मनुष्य अपने विचारों में स्त्री को स्त्री ही नही समझता चित्त में उसकी कभी भी याद ही नहीं आने देना जैसे पूर्ण ब्रह्मचर्य को भी यदि धारण नहीं कर सके तो एक देश ब्रह्मचर्य का पालन तो अवश्य ही करे। स्पष्ट युवावस्था आने सेपूर्व कुमार काल में कभी स्त्री प्रसंग का नाम न ले। वहां तो अपना भावी जीवन सुन्दर से सुन्दर बने इसकी साधन सामग्री बटोरने में ही समय बीतना चाहिये और वृद्धावस्था आ जाने पर यदि स्त्री विद्यमान भी हो तो उसका त्याग कर सिर्फ परमात्मा स्मरण में अपने समय को बिताने लगे। रही मध्य की युवावस्था सो वहां पर भी स्त्री को आराम देने की मशीन न मानकर अपने शरीर में आ-प्राप्त हुये अवस्थोचित विकार को दबाने के लिये मधुर दवा के रूप में उसका सेवन किया जा सकता है।

हमारे पूर्वाचार्यो ने इसे पशु कर्म बतलाया है। इसका मतलब यह कि पशु ऋतुकाल में ही एक बार ही ऐसा करता है फिर नहीं अब अगर हम यदि मनुष्य कहलाते हैं तो हमें उससे अधिक संयमित होना चाहिये। परन्तु यदि उस नियम को भी भंग करके मनमाना करते है तो मनुष्य तो क्या पशु भी नहीं बल्कि महर्षियों की

निगाह में पशु से भी हीन कोटि पर आ जाते हैं। परन्तु खेद है कि इस बात का विचार रखने वाला कोई विरला ही महानुभाव होगा। हरएक मनुष्य के लिये तो पर्वादि के दिन भी ब्रह्मचर्य पूर्वक रह जाना बहुत बड़ी बात हो जाती है कितने ही तो ऐसे भी निकल आयेंगे जिनको अपनी पराई का भी विचार शायद ही हो। कुछ लोग तो बेहूदेपन से भी अपने ब्रह्मचर्य को बरबाद कर डालते हैं। आज इस विज्ञान की तरक्की के जमाने में तो एक और कुप्रथा चल पड़ी है वह यह कि जहां दो चार बच्चे हो ले तो फिर बच्चेदानी निकलवा डालनी चाहिये, ताकि बच्चा होने का तो कुछ भी भय न रहे एवं निडर होकर संसार का मजा लूटा जावे। कोई कोई तो शादी सम्बन्ध होते ही आप्रेशन करवा डालते हैं ताकि बच्चे की आमदनी होकर उनकी गृहदेवी का नूर न बिगड़ने पावे। भला सोचो तो सही इस विलासिता की भी क्या कोई हद है? जहां कि अपनी क्षणिक घृणित स्वार्थपूर्ति के लिये प्राकृतिक नियम पर भी कुठाराघात किया जाता है। भले आदमी अपने लंगोट को ही वश कर क्यों न रखे ताकि उनका परमात्मा प्रसन्न हो एवं उन्हे वास्तविक शान्ति मिले।

विवाह की उपयोगिता

आजकल के नव विचारक लोगों का कहना है कि विवाह की क्या आवश्यकता है वह भी तो एक बन्धन ही तो है। बन्धन से मुक्त हो रहना मानवता का ध्येय है। फिर जान बूझकर बन्धन में पड़ रहना कहां की समझदारी है स्त्री को और पुरुष को दोनों को दाम्पतिक जीवन से विहीन होकर सर्वथा स्वतन्त्र रहना चाहिये।

ठीक है विवाह वास्तव में बन्धन है परन्तु विचार यह कि उससे मुक्त हो रहने वाला जावेगा कौनसे मार्ग से ? अगर वह ब्रह्मचर्य हो रहता है तब तो है ठीक, उसे विवाह करने के लिये कौन बाध्य करता है ? मगर ऐसा तो सभी स्त्री पुरुष कर नहीं सकते हैं जिसने अपनी वासना के ऊपर नियन्त्रण पा लिया हो ऐसा कोई बिरला व्यक्ति ही कर सकता है। बाकी के स्त्री पुरुष तो अपनी वासनातृप्ति के लिये इधर से उधर दौड़ ही लगावेंगे। फिर उनमें और पशुओं में अन्तर ही क्या रह जावेगा ? बल्कि पशुओं का तो एक तरह से निर्वाह भी है क्योंकि वे लोग विवाह बन्धन से नही तो प्राकृतिक बन्धन से तो बन्धे हुए रहते हैं। । इस बारे में वे अपनी सीमा से बाहर कभी नही होते, परन्तु मनुष्य में ऐसी बात नहीं है तथा वह एकान्त सौंदर्य का उपासक होता है जब तक सौंदर्य है तब तक ही एक दूसरे को याद करता है फिर कौन किसी को क्यों पुछेगा तो कैसे निर्वाह होगा ? किन्तु मनुष्य एक सामाजिक जीवन बिताने वाला प्राणी है। सामाजिकता का मूल आधार विवाह सम्बन्ध का होना ही है। अतः उसे सुचारू रखना समझदारों का कर्त्तव्य है हां, वर्तमान में उसमें जो खराबियां आ घुसी हैं उनका दूर करना परमावश्यक है।

विवाह का मूल उद्देश्य

सामाजिकता को अक्षुण बनाये रखना है और दुराचार से दूर रहकर भी वैषयिक सुख की मिठास को चखते रहना जैसे कि हमारे पूर्व विद्वान श्री मदाशाधर के रति वृत्त कुलोन्नति इस वाक्य

से स्पष्ट हो जाता है। यह जभी बन सकता है कि विवाहित दम्पतियों में परस्पर सौहार्दपूर्ण प्रेमभाव हो। इसके लिये दोनों के रहन सहन शील स्वभाव में प्राय हर बात में समकक्षता होनी चाहिए। अन्यथा तो वह दाम्पत्य पथ कण्टका कीर्ण होकर सदा के लिये क्लेश का कारण हो जाता है। जैसा कि सोमासती आदि के आख्यानों से जान लिया जा सकता है। एवं इस अनबन को दूर हटाने के लिये हमारे पूर्वजों ने एक स्वयंवर प्रथा को जन्म दिया था। जिसमे कि कन्या अपनी बुद्धिमता से अपने योग्य पति को स्वयं ढूंढ निकालती थी। उदाहरणार्थ गीतकला ने अपनी संगीतज्ञता के द्वारा धन्यकुमार को स्वीकार किया था। परन्तु ऐसा सभी जगह नहीं होता था बल्कि अधिकॉश कन्याओं का तो उनके माता पिता ही योग्य वर के साथ सयोजित करते थे। तो वे सब भी वहाँ धनादिक और सब बातो पर कोई खास लक्ष्य न देकर यह जरूर देखते थे कि जिस वर के साथ हम अपनी बाई का सम्बन्ध करने जा रहे हैं उसका शील-स्वभाव इसके साथ मेल खाता है या नहीं।

एक बहुत बड़ा बादसाह था जिसके एक लड़की हुई जो कि पूर्व जन्म के संस्कार विशेष से जनता की सेवा करने वाली, सन्तोप स्वभाव वाली, सादा खाना और सादा पहनावा रखने वाली थी किन्तु अपने महज सौन्दर्य से और अपनी सहेलियों में सब से बढ़कर थी अतः जब वह विवाह योग्य हुई तो बड़े २ बादशाहों के लड़कों ने अपनी सहयोगिनी उसे बना रखने की उत्कण्ठा प्रगट की परन्तु उसके पिता बादशाह ने सोचा कि इसके लिये जो वर हो वह इसी जैसी प्रकृतिका होना चाहिये। अब एक

रोज बादशाह घूमने को निकला तो कुछ दूर जङ्गल में चला गया। वहां उसकी एक नवयुवक से भेट हुई जो कि वहाँ कुटिया बना कर रह रहा था। अपने खेत में उसने आम, अमरूद, नारङ्गी अनारादि के चार छह पेड़ लगा रखे थे। बाकी जमीन में खेती करके अपनी गुजर करता था और आगत लोगों की सेवा करके अपने जन्म को सफल बना रहा था। बादशाह को आया जान उसने उचित स्वागत किया। बादशाह को उसकी चेष्टा से प्रसन्नता हुई तो वह बोला कि मै मेरी लड़की की शादी आपके साथ करना चाहता हूं। युवक ने कहा प्रभो! आप अपनी लड़की की शादी मेरे साथ कैसे कर सकोगे ? मैं तो मेहनत करने वाला हूँ। सद कमाता और सद खाता हूँ। बादशाह बोला, तुम्हें इसकी कुछ चिन्ता नहीं, तुम मेरे साथ चलो। युवक बादशाह के साथ में हो लिया। जाते ही बादशाह ने अपनी शाहजादी को उसकी गैल करदी। जब कुटिया के समीप में आये तो शाहजादी कुटिया में घुसने से रुकी। युवक ने पूछा कि प्रिये! क्या बात है? तो जवाब मिला कि सामने में चुल्हे पर क्या पड़ा है? तब फिर युवक बोला कि चार रोटियां सवेरे बनाईं थी, उनमें से दो तो मैंने खाली थी और दो बच रही थी तो मैंने सोचा सायंकाल के समय खा ली जावेगी, वे ही पड़ी हैं। इस पर शाहजादी बोली कि हे प्रभो! अन्थड का फिक्र अभी से, ये दो रोटियाँ तो किसी गरीब भाई को दे देनी थी, सायंकाल तक जिन्दगी रही तो और रोटियां बनाकर खा ली जा सकती हैं यदि ऐसी संग्रहकारिताही मुझे पसन्द होती, तोकिसी शाहजादे के साथ में ही मै मेरा नाता जोड़ती,

आपके पीछे क्यों लगती ? यह सुनकर युवक बहुत खुश हुआ।

मतलब इस सब लिखने का यह कि जैसी के साथ में वैसे का सम्बन्ध ही प्रशंसायोग्य होता है। मगर आज ऐसा सम्बन्ध कोई विरला ही होता होगा। आज तो यदि देखा जाता है या तो रूप सौन्दर्य या वित्तकोशवश इन दो के पीछे ही आज की जनता बंधी हुई है। इसीलिये आजकल का दाम्पत्य जीवन प्रेमोद्भावक न होकर प्राय: कलह का स्थान हो रहता है। स्वर्ग का सन्देश मिलने के बदले वहां पर नरक का दृश्य देखने को मिलता है।

संतोष ही सच्चा धन है

जिस चीजसे हमें आराम मिले, जिस किसी चीज की मदद से हम अपनी जीवन यात्रा के उस छोर तक आसानी से पहुँच सके उसे धन समझना चाहिये। इन दुनियाँ के लोगों ने कपड़ा-लत्ता, रुपया-पैसा आदि वाह्य चीजों में ही आराम समझा। अतः इन्हीं के जुटाने में अपनी प्रज्ञा का परिचय देना शुरु किया। कपड़े के लिये सबसे पहले लोगों ने अपने हाथों से अपने खेत में कपास पैदा की उसे पीन कर अपने हाथ के चरखे से सूत कात कर अपने हाथ से उसका कपड़ा बुन कर अपना तन ढकना शुरु किया। फिर जब और आगे बढ़े तो मिलों को जन्म दिया। जिनमें शुरु में मारकीन, फिर नयनसुख मलमल, अबरवा सरीखे बारीक से बारीक वस्त्र तैयार होने लगे। शुरू में लोग पैदल चलते थे और दूर जाना होता तो बैलगाड़ी या घोड़ा गाड़ी में बैठ कर चले जाते थे। मगर आज तो मोटर गाड़ी, रेल गाड़ी और हवाई जहाज तक चल पड़े।

जिससे घन्टे भर में हजारों मील चला जा सके। बल्कि चार छह पैण्ड भी चलना हो तो बाईसिकिल के आधार से चला जाता है। पैदल चलना एक प्रकार से अपराध सा समझा जाने लगा है। पैदल चलते समय पैरों में कॉटे न गड़ पावें। इसलिये पहले काठ की खड़ाऊ पहन कर निर्वाह किया जाने लगा। फिर मुर्दा चमड़े के जूते बनने लगे परन्तु आज तो निर्दयता पूर्वक बिचारे जिन्दा पशुओं का ही चमड़ा उधेड कर उसके जूते बनने लगे हैं। जिनको कि पहिन लेने के बाद वापिस खोलना असभ्य गवारू लोगों का काम है। जूता पहिने ही सो रहना चाहिये और जूता पहिने ही खाना भी खा लेना चाहिये। इसी में अपनी शान समझी जाने लगी है। गर्मी से बचने के लिये पहले तो दरख्तों की हवाली जाती थी फिर ताड़ या खजूर वगैरह के पत्तों के पंखे बना कर उनसे अपना काम निकाला जाने लगा। परन्तु अब तो बिजली के पंखोंका आविष्कार हो लिया है जिससे कि बटन दबाया और मनमानी हवा ले ली जावे। पीने के लिये पानी भी पहले तो तालाव या नदियों से लिया जाता था। फिर कुंवें; बावड़ियां बनने लगीं परन्तु अब तो हैण्डपम्प और नल आदि से मनमाना पानी मिलने लगा। मतलब यह कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अधिक से अधिक सुविधा प्राप्त करता जा रहा है। फिर भी किसी को शान्ति के दर्शन नहीं हो रहे है प्रत्युत विषमता होती जा रही है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्पर्धा की सड़कपर दौड़ लगाते हुये अपने आपको सबसे अगाड़ी देखना चाहता है। बस इसी चिन्ता में इसका सारा समय बीतता है! यहां पर हमें एक बात की याद आती है।

एक अच्छे करोड़पति सेठ थे। जिनकी कई दुकानें चलती थी, जिनकी उलझन में सेठजी खाना खाने को भी दौड़ते से आते थे तथा रात को सोने के लिये भी बारह बजे आते थे सो आते ही सो जाते थे । परन्तु स्वप्न में उन्हें व्यापार कारोबार की बातें ही सूझती थी। एक रोज सेठानी बोली हे पतिदेव ! आप इतने बड़े सेठ होकर भी आपके चित्त पर हर समय बड़ी व्यग्रता देखती हूँ। मेरे देखने में आपसे तो यह अपना पड़ोसी फूसिया ही सुखी मालूम पड़ता है जो समय पर मजदूरी करने जाता है और परिश्रम करके समय पर आ जाता है। सायंकाल के समय सितार पर दो घड़ी भगवान का भजन कर लेता है। सेठ ने कहा ठीक बात है ! एक काम कर ! यह कुछ रुपयों की थैली है सो जाकर उसके आंगण में गेर कर आजा। सेठानी ने ऐसा ही किया। सबेरा होते ही जब फूसिया ने अपने यहां थेली पड़ी देखी तो विचार किया मैं भगवान का भगत हूँ अतः भगवान ने खुश होकर मेरे लिये भेजी है। परन्तु जब उसके रुपये गिने गये तो एक कम सो थे। सोचा भगवान ने एक कम क्यों रहने दिया ? खैर कोई बात नहीं इसे पूरा कर लूंगा। अब वह उस रुपये को पूरा करने की फिकर में कुछ अधिक परिश्रम करने लगा। धीरे धीरे रुपया पूरा हुआ तो अब उनको रखने के लिये एक सन्दूक और एक ताला की भी जरूरत हुई। धीरे धीरे परिश्रम करके उनकी भी पूर्ति की। परन्तु अब वह संदूक उन रुपयों से भरी नहीं, कुछ खाली रह गई तो फिर उसे भर लेने की फिक्र रही इसी उधेड़बुन औरपरिश्रममें पड़कर उसनेवह सितार बजाना छोड़ दिया। बस यही हाल आजकी सारी जनता का हो रहा

है। एक घटे एक घटे वह पूरा हो जावे, कहीं से बिना कमाया पैसा आ जावे और मैं धनवान बन जाऊं। इसी दोड़धूप में सभी तरह की समुचित साधन सामग्री होने पर भी बिना सन्तोप भाव के सुख कहां से हो सकता है? सुख का मुख्य साधन तो सन्तोष है अतः वही वास्तविक धन है। उसके सामने और सब धन बेकार है जैसा कहा है कि:—

गो धन गजधन वाजि धन, कंचन और मकान।
जब आवे सन्तोष धन सब धन धूलि समान ॥१॥

भगवान महावीर स्वामी के समय में उनका भक्त एक गृहस्थ हो गया है। जिसकी कि धर्मपत्नी भी उसीके समान स्वभाव वाली थी दोनों आदमी मेहनत मजदूरी कर पेट पालते थे। उस गृहस्थ का नियम था कि मैं मेरे पास बारह आनों से अधिक नहीं रखूंगा। इसलिये लोग उसे पूणिया श्रावक कहते थे। एक रोज दोनों स्त्री पुरुष सुबह की सामायिक करने को बैठे थे। इधर आकाश मार्ग से होकर देवता लोग भगवान की वन्दना के लिये जा रहे थे। सो उनके ऊपर आकर उन देवताओं का विमान अटक गया। देवों ने सोचा ये दोनों भगवान के भक्त होकर भी इतने गरीब हैं। हम लोगों को इनकी कुछ सहायता करनी चाहिये। अतः उनके तवा, बेलन, चकलादि को सोना बनाकर आगे को रवाना हुये। इधर सामायिक समय पूर्ण होने पर पूणिया की स्त्री बोली, हे प्रभो! आज यह क्या बात हुई? मेरे चकला बेलन कहां गये? और उनकी एवज में ये चकला बेलन आदि कौन किसके यहाँ रख गया। हे भगवान! मैं

अब रोटियां बनाऊं तो कैसे क्या बनाऊं ? इनके हाथ भी कैसे लगाऊं ? इतने में देव लोग वापिस लौट कर आये और बोले कि आप लोगों की धर्म भावना से प्रसन्न होकर यह ऐसा तो हम लोगों ने किया है। हम लोगों की तरफ से आपको यह सब भेंट है, आप ले लेवें। पूणियां की स्त्री ने कहा प्रभो ! हमारे ये किस काम के। हमारे लिये तो वे सब ही भले जो कि मिट्टी और पत्थर के थे। इन सबका हम क्या करें। इन सबके पीछे तो हम लोग बन्ध जावेंगे, इनको कहां रखेंगे ? हमें यह सब नहीं चाहिये, आप अपने वापिस लीजिये, हमें तो अपने वे ही देने की कृपा कीजिये। इस पर आनन्दित होकर देवता लोग बोले ओह ! कितना बड़ा त्याग है और जय जयकार पूर्वक उन पर फूल बर्षाये।

गरीब कौन है ?

जिसके पास कुछ नहीं है वह। ऐसा कहना भूल से खाली नहीं है। जिसके पास भले ही कुछ न हो परन्तु उसे किसी बात की चाह भी न हो तो वह गरीब नहीं, वह तो अटूट धन का धनी है। गरीब तो वही है जिसके पास में अपने निर्वाह से भी अधिक सामग्री मोजूद है फिर भी उसकी चाह पूरी नहीं हुई है। जिसके पास खाने को कुछ भी नहीं है और उसने खाया भी नहीं मगर भूख बिल्कुल नहीं है तो क्या उसे भूखा कहा जावे ? नहीं। हां जिसने दो लड्डू तो खा लिये हैं और चार लड्डू उसकी पत्तल में धरे हैं जिनको कि वह खाने लग रहा है किन्तु फिर भी कह रहा है मुझे और चाहिये, इतनी ही से मुझे क्या होगा ? क्या इनसे मेरा

पेट भर सकता है ? तो कहना होगा वही भूखा है।

एक समय किसी वृक्ष के नीचे एक परमहंस महात्मा बैठेहुए थे। उनके पास होकर एक भोला गृहस्थ निकला तो—अहो ! यह बड़ा गरीब है, इसके पास तन पर कपड़ा नहीं, खाने को एक समय का खाना नहीं। ऐसा सोच कर कहने लगा स्वामिन् ! ये दो लड्डु है, लीजिये खा लीजिये। यह धोती है इसे पहर लीजिये और यह चार पैसे आपके हाथ खर्च के लिये देता हूं सो भी लीजिये एवं आराम से रहिये। साधुजी बोले भाई ! लड्डू किसी भूखे को, धोती किसी नंगे को और पैसे किसी गरीब को दे दो। यह सुन कर आश्चर्य पूर्वक गृहस्थ बोला प्रभो ! आपके सिवा दूसरा ऐसा कौन मिलेगा ? तब फिर साधु जी बोले भाई ! मैं तो भगवान का भजन कर रहा हूं जिससे मेरा पेट भरा रहता है। कुदरत ने मुझे बहुत लम्बी आसमान की चादर दे रखी है और चलने फिरने के लिये मेरे पैर हैं, अब मुझे और किसी चीज की जरूर नहीं है। यदि तुझे देना ही है तो मेरे पास बैठजा मै बताऊंगा उसे दे देना।

थोड़ी देर में मोटर में बैठा हुआ एक महाशय आया जिसे देख कर साधु ने उस गृहस्थ को इसारा किया कि इसको दे दो। गृहस्थ–मै मेरी ये चिजें किसी गरीब को दे देना चाहता था। स्वामी जी ने कहा, यह मोटर में बैठा जा रहा है सो गरीब है इसे दे दो। इसलिये आपको दे रहा हूँ। ऐसा कह कर उसकी गोद में रखने लगा तो वह चौक उठा और नीचे उतर कर साधु जी के पास आ, नमस्कार पूर्वक बोला–स्वामिन् ! आपने मुझे गरीब कैसे समझा ? देखिये मेरे पास यह एक ही मोटर नहीं और भी कई मोटरें हैं।

घोड़ा गाड़ी टिम टिम भी है। दश खत्तियां अनाज की भर कर रखता हूँ जो कि फसल पर भरली जाती है और फिर तेजी होने पर बेच कर खलास करली जाती हैं। एक सराफे की दुकान चलती है जिसमें पाकिस्तान से ले आया हुआ सोना खरीद कर रखा जाता है और वह दो रुपये तोला सस्ते में अपने ग्राहकों को दिया जाता है ताकि दुकान खूब चलती है। लोग समझते हैं कि पाकिस्तान का सोना खरीदना और बेचना बुरी बात है। परन्तु मैं तो जानता हूं कि इसमें कौनसी बुराई है गैर देश का माल अपने देश में आता है एवं यहां के लोगों को सस्ते में मिल जाता है अच्छी बात होती है। अगर कोई सरकारी निरीक्षक आया तो उसकी जेब गरम कर दी जाती है, काम बेखटके चलता है। एक कपड़े की दुकान है जिसमें खादी वगैरह मोटा कपड़ा न बेचा जाकर फैसनी बारीक कपड़ा ही बेचा जाता है ताकि मुनाफा अच्छा बैठता है। अब एक कपड़े की मिल खोलना चाहता हूं जिसमें दो करोड़ रुपये लगेंगे। सो एक करोड़ रुपये तो मेरे दानेश्वरसिंह की तरफ हैं। यद्यपि वह इस समय देना नहीं चाह रहा है। परन्तु मेरा भी नाम शोषणसिंह है। उसने महाविद्यालय, अनाथालय आदि संस्थायें खोल रखी हैं जोकि उसके नाम से चलती हैं। मैं कचहरी जाता हूँ नालिस करके उनकी संस्थाओं की ईमारत को कुड़क करवा कर वसूल कर लूंगा। बाकी एक करोड़ रुपयों के सेयर बेच कर लिये जावेंगे। इस पर साधुजी ने कहा कि इसी लिये मैं तुमको गरीब बतला रहा हूँ। तुम्हें पैसा प्राप्त करने की बहुत ज्यादा जरूरत है ताकि किसी सज्जन के द्वारा स्थापित की हुई प्रमार्थिक संस्थाओं को नष्ट-भ्रष्ट करके भी अपनी

हवस पूरी करना चाहते हो, एवं अन्नादि का अनुचित संग्रह करके भी पैसा बटोरने की धुन रखते हों।

परिग्रह ही सब पापों का मूल है।

मनुष्य अपने पतनशील शरीर को स्थायी बनाये रखने के लिये इसे हृष्ट पुष्ट कर रखना चाहता है। अत. जिन चीजों को इस शरीर के पोषण के लिये साधन स्वरूप समझता उन्हें अधिक से अधिक मात्रा में संग्रह कर रखने का और जिनको उसके बाधक समझता है उन्हे दूर हटाने के लिये ऐडी से चोटी तक का पसीना बहा देने में संलग्न हो रहने का अथक प्रयत्न करता है। इसी दुरुभाव का नाम ही परिग्रह है। अर्थात् इस शरीर के साथ मोह और शरीर की सहायक सामग्री के साथ ममत्व होने का नाम परिग्रह है। जिसके कि वश में हुआ यह शरीरधारी सब कुछ करता है। व्यभिचार में फंसता है, चोरी करता है, झूठ बोलता है और अपने पराये को कष्ट देने में प्रवृत हो रहता है।

पुरातनकाल में लोग अपने जीवन निर्वाह के योग्य वस्तुओं को अपने शारीरिक परिश्रम से सम्पादित करते थे, उन्हीं से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते थे। एक आदमी एक काम करता तो दूसरा आदमी किसी दूसरे काम में दिलचस्पी लेता था। इस प्रकार अपनी आवश्यक चीजों को अपने वर्ग से प्राप्त करते रह कर परस्पर प्रेम और सन्तोष पूर्वक एक परिवार का सा जीवन बिताया जाया करता था। जिसमें स्वार्थपूर्ति के साथ २ परमार्थ की भावना भी जीवित रहती थी। यदि कहीं विभिन्न वर्ग के व्यक्ति से भी

कोई चीज लेनी होती थी तो चीज के बदले चीज देकर ली जाती थी। जैसे एक जूतों की जोड़ी का मूल्य पांच सेर अनाज, एक गेहूं की बोरी का मूल्य दो बकरियां, एक चादर का दाम एक भेड़ किंतु आवश्यकता प्रधान थी, विनिमय गौण। धीरे धीरे विनिमय के लाभ को पहचान कर अधिक उत्पादन का प्रयत्न होने लगा। विनिमय आगे बढ़ा, नाना परिवारों की भांति गावों, शहरों और प्रान्तों देशों में परस्पर व्यवसाय होने लगा। एवं फिर उत्पादन का ध्येय ही व्यवसाय हो गया। उसमें सहूलियत पाने के लिये मुद्राओं को जन्म दिया गया। हर प्रकार के व्यवसाय का मूल सूत्र अब मुद्रा बन गई। सुगमता यहां तक बढ़ी कि जेब में एक पैसा भी न होकर लाखों करोड़ों का व्यापार सिर्फ जबान पर होने लगा।

मनुष्य ने जिसे एक साधन के रूप में स्वीकार किया था वही साध्य होकर आज उसके सिर पर चढ बैठा है। जिसके पास पैसा वही दर्शनीय जैसा, बाकी तो कोई वैसा न ऐसा, जैसी बाते कही जाने लगी हैं। प्रायः सभी के दिल में यही समाई हुई है कि उचित या अनुचित किसी भी मार्ग से पैसा प्राप्त किया जावे।

सोचने का विषय यह कि वह अर्थ है क्या चीज जिसको मनुष्य ने इतना महत्व दे रखा है? वह है मनुष्य की अपनी कल्पना का विषय। इसके सिवाय और कुछ भी नहीं। मनुष्य ने पहले सोने को मान्यता दी तो उसके सिक्के बने, फिर चान्दी के उसके बाद चमड़े के किन्तु अब कागज का नम्बर आ गया है। यदि मनुष्य अपने विचारों में लोहे को उतना महत्व देने लगे जितना कि वह सोने को दे रहा है तो लोहा सोना बन जावे और सोने को मिट्टी

जितना महत्व दे तो सोना मिट्टी के बराबर हो जा सकता है। खैर।

आज का मानव केवल पैसेका उपासक बना हुआ है। मानता है कि पैसे से ही सब काम चलता है अतः किसी भी उपाय से पैसा प्राप्त किया जावे। वह भी इतना हो तो बहुत ठीक जिससे कि मैं सब से अधिक पैसे वाला कहलाऊं बस इसी विचार से अनेकों की आजीजिका के ऊपर कुठाराघात करके भीं अपने आपकाही खजाना भरना चाहता है। आज अनेक मिल और फैक्ट्रियां खुलती हैं। उनमें क्या होता है ? लाखों आदमियों का काम एक मशीन से ले लिया जाता है। उसकी आय एक श्रीमान के यहां आकर जमा हो जाती है। हां उनमें हजार पॉचसौ आदमी जरूर काम पर लगते हैं। वह भी जहां लाखों का पेट भर सकता था वहां सिर्फ इने गिने आदमियों की पेटपूर्तिका कारण हो रहता है एवं उन काम करने वालों का भी स्वास्थ्य उस मशीन के अथक परिश्रम से खराब हो रहता है। परन्तु जो लोग आप उससे धन कमा कर इकट्ठा करना चाहते हैं उन्हें इस वात की चिन्ता नहीं। इसी लिये तो आज बेकारी बढ़ती चली जा रही है। जो विधवा बहिने कपास की चरखियां चला कर, चरखे के द्वारा सूत कात कर अपना पेट पालती थी या किसी श्रीमान का पीसना पीस कर अपनी भूख मिटाती थी। वे सबआज बिना धन्धे के भूखों मर रही हैं।

कोई सेठ साहूकार किसी को नोकर भी रखता है तो इसीलिये कि इसके द्वारा मेरा कारोबार चलेगा, जो इसको तनखा दूंगा मुझे इसके द्वारा अधिक आमदनी होगी। नोकर भी यही सोचता है कि चलो ये मुझे जो नोकरी देते हैं मै अभी किसी भी दूसरे रास्ते से उतनी प्राप्ति नहीं कर सकता हूं। इसलिये अभी तो यही रहना

चाहिये और किसी दूसरे काम की निगाह करते रहना चाहिये जहां कोई इससे भी अधिक प्राप्ति का मार्ग हाथ आया की इसको छोड़ दूंगा। 'गुरु चेला लालची दोनों खेलें दाव' वाली कहावत चलती है। स्वामी और सेवकपन का आदर्श बिल्कुल लुप्त हो गया है, सिर्फ पैसे से यारी है। जिधर देखो उधर यही हाल है। अपनी धन संग्रह की भावना को पोषण देते हुये पर-परिशोषण ही जगाया जा रहा है। पैसे के द्वारा जो चाहे सो कर लिया जाता है और अपनी शान बताई जाती है। इतर सब बातें तो रहने दीजिये आज तो शासन सत्ता भी पैसे के आधार पर ही चलती देखी जा रही है। जब मतदान का अवसर आया और आपके पास नोट हों उनको बखेर दीजिये और अपने पक्ष में वोट ले लीजिये। फिर क्या? सत्ताधीश हो रहिये एवं फिर जो नोट आपने फैंके थे उससे कई गुणे नोट थोड़े ही दिनों में बटोर लीजिये। हाय भारत माता! तेरी सन्तान की आज क्या दशा हो गई है। जहां राजा और प्रजा में पिता पुत्रवत् सौहार्द भाव था वहां आज यह दशा देखने को मिल रही है, इस पैसे के प्रलोभन में आकर। राज्य शासक प्रजा के सर्वस्व हड़प जाना चाहते हैं तो प्रजा राज्य को नष्ट कर देने के लिये कमर कस रही है। आजसे करीब बाईस सौ वर्ष पूर्व ईरान से आकर सिकन्दर महान ने भारत पर आक्रमण किया था तो पौरष राजा से उसकी मुठभेड़ हुई। यद्यपि विजय सिकन्दर के हाथ लगी फिर भी पौरप की वीरता को देख कर सिकन्दर को बड़ी प्रसन्नता हुई। दोनों एक जगह बैठ कर परस्पर बातें कर रहे थे। इतने ही में दो आदमी और आये जो बोले कि आप दोनों महानुभाव विराज रहे हो. हम

दोनों का एक झगड़ा मिटा दीजिये। उन आगन्तुकों में से एक ने कहा कि मैंने इनसे कुछ जमीन मोल ली थी। उसे खोदते हुए वहां पर कुछ स्वर्ण निकला है, मैंने इससे कहा यह सब स्वर्ण तो आपका है आप लीजिये, मैंने तो सिर्फ आपसे जमीन खरीदी है ना कि यह स्वर्ण। इस पर यह कहते हैं कि वाह! जब मैंने तुम्हें जमीन दी तो फिर यह स्वर्ण जोकि उस जमीन में से निकला है उससे पृथक थोड़े ही रह गया। यह सुन कर सिकन्दर से पौरष बोला कि इसका इन्साफ आप करें! किन्तु सिकन्दर ने कहा—नहीं! यह सब प्रजा आपकी है। यह प्रान्त भी आपका है। आप ही यहां के राजा हैं। मैंने सिर्फ आपको अपने दो हाथ दिखाये हैं। मेरा यहां कुछ नहीं है, सो सब आपका है। इसलिये आपही इसका निबटारा कीजिये।

क्षण भर विश्राम लेकर पौरुष ने उस प्रार्थना करने वाले से कहा कि भाई आपके कोई सन्तान नहीं है? तो जवाब मिला कि मेरे एक लड़की है और इनके एक लडका। पौरुष ने कहा कि उन दोनों का आपस में विवाह करदो और यह सोना उनको दहेज के रूप में दे दो। इससे वे दोनों तो बड़े खुश हुए किन्तु सिकन्दर ने कहा आपने यह क्या किया? यह सब माल तो सरकार के योग्य था पौरुष ने कहा अब भी तो वह सरकार का ही तो है बल्कि जो भी प्रजा के पास में धन माल है वह सरकार का ही है। प्रजा भी सारी सरकार की ही है। सरकार उससे जब जो चाहे ले सकती है। मेरी समझ में प्रजा उसके देने में कुछ आगा पीछा नहीं सोचेगी। सिकन्दर को इस पर विश्वास नहीं हुआ वह बोला कि मैं इसको देखना चाहता हूं। पौरुप ने डोण्डी पिटवादी कि सरकार को जरूरत

है जिसके पास जितना सोना हो यहाँ लाकर रख देवे। श्याम तक अपने २ नाम की चिट लगाकर जिसके पास जो सोना था वहाँ लाकर डाला गया। बहुत बड़ा ढ़ेर लग गया। सवेरा होते ही जो सोने क पर्वतसरीखा ढेर और राजा तथा प्रजा में इस प्रकार का उदारता पूर्ण व्यवहार देखकर सिकन्दर अचम्भे में आ गया और बोला कि धन्यवाद है आपको आपकी प्रजा को। मैंने ऐसे सन्तोष-पूर्ण लोगों को कष्ट दिया इसका मुझे पूर्ण पश्चाताप है।

लोगों को यह कह दिया गया कि अभी कोई जरूरत नहीं है अत. अपना २ सोना वापिस ले जाओ तो सबने ठीक अपने अपने नाम का सोना बड़ी शान्ति के साथ ले लिया विचार का विषय है कि उस समय की बात और आज की बात में कितना अन्तर है, कहां वह प्रकाशमय दिन था जोकि लोगों को सन्मार्ग पर स्थिर किये हुवे था और कहाँ आज अन्धकारपूर्ण रात्रि है जिसमे कि लोग दिग्भ्रान्त होकर इधर उधर टक्कर खा रहे हैं।

न्यायोपात्तधन

उपर बताया गया है कि परिग्रह अनर्थ का मूल है और धन है वह परिग्रह है। अत:वह त्याज्य है परन्तु याद रहे कि इसमें अप-वाद है क्योंकि पारिवारिक जीवन बिताने वाले गृहस्थों को अभी रहने दिया जाय, उनका तो निर्वाह बिना धन के हो ही नहीं सकता परन्तु मैं तो कहता हूं कि परिवार से दूर रहने वाले त्यागी तपस्वियों के लिये भी किसी न किसी रूप में वह अपेक्षित ठहरता है क्योंकि उनको भी तब तक यह शरीर है इसे टिका रखने के लिये

भोजन तो ले लेना पड़ता ही है जो कि धन के आधार पर निर्धारित है। यह बात दूसरी कि उनका देशकाल उन्हें स्वयं धनोपार्जन करने को नहीं कहता है। उन्हें तो गृहस्थ अपने परिश्रम से उपार्जन किये हुवे धन के द्वारा सम्पादित अन्न में से श्रद्धापूर्वक जो जितना कुछ दे उसी पर निर्वाह करना होता है। परन्तु गृहस्थ जीवन उससे विपरीत होता है उसे उनके अपने परिवार के एवं अपने आपके भी निर्वाह को ध्यान में रखकर चलना पड़ता है। अतः उसके लिये धन को आवश्यक मानकर न्यायपूर्वक कमाई करने की आज्ञा है। न्यायवृत्ति का सीधा सा अर्थ होता है उचित रीति से शारीरिक परिश्रम करना। उससे जो भी लाभ हो उसमें से कुछ एक भाग बाल वृद्ध रोगी त्यागी और प्राधूर्णिक की सेवा करके शेष बचे हुए से अपना निर्वाह करना एवं आय से अधिक व्यय कभी नहीं करना।

धन्यकुमार चरित में किसान हल जोतकर अपने विश्राम स्थल पर आता है और उसकी घर वाली जब उसके लिये भोजन लाकर देती है तो धन्यकुमार को भी खाने के लिये कहता है कि आइये कुमार भोजन कीजिए। जवाब मिलता है कि आप ही खाइये, मैं तो मेहनत किये बिना नहीं खा सकता। आप यदि मुझे खिलाना ही चाहते हैं तो मुझसे अपना कुछ काम ले लीजिये। इस पर लाचार होकर किसान को धन्यकुमार से हल जोतने का काम लेना पड़ा। क्योंकि उसे खिलाये बिना वह भी खा नहीं सकता था और धन्यकुमार उसका काम किये बगैर कैसे खाये। अतः धन्यकुमार ने प्रसन्नतापूर्वक हल जोतने का कार्य किया। मतलब यह कि न्याय-

न्याय वृत्ति वाला मनुष्य किसी से माँगना तो दूर रहा वह तो किसी का दिया हुआ भी लेना ठीक नहीं समझता। वह तो अपने आप पर भरोसा रखता है। इसी धन्यकुमार की स्त्री सुभद्रा जब इसे ढूंढ़ने के लिये अपने सास सुसर के साथ निकलती है और मार्ग में लुटेरों से पाला पड़ जाता है लुट जाते हैं तो फिर जाकर जहां तालाब खुद रहा था वहां पर मिट्टी खोदकर डालने के काम में लगते हैं। मालिक आकर देखता है तो कहता है कि ये लोग इतना परिश्रम क्यों कर रहे हैं। मिट्टी खोद कर क्यों फेंक रहे हैं। ये सब लोग तो हमारे अतिथि है मेरे घर पर चलें और आराम से रहें। ऐसा भी न करे तो भी कम से कम इतना तो अवश्य करे कि जिन जिन चीजो की आवश्यकता हो मेरे यहां से मंगा लेवें। इस पर सुभद्रा ने कहा कि मिट्टी खोदकर डालना तो हमारा कर्त्तव्य है, श्रमकर खाना यह तो मनुष्य की मनुष्यता है किन्तु किसी के यहां से यों ही ले आना यह तो गृहस्थ जीवन का कलंक है, घोर अपराध है। हम लोग ऐसा कैसे कर सकते हैं।

दूसरे की कमाई खाना गृहस्थ के लिये कलंक है।

यह बात है भी ठिक क्योंकि कमाई करने के योग्य होकर भी जो दूसरे की ही कमाई खाता है वह औरों को भी ऐसा ही करने का पाठ सिखाता है। एवं जब और सब लोग भी ऐसा ही करने लग जावें तो फिर कमाने वाला कौन रहे। ऐसी हालत में फिर सभी भूखे मरे निर्वाह कैसे हो। इसीलिए न्यायवृत्ति वाला महानुभाव औरों की कमाई की तो बात ही क्या ? खुद अपने पिता की कमाई

पर भी निर्भर होकर रहना अपने लिये कलंक की बात मानता है।
जैसा कि उत्तम स्वार्जितं वित्तं मध्यमं पितुरर्जितं।

अधमं भ्रातृ वित्तंस्या स्त्रीवित्तंचाधमाधमं ॥१॥

इस प्रसिद्ध नीति वाक्य से स्पष्ट होता है और इस विषय में उदाहरण हमारे पुरातन साहित्य में बहुतायत से मिलते हैं। एक शाहजहाँ नाम का मुसलमान बादशाह हो गया है। उसकी बेगम नूरजहां अपने हाथों खाना बनाया करती थी। एक रोज रोटियाँ बनाते समय उसके हाथ जल गये। फिर भी वह उसी प्रकार रोज खाना बनाती रही किन्तु एक दिन उसके हाथों में पीड़ा अधिक बढ़ गई जिससे रोटी बनाने में वह बहुत कष्ट अनुभव करने लगी बादशाह जब खाना खाने के लिये आया तो वह रो पड़ी. बादशाह ने पूछा क्या बात है? रोती क्यों हो? बेगम बोली आप ही देख रहे हो मेरे हाथों में पीड़ा बहुत है जिससे रोटिया बनाने में अड़चन पड़ती है। कम से कम जब तक मेरे हाथ ठीक न हो पाये तब तक एक बान्दी का प्रबन्ध कर दो ताकि वह खाना बना दिया करे। जवाब मिला कि बात तो ठीक है परन्तु अगर बान्दी रखी जाय तो उसे उसका वेतन कहाँ से कैसे दिया जावे? बेगम ने आश्चर्यसे कहा बादशाह सलामत यह आप क्या कहरहे हैं जबकि आपके अधिकार मे दिल्ली की बादशाहत है फिर भला आपके पास पैसों की क्या कमी है? खजाने भरे पड़े हैं। बादशाह बोला कि खजाने में जो पैसा है वह तो पिता की दी हुई धरोहर है जोकि प्रजा के उपयोग की चीज है, उस पर मेरा जाति अधिकार क्या हो सकता है? मैं तो एक रूमाल रोजमर्रा तैयारकर लेता हूं उसकी आय से मेरा और तुम्हारा गुजर बसर होता है वही मेरी सम्पत्ति है।

न्यायोचित वृत्ति

सब से पहिला तो यह है कि जमीन में हल जोत कर अन्न पैदा किया जाय, वह इसी विचार से कि मैंने जिसका अन्न कर्ज लेकर खाया है वह ब्याज वाढी सूधा चुका दिया जावे एवं बाल बच्चों सहित मेरा उदर पोषण हो जावे और द्वार पर आये हुये अतिथि का स्वागत भी हो जावे। हां कहीं—मैं खेती तो करता हूं परन्तु इसमें उत्पन्न हो गया हुआ अन्न तो अधिकांश उसी के यहां चला जावेगा जिसके यहां का अन्न मैंने पहले से लेकर खा रखा है। ठीक तो वह मर जावे ताकि मुझे उसे न देना पड़े और सारा अन्न मेरे ही पास में रह जावे जिससे कि मैं अन्नाधिपति बन कर भूतल पर प्रतिष्ठा पाऊं, इस तरह का विचार आ गया तो वह खेती करना अन्याय पूर्ण हो जाता है।

खेती दुनियां के लोगों की परमावश्यक वस्तुओं को उत्पन्न करने वाली है। अतएव खेती करना अपना कर्तव्य समझ कर उसे तरक्की देना, अच्छी से अच्छी खेती हो, ज्यादा से ज्यादा अन्न और भूषा पैदा हो इसकी कोशिश करना, उसे हर तरह की विघ्न बाधाओं से बचाये रखने की चेष्टा करना यह तो एक भले किसान का कर्तव्य होता है। मगर मेरी खेती को चर जाने वाले ये बन्दर, हिरण वगैरह पैदा ही क्यों हुये। ये अगर नष्ट हो जावें, दुनियां में इनकी सत्ता ही न रहे तो अच्छा हो। इस प्रकार की संकीर्ण भावना रखना सो कृषकता का दूषण है। क्योंकि दुनियां तो प्राणियों के समूह का नाम है जिसमें सभी प्राणी अपना अपना हक रखते हैं।

अपनी २ जगह सभी सार्थक हैं फिर भला यह कौनसी समझदारी है कि मनुष्य अपने स्वार्थ के वश होकर औरों का सत्यानाश चाहे। मनुष्य को तो चाहिये कि अपने कर्तव्य का पालन करे, होगा तो वही जोकि प्रकृति को मंजूर है। यहां पर हमें एक बात का स्मरण हो आता है जो कि आचार्य श्री शान्ति सागर महाराज के गृहस्थ जीवन की है।

श्री शान्तिसागर महाराज का जन्म पटेल घराने में हुआ था। जिसका परम्परागत धन्धा खेती करना था। उनके पिता ने उन्हें खेती की रखवाली करने पर नियत किया। अतः पिता की आज्ञा से आप रोज खेत पर जाया करते थे। एक दिन एक बिजार आया और उनके खेत में चरने लगा। कुछ देर में उन्होंने उसे निकाल कर दूर हटा दिया मगर वह थोड़ी देर बाद फिर उन्हीं के खेत में चरने लगा। एवं वह अभ्यासानुसार रोज वहीं आकर चरने लगा। कुछ दिन बाद उनके पिता खेत पर आये और देखा तो बिजार चर रहा है खेत में! देख कर पिता बोले भैया तुम क्या रुखाली करते हो। देखो! बिजार खेत को बिगाड़ रहा है। जवाब मिला कि पिताजी! मैं क्या करूं? मैं तो इसे बहुत निकालता हूं मगर यह बार बार यहीं पर आ जाता है। क्या बात है? दुनिया में धन सीर का है इसके हिस्से का यह भी खा जावेगा, अपना है सो रह जावेगा। पिता ने अपने मन में कहा बड़ा अजीब लड़का है। खैर, सुना जाता है कि वहां और सालों से भी अधिक अन्न उत्पन्न हुआ। ठीक है नेक नीयत का फल सदा अच्छा ही होता है। मगर कच्चे दूध से पोषण पाये हुये इस मानव को विश्वास भी तो हो। यह तो समझता है कि

मेरी मेहनत से जो कुछ भी कमाता हूँ वह सब मेरा है। उसमें दूसरे का क्या हक है ? मैं किसी दूसरे के धन को हड़प जाऊं यही बहुत है। परन्तु मेरे धन में से एक दाना भी कैसे खा जा सकता है ? बस इस खुदगर्जी की वजह से ही यह अपने कार्यों में पूर्णरूप से सफल नहीं हो पाता है। प्रत्युत कभी २ तो इसको लाभ के स्थान पर नुकसान भुगतना पड़ता है।

महाराजा रामसिंह

महाराजा रामसिंह जयपुर स्टेट के एक प्रसिद्ध भूपाल हो गये हैं। जोकि एक बार घोड़े पर बैठ कर अकेले ही घूमने को निकल पड़े। घूमते घूमते बहुत दूर जंगल में पहुंच गये तो दोपहर की गर्मी से उन्हें प्यास लग आई। एक कुटिया के समीप पहुँचे जिसमें एक बुढ़िया अपनी टूटी सी चारपाई पर लेटी हुई थी। बुढ़िया ने जब उन्हें अपने द्वार पर आया हुआ देखा तो वह उनके स्वागत के लिये उठ बैठी और उन्हें आदर के साथ चारपाई पर बैठाया। राजा बोले कि माता जी मुझे बड़ी जोर से प्यास लग रही है। अतः थोड़ा पानी हो ता पिलाइये। बुढ़िया ने अतिथि सत्कार को दृष्टि मे रखते हुए उन्हें निरा पानी पिलाना उचित न समझा। इसलिये अपनी कुटिया के पीछे होने वाले अनार के पेड़ पर से दो अनार तोड़ कर लाई और उन्हें निचोड़ कर रस निकाला तो एक डबल गिलास भर गया जिसे पीकर राजा साहेब तृप्त हो गये। कुछ देर बाद उन्होंने बुढ़िया से पूछा–तुम इस जंगल में क्यों रहती हो तथा तुम्हारे कुटुम्ब में और कौन है ? जबाब मिला कि यहां जंगल

में भगवान भजन अच्छी तरह से हो जाता है। मै हूँ और मेरे एक लड़का है जो कि जलाने के लिये जंगल में से सूखी लकड़ियां काट लाने को गया हुआ है। यह जमीन जो मेरे पास वहुत दिनों से है पहले ऊपर थी अत. सरकार से दो आने बीघे पर मुझे मिल गई थी। जिसको भगवान के भरोसे पर परिश्रम करके हमने उपजाऊ बनाली है। अब इसमें खेती कर लेते हैं जिससे हम दो मां बेटों का गुजर बसर हो जाता है एवं आए हुए आप सरीखे पाहुणे का अतिथि सत्कार बन जाता है। यह सुन राजा का मन बदल गया। सोचने लगे ऐसी उपजाऊ जमीन और दो आने बीघे पर छोड़ दी जावे? बस फिर क्या था उठ कर चल दिये और जाकर दो रुपये बीघे का परवाना लिख कर भेज दिया। अब थोड़े ही दिनों में अनार के जो पेड़ उस खेत में लगाये हुये थे वे सब सूखे से हो गये और वहां पर अब खेती की उपज भी बहुत थोड़ी होने लगी। बुढ़िया बेचारी क्या करे लाचार थी। कुछ दिन बाद महाराज रामसिंह फिर उसी प्रकार घोड़े पर सवार होकर उधर से आ निकले। बुढ़िया की कुटिया के पास आ ठहरे तो बुढ़िया उनका सत्कार करने के लिये पेड़ पर से अनार तोड़ कर लाई परन्तु उन्हें विदार कर देखा तो बिल्कुल शुष्क, काने कीड़ोंदार थे। अत उन्हें फैंक कर और जरा अच्छे से फल तोड़ कर लाई तो उनमें से भी कितने ही तो सड़े गले निकल गये। तीन चार फल जरा ठीक थे उन्हें निचोड़ा तो मुश्किल से आधा गिलास रस निकल पाया। यह देखकर महाराज रामसिंह झट बोल उठे कि माता जी! दो तीन वर्ष पहिले जब मैं यहां आया था तो तुम्हारे अनार बहुत

अच्छे थे। दो अनारों में से ही भरा गिलास रस का निकल आया था। अबकी बार यह क्या हो गया? बुढ़िया ने जवाब दिया कि इस बार जी क्या कहूँ निगोड़े राजाकी नीयत में फर्क आ गया उसी का यह परिणाम है। उसे क्या पता था कि जिससे मैं बात कर रही हूँ वह राजा ही तो है। वह तो उन्हें एक साधारण घुड़सवार समझकर सरल भाव से ऐसा कह गई। राजा समझ गये कि बुढ़िया ने अपने परिश्रम से जिस जमीन को उपजाऊ बनाया था उस पर तुमने अपने स्वार्थवश हो अनुचित कर थोप दिया यह बहुत बुरा किया।

बन्धुओ जहां सिर्फ जमीनदार की बुरी नीयत का यह परिणाम हुआ वहां आज जमीनदार और काश्तकार दोनों ही प्रायः स्वार्थवश हो रहे हैं। ऐसी हालत में जमीन यदि अन्न उत्पन्न करने से मुंह मोड़ रही है इसमें आश्चर्य ही क्या है? हम देख रहे हैं कि हमारे बाल्यजीवन में जिस जमीन में पच्चीस-तीस मन बीघे का अन्न पैदा हुआ करता था वही आज प्रयत्न करने पर भी पांच छः मन बीघे से अधिक नहीं हो पाता है। जिस पर भी आये दिन कोई न कोई उपद्रव आता हुआ सुना जाता है। कहीं पर टिड्डियां आकर खेत को खा गई तो कहीं पानी की बाढ़ आ गई या पाला पड़ कर फसल नष्ट हो गई इत्यादि यह सब हम लोगों की ही दुर्भावनाओं का ही फल है। यदि हम अपने स्वार्थ को गौण करके सिर्फ कर्तव्य समझकर परिश्रम करते रहे तो ऐसा कभी नहीं हो सकता।

हमारी आंखों देखी बात

एक बहिन जी थी जिसके विचार बड़े उदार थे। उसके यहां खेती का धन्धा होता था। सभी आवश्यक चीजे प्रायः खेती से प्राप्त हो जाया करती थी। अतः प्रथम तो किसी से कोई चीज लेने को वहां जरुरत ही नहीं होती थी। फिर भी कोई चीज किसी से लेनी हो तो बदले में उससे भी अधिक परिमाण की कोई दूसरी चीज अपने यहां की उसे दिये बिना नही लेती थी। वह सोचती थी कि मेरे यहां की चीज मुझे जिस तरह से प्यारी है उसी प्रकार दूसरे को उसकी अपनी चीज मुझसे भी कहीं अधिक प्यारी लगती है। हाँ जब कोई भी भाई आकर उसके पास से मांगता था कि बहिन जी क्या आपके पास गेहुं हैं? यदि हो तो दो रु० की मुझे दे दीजिए। इस पर वह बड़ी प्रसन्नता के साथ गेहूँ उसे दे देती मगर रुपये नहीं लेती थी। कहती थी कि भाई जी रुपये देने की क्या जरूरत है ये गेहुँ आपके और आपकी बहिन। आज आप मुझसे ले जाते हैं तो कभी यदि मुझे जरूरत हुई तो मैं आपसे ले आ सकती हूं। मै रुपये तो आपसे नहीं लेऊंगी आप गेहूँ ले जाइये और अपना काम निकालिये। आप मुझे रुपये दे रही हैं इसका तो मतलब यह कि अपना आपस का भाईचारा ही आज से समाप्त करना चाहते हैं मै इसको अच्छी बात नहीं समझती इत्यादि रूप से वह सभी के साथ वात्सल्यपूर्ण व्यवहार रखती थी अब एक बार माघ के महीने की बात है कि बादल होकर वर्षा होने लगी। आसपास के सब खेत बरबाद हो गये मगर उपर्युक्त बहिन

जी के चार खेत थे उनमें किसी में कुछ भी नुकसान नहीं हुआ इसलिए मानना पड़ता है कि हमें जो कुछ भला या बुरा भोगना पड़ रहा है। वह सब हमारी ही करणी का फल है।

शिल्पकला

यद्यपि खाने पीने और पहरने ओढने वगैरह की हमारे जीवन निर्वाह योग्य चीजें सब खेती करने से प्राप्त होती है जमीन जोतकर पैदा करली जाती हैं फिर भी इतने मात्र से ही वे सब हमारे काम में आने लायक हो रहती हों सो बात नहीं किन्तु उन्हें रूपान्त करने से उपयोग में लाई जाती हैं जैसे कि खेत में उत्पन्न हुये अन्न को पीस कर उसकी रोटियां बनाकर खाई जाती हैं अथवा इसे भुनकर चबाया जाता है। कपास को चरखी में से निकालकर उसे पौन्दकर फिर उसे चर्खे से कातकर सूत बनाया जाता है और बाद में उसका करघे के द्वारा वस्त्र बुनकर पहिना जाता है। तिलों को तीलकर तेल बनाया जाता है इत्यादि सब शिल्पकला कहलाती है जो कि अनेक प्रकार की होती है। इस शिल्पकला के विकास में भी हमारे पूर्वजों ने तो अहिसा की पुट रखी थी एक कोलू में दिन भर में एक मन तिल पिलते थे जिसमें कम से कम एक बैल और एक आदमी लगकर उनके निर्वाह का ध्यान होता था आज की दशा उसके बिल्कुल विपरीत है। आज इसके लिये पशुकी तो कोई जरूरत ही नहीं समझी जाती मिलों में लोहे की मशीन से कई मन तिल एक ही आदमी के द्वारा फोड डाले जाते हैं। आज प्रायः हर एक बात में हर जगह ऐसा ही ता हुआ देखा जाता है जहां कि पैसे से

पैसा बटोरा जाता है जोकि एक श्रीमान् के यहां आकर इकट्ठा हो जाता है और सब भाई बहिन बेकार होकर भूख मरने लग रहे हैं। इस प्रकार आज का शिल्प आम प्रजा के लिये जिवनोपाय न रह कर जीवनघातक बनता चला जा रहा है। शिल्प को बोलचाल की भाषा मे दस्तकारी कहते हैं जिसका अर्थ होता है हाथ से काम करना परन्तु आज तो वही सारा काम हाथ से न किया जाकर लोह यन्त्रों से लिया जा रहा है। जिससे विकरण तो अधिक मात्रा में होता है और आवश्यक वस्तुये भी सुलभ से सुलभतर होती चली जा रही हैं एवं इसी प्रलोभनवश आज के लोग प्रसन्नता पूर्वक इसी मार्ग को अपना रहे हैं। फिर भी जरा गहराई से सोच कर देखा जावे तो इसमें देश की महती क्षति हो रही है। उदाहरण के तौर पर जबकि मुद्रणालय नहीं थे, लोग हस्तलिखित पुस्तकों से काम लेते थे तो प्राय: आदमी लिखने का अभ्यासी था और अपनी पुस्तक को बड़ी सावधानी के साथ रखता था। एक पुस्तक से ही वर्ष दो वर्ष तक ही नहीं सैंकड़ों हजारों वर्षों तक काम निकलता था। तथा जो जिस विद्या को पढ़ लेता था उसे अवश्य याद रखता था। आज स्वयं लिखने का तो काम ही उठ गया, जब जरूरत हुई मुद्रणालय से पुस्तक खरीद ली जाती है। प्रत्येक विद्यार्थी के लिये भिन्न २ पुस्तक होनी चाहिये। इतनी ही बात नहीं बल्कि एक विद्यार्थीकि पढ़ने के लिये जब तक कि वह पुस्तक को पढ़कर समाप्त करता है उतने समय में उसकी अनेक प्रतियां फट कर रद्दी बन जाती हैं एवं उसकी वह विद्या फिर भी पुस्तकस्थ ही रह जाती है। उसे उसका बहुत कम अन्श यादहो पाता है सो भी बहुत स्वल्पकाल

परीक्षा पास कर लेने तक के लिये। क्योंकि विचारधारा यह रहती है कि पुस्तक तो है ही फिर याद रखने की क्या आवश्यकता है जब जरूरत होगी पुस्तक को देख लिया जावेगा। पहले जब रेल, मोटर जैसा कोई आम साधन नहीं था तो लोग पैदल चलना जानते थे। हमारे देखते से भी बाज बाज आदमी ऐसा था कि सुबह से श्याम तक साठ पैंसठ मील तक की यात्रा कर लिया करता था। परन्तु जब रेल और मोटरों का आविष्कार हुआ तो लोग पैदल चलना भूल गये। जहां भी जाना हुआ कि बैठ रेल मे, या मोटर में और चल दिये। पैदल चलना एक प्रकार का अपराध समझा जाने लगा। अपने यहाँ से कहीं पांच मील की दूरी पर दूसरे गांव जाना हुआ अपने गांव से रेल स्टेशन एक डेढ़ मिल दूर है, उधर जिस गांवको जाना है वह भी स्टेशन से एक डेढ़ मील दूरी पर है फिर भी रेल में बैठ कर चलना। भले ही रेल के आने में एक डेढ़ घन्टे की देर हो तो मुसाफिर खाने में बैठ कर उसकी प्रतीक्षा में लगा देना मगर पैदल चल कर उस गाव नही पहुँचना। भले ही रेल में बैठने की जगह न हो तो हेण्डिल पकड़ कर लटकते हुए ही चलना पड़े। एवं जब से साईकलों का प्रादुर्भाव हुआ तब से तो और भी सोचनीय परिस्थिति हो गई। शौंच को भी जाना हुआ तो भी चूतड़ के नीचे साईकिल लगाई तब चले, मानो चलने के लिये प्रकृति ने पैर दिये ही न हों। मतलब जैसे जैसे साधन सामग्री की सुलभता होती चली गई वैसे २ मनुष्य अकर्मण्य होता जाकर प्रत्युत आवश्यकताओं से घिरता जा रहा है और जीवन शान्ति के बदले अशान्तिमय हो गया है।

व्यापार

व्यापार शब्द का अर्थ होता है किसी चीज को व्यापकता देना यानि आवश्यकताओं से अधिक होने वाली एक जगह की चीज को जहां पर उसकी आवश्यकता हो वहां पर पहुँचा देना एवं सब जगह के लोगों के लिये सब चीजों की सहूलियत कर देना ही व्यापार कहलाता है। व्यापार का मतलब जैसा कि आजकल लिया जाने लगा है। धन बटोरना सो कभी नहीं हो सकता है किन्तु जनसाधारण के सम्मुख उसकी आवश्यक चीज को एक सरीखी दर पर उपस्थित करना और उसमें जो कुछ उचित कमीशन कटौती मिले उस पर अपना जीवन निर्वाह करना ही व्यापार का सच्चा प्रयोजन है। उदाहरण के लिये जैसे हिन्दुस्तान टाइम्स वगैरह दैनिक समाचार पत्रों के बेचने वाले लोग घूम घूम कर बेचते हैं। डेढ़ आना या पांच पैसे जो उन पत्रों का मूल्य निश्चित किया हुआ है ठीक उसी मूल्य पर सबको देते हैं। श्याम तक जितने पत्र उनके द्वारा बिके, प्रति पत्र एक पैसे के हिसाब से उनको कमीशन मिल जाया करता है जिससे उन बेचने वालों का गुजारा हो जाता है और पढ़ने वालों को घर बैठे पढ़ने के लिये पत्र मिल जाता है। सीधा पत्रालय से भी पत्र लिया जाये तो भी उन्हें उतने में ही मिलेगा। अतः उसकी विशेष हानि नहीं होती। ताकि लेने वाले और बेचने वाले दोनों को सुभीता होता है।

आढ़तिया अपने साहूकार के माल को बाजार भाव से बेचता है या अपने ग्राहक को बाजार से परिश्रम कर माल दिलवाता है एवं

लेने वाले और मालदार के बीच में विश्वास का सूत्रधार बन कर रहता है तथा उनसे उचित आढ़त लेकर उस पर अपना निर्वाह करता है तो यह व्यापार है। मगर वही आढ़तिया कहलाने वाला व्यक्ति लोभवश होकर किसी प्रकार का बीच बचाव कर खाने लगता है तो ऐसा करना पाप है और फिर वह व्यापारी न रह कर चोर कहलाने लायक हो जाता है।

बाजार के माल को हठात अधिक दर में खरीद कर अपने यहां ही इकट्ठा कर रखना, किसी प्रकार की धौंस दिखा कर अपने माल को ऊंची दर से बेचना एवं दूसरे के माल को नीची दर से खरीदने की विचारधारा रखना, किसी एक को वही माल कम दर पर दे देना, किन्तु किसी भोले भाई से उसी के अधिक दाम ले लेना इत्यादि चौरबाजारीपन व्यापार का कलङ्क हैं। हां, बाजार में जो माल बिकते बिकते शेष बच रहा है और माल मालिक उसे बेच कर अपना पल्ला खलास करना चाहता है ऐसे माल को कुछ साधारण से कम दर में खरीद कर अपने पास संग्रह कर रखना बुरा नहीं बल्कि अच्छा ही है ताकि यदि कोई कल को भी उस माल को लेने वाला आवे तो उसे भी आसानी से वह माल उसी साधारण दर पर दिया जा सके। इस प्रकार बाजार की सम्पन्नता बनी रहे।

उदारता का फल सुमधुर होता है

रामपुर नाम के नगर में एक रघुबर दयाल नाम के बोहराजी रहते थे। जिनके यहां कृषककारों को अन्न देना जिसे खाकर वे खेती का काम करें और फसल पककर तैयार होने पर मन भर अन्न

के बदले मे पांच सेर मन अन्न के हिसाब से बोहरा जी को दे दिया करें बस यही धन्धा होता था। बोहराजी के दो लड़के थे। एक गोरीशंकर दूसरा राधाकृष्ण। बोहराजी के मरने पर दोनों भाई पृथक २ हो गये और अपने २ कृषकों को उसी प्रकार अन्न देकर रहने लगे। विक्रम सम्वत् उन्नीसौ छप्पन की साल में भयङ्कर दुष्काल पड़ा। बिल्कुल पानी नहीं बरसा। जिससे अन्न का भाव बारह आने दस आने मन का था वह घट कर पांच रुपये मन का भाव हो गया। गोरीशंकर ने सोचा कि अब किसानों को बाढ़ी पर अन्न देकर क्यों खोया जावे ? बेच कर रुपये कर लिये जावें। किसानों ने कहा बोहरा जी ऐसा न कीजिये, इस दुष्काल के समय में हम लोग खाने के लिये दूसरी जगह कहाँ से लावेंगे ? परन्तु गोरीशंकर ने इस पर कोई विचार नहीं किया। इधर राधा कृष्ण ने विचार किया कि यह अकाल का समय है, लोग अन्न के बिना भूख मर रहे हैं। तेरे पास में अन्न है। यह फिर किस काम में आवेगा ? एवं उसने ढिंढोरा पीटवा दिया कि चाहे वह मेरा किसान हो या कोई और हो जिसको भी खाने के लिये अन्न चाहिये यहां से लेजावे यह देख कर गौरीशंकर ने कहा कि राधाकृष्ण बे समझ है जोकि इस समय अपने बेसकीमती अन्न को इस तरह लुटा रहा है।

गोरीशंकर ने अपने अन्न को बेच कर रुपये खड़े करना शुरु किया। किन्तु उसके यहां एक दिन चोरी हो गई तो उसने अपने रुपयों को जमीन में गाड़ रखा। छपनिया अकाल धीरे धीरे समाप्त हो लिया। सत्तावन की साल में प्रकृति कुछ ऐसी कृपा हुई कि समय

समय पर उचित वर्षा होकर खेती में अनाप-सनाप अन्न पैदा हुआ, जिससे आठ सेर के भाव से बढ़ते बढ़ते अन्न का भाव रुपये का डेढ़ मन हो लिया। गोरीशंकर ने इस समय अन्न खरीद कर रखने का मौका है यह सोच कर जमीन में से अपने रुपयों को निकाल कर देखा तो रुपयों के पैसे बन गये हुये थे। तब क्या करे अपने भाग्य पर रोने लगा। उधर राधाकृष्ण का अन्न जिन्होंने खाया था, प्रसन्न मन से मन की एवज में दो मन अन्न ले जाकर उसके यहां जमा कराने लगे ताकि अन्न की टाल लग गई।

पशु पालन

सुना जाता है कि एक न्यायालय में न्यायाधीश के आगे पशुओं में और मनुष्यों में परस्पर में विवाद छिड़ गया। मनुष्यों का दावा था कि पशुओं की अपेक्षा से हम लोगों का जीवन बहुमूल्य है। पशुओं ने कहा कि ऐसा कैसे माना जा सकता है बल्कि कितनी ही बातों को लेकर हम सब पशुओं का जीवन ही तुम्हारी अपेक्षा से अच्छा है। देखो कि गजमुक्ता सरीखी कितनी ही बेशकीमती चीजें तुम्हें पशुओं से ही प्राप्त होती हैं। क्योंकि कवि लोग जब कभी तुम्हारी प्रेयसी के रूप का वर्णन करते हैं तो मृग नयनी, गजगामिनी इत्यादि रूप से पशुओं की ही उपमा देकर बताते हैं। बल पराक्रम भी तुम्हारी अपेक्षा से हम पशुओं का ही प्रशंसा योग्य माना गया हुआ है। इसी लिये जब तुम्हें बलवान बताया जाता है तो पुरुषसिंह नरशार्दूल वगैरह कह कर पुकारा जाया करता है। और तो क्या? पशु का मृत शरीर भी प्रायः कुछ न कुछ तुम्हारे काम में आता हीहै!

जैसे कि मृतक पशु के चमड़े के जूते बनते हैं जिन्हें पहिन कर तुम आसानी से अपना मार्ग तय कर जाते हो। तुम्हारा शरीर तो किसी के कुछ भी काम में नहीं आता बल्कि साथ में दश बारह मन लकड़ और दश बारह गज कपड़ा और ले जाता है। इस पर मनुष्य लोग बहुत झेंपे और अपना दावा वापिस उठाने को तैयार हो गये। तब न्यायाधीश बोला कि भाई! तुम कहते हो सो तो सब ठीक ही है परन्तु एक बात खास है जिसकी वजह से मनुष्य बड़ा भला गिना जाता है और वह यह है कि पशुवर्ग परिश्रमशील होकर भी वह अपने आपकी रक्षा का प्रबन्ध खुद नहीं कर सकता किन्तु मनुष्य में इस प्रकार की विचारशीलता है कि वह अपनी रक्षा का तथा पशु की रक्षा का भी प्रबन्ध करने में समर्थ होता है।

देखो-एक बुढ़िया थी। जिसके पास एक गाय भी रहती थी। चोमासे के दिन आये तो वर्षा होना शुरु हुई। एक दिन वर्षा ऐसी हुई कि मूसलधार पानी पड़ने लगा। झड़ी लग गई ताकि लोग घर से बाहर निकलने में असमर्थ थे। रोज बाजार में हरी घास आया करती थी ताकि मोल लेकर बुढ़िया अपनी गाय को चरा लिया करती थी। मगर उस दिन बाजार में जब घास नहीं आई तो क्या हो? पशु को क्या डाला जावे? बुढ़िया को दैवगति से सूखी घास, भूषा भी न थी ताकि वही डाल कर पशु को थोड़ा सन्तोष दे लिया जावे। अतः गाय भूखी ही खड़ी रही। उसे भूखी खड़ी देख कर बुढ़िया सोच में पड़ गई। कहने लगी कि हे भगवान! क्या करूं? गो भूखी है, यह भी तो मेरे ही भरोसे पर है। यह पहिले खाले तो बाद में मैं खाऊंगी ऐसा संकल्प कर वह भगवन्‌ २ करने

लगी। इतने में ही एक घसियारा आया। उस बरसते हुये मेंह में और बोला कि मांजी! क्या तुम्हें अपनी गाय के लिये घास चाहिये? अगर हाँ तो यह लो इतना कह कर घास गाय के आगे डाल दी। बुढ़िया बहुत खुश हुई और बोली बेटा! बहुत अच्छा किया, ले अपने घास के पैसे ले जा। मा जी पैसे तो फिर कभी ले जाऊंगा ऐसा कहते हुये घसियारा दौड़ गया सो आज तक नहीं आया। आता भी कहां से वह कोई घसियारा थोड़े ही था वह तो उस बुढ़िया की पवित्र भावना का ही रूप था।

मतलब यह कि आश्रित के खान पान का प्रबन्ध करके स्वयं भोजन करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है जिसमें भी वह आश्रित भी यदि मनुष्य है तो वह तो अपना खाना आप कह कर भी हमसे ले सकता है। पशु तो बेचारा स्वयं तो मूक होता है उसका तो फिक्र हमें ही करना चाहिये। तभी हम मनुष्य कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं। उसके करने योग्य परिश्रम तो उससे हम करा लेवे और खाना खिलाने के समय उसे हम भूल जावें यह तो घोर अपराध है।

अन्याय के धन का दुष्परिणाम

एक दर्जी के दो लड़के थे जो कि एक एक टोपी रोजाना बनाया करते थे उनमें से एक जो सन्तोषी था वह तो अपनी टोपी के दो पैसों में से एक पैसा तो खुद खाता था और एक पैसा किसी गरीब को दे देता था। एक रोज एक दो दिन का भूखा आदमी उसके आगे आ खड़ा हुआ। उस दर्जी ने जो टोपी तैयार की थी

उसके दो पैसे उसके पास आये तो उनमें से एक पैसा उसने उस पास में खड़े गरीब को दे दिया। गरीब ने उस पैसे के चने ले कर खा लिये और पानी पी लिया। अब उसके दिल में विचार आया कि देखो यह दर्जी का लड़का एक टोपी रोज बना लेता है जिससे दो पैसे रोजाना लेकर अपना जीवन बड़े आनन्द से बिता रहा है। मैं भी ऐसा ही करने लगूं तो क्यों भूख मरूं ऐसा सोचकर उसके पास टोपी बनाना सीख गया और फिर अपना गुजर अपने आप करने लगा। उसके दिन अच्छी तरह से कटने लगे।

इधर इसी दर्जी का दूसरा लड़का टोपी तैयार कर रोजाना जो दो पैसे कमाता था उनमें से एक पैसा तो खुद खा जाता और १ पैसा रोज बचाकर रखता था उससे चोसठ दिन में उसके पास १ रुपया जुड़ गयाउसने उसे चिट्ठी खेल में लगा दिया संयोगवश चिट्ठी उसी के नाम से उठ गई जिससे उसके एक लाख रु० की आमद हुई अब तो इसने सोचा दिन भर परिश्रम करना और दो पैसे रोजाना कमाना इस दर्जी के मनहूस धन्धे में क्या धरा है। छोड़ो इसे और आराम से जीवन बीतने दो। इसके पड़ोस की जमीन में एक गरीब भाई झोंपड़ी बनाकर रह रहा था। इसने सरकार से उसे खरीद कर वहां एक सुन्दर कमरा बनाया और अपने बाप भाई से अलहदा रहने लगा, शराब पीने लगा, रण्डियां नचाने लगा, अपने आप घमण्ड में चूर होकर औरों को तुच्छ समझने लगा। एक रोज यह अपने भाई दर्जी के पास खड़ा था सो उसे अपनी टोपी के दो पैसों में से एक पैसा किसी गरीब को देते देखकर इसके भी विचार आया कि देखो इसने अपने दो पैसों में से ही एक

पैसा दे दिया किन्तु मेरे पास इतना पैसा होकर भी मै किसी को कुछ नही दे रहा हूं। मुझे भी कुछ तो दान करना चाहिये। इतने में इसके सम्मुख एक मस्टण्डा आ खड़ा हुआ जिसे इसने अपने पाकेट में से निकाल कर पांच असर्फियां दे दी। उन्हे लेकर वह फुल गया कि देखो आज मेरी वड़ी तकदीर चेती। चलो आज तो शराव पीयेंगे और सिनेमा में चलेंगे। वहां जाते समय रास्ते में किसी की बहू वेटी से मजाक करने लगा तो पुलिस ने पकड़ लिया और थाने में भेज दिया ताकि कैद कर लिया गया। ठीक है जैसी कमाई का पैसा होता है वह वैसे ही रास्ते में लगा करता है और उससे मनुष्य की बुद्धि भी वैसी ही हो जाया करती है।

कर्त्तव्य और कार्य

शरीर के भरण पोषण के लिये किया जाता है ऐसा खाना पीना सोना, उठना वगैरह कार्य कहलाता है जिसे कि संसारी प्राणी चाह पूर्वक अनायास रूप से किया करता है। जो आत्मोन्नति के लिए प्रयत्न पूर्वक किया जाता है ऐसा भगवद्भजन परोपकार आदि कर्त्तव्य होता है। कार्य को तो उतर प्राणियों की भांति नामधारी मानव भी लगन के साथ करता है मगर वह कर्त्तव्य को सवर्था भूले हुए रहता है। उसके विचार में कर्त्तव्य का कोई मूल्य नहीं होता परन्तु वही जब मानवता की ओर ढलता है तो कर्त्तव्य को भी पहिचानने लगता है यद्यपि उसका चन्चल मन कर्त्तव्यों की ओर न जाकर उसे कार्यो में लगे रहने के लिये वाध्य करता है फिर भी वह समम निकालकर हठात् अपने मन को कर्तव्य के

साथ में जोड़ता है। भले ही उसका मन रस्से से बन्धे हुए भूखे बैल की तरह छटपटाता है और वहां से भागना चाहता है तो भी उसे रोककर रखता है। इस तरह धीरे २ अभ्यास करके वह अपने मन को कर्त्तव्योंपर जमाता है तो फिर कर्त्तव्य तो उसके लिये कार्य रूप हो जाते हैं और कार्य कहलाने वाली बातें कर्त्तव्य समझकर करने योग्य ठहरती हैं। मान लीजिए कि एक चिरकाल का बना हुआ सच्चा साधु है वह समता बन्दना स्तवनादि आवश्यकोंको नित्यठीक समय पर सरलता के साथ करता रहता है दिन में एक बार खाना और अपर रात्रि में जमीन पर सो लेना भी उसके लिये बताया गया है किन्तु वह तो कभी वास कभी बेला कभी तेला आदि कर जाया करता है जब देखता है कि अबतो शरीर बिना भोजनादिदिए काम नहीं देता इसे अब भोजन देना ही होगा तब कभी देता है। शयन का भी यही हाल होता है कभी कुछ देर के लिये नीन्द ली तो ली, नही तो फिर सारी ही रात्री भजन भाव में बिता दी गई। मतलब कहने का यह कि भोजनादि के बिना भले ही रहा जा सकता है परन्तु भगवद्भजन के बिना रहना किसी भी दशा में ठीक नहीं इस प्रकार इन्द्रीय मनोनिग्रह रूप वृत्ति जहां हो रहती है वहां फिर खाना, पीना, सोना, उठना, चलना फिरना आदि सभी क्रियाएं आत्मोन्नति के पथ में साधन रूप से स्वीकार्य होकर आदर्श रूप बन जाती हैं।

साधक का कार्य क्षेत्र

भूमि तल बहुत विशाल है और इसमें नाना विचारों के

आदमी निवास करते हैं कोई बुरी आदत वाला आदमी है तो कोई कुछ अच्छी आदत वाला। एवं मनुष्यका हिसाब ही कुछ ऐसा है कि यह जैसे कि संगतिमें रहता है तो प्रायःआप भी वैसा ही हो रहता है जिसमेंभी अच्छेके पासमें रहकर अच्छाई को बहुत कम पकड़पाता है किन्तुबुरे के पास में होकर बुराई को बहुत शीघ्र ले लेता है जैसे कि उजला कपड़ा कोयलों पर गिरते ही मैला हो जाता है परन्तु फिर वह साबुन पर गिर कर उजला बन जाता हो सो बात नहीं। उसे उजला बनाने के लिये उसके ऊपर साबुन चुपड़ना होगा और फिर पानी से उसे धोना होगा फिर कहीं वह उजला बन सकेगा। अतः अपने आपको बुराइयों से बचाये रखने के लिये और भलाई को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को चाहिये कि वह अपना निवास स्थान भले आदमियों के सहवास में बनावे। उन्हीं के साथ में अपना लेन देन का संसर्ग स्थापित करे। ऐसे ही स्थानों में अपना जाना आना भी रखे जहां पर कि अधिकतर भले आदमी निवास करते हों। नसेबाज मॉसखोर व्यसनी दुराचारी आदमियों का आधिपत्य होने से जहां जाने पर अपने भले आचार विचार में शिथिलता आती दीखे ऐसे स्थानों में जाने आने का परित्याग करदें।

व्यर्थ के पाप पाखण्ड

कहते हुये सुना जाता है कि पेट पापी है इसी के लिये अनेक तरह के अनर्थ करने पड़ते हैं। जबकि हाथ पैर हिला डुला कर भी मनुष्य पेट नहीं भर पाता है तो वह चोरी चकोरी करके भी अपने पेट की ज्वाला को शान्त करना चाहता है, यह ठीक है। इसी बात

को लक्ष्य में रख कर हमारे महर्षियों ने स्थितिकरण अङ्ग का निर्देश किया है। यानि समर्थ धर्मात्माओं को चाहिये कि आजीविका भ्रष्ट लोगों को उनके योग्य आजीविका बताकर उन्हें उत्पथ में जाने से रोकें ताकि देश में विप्लव न होने पावे।

कुछ लोग ऐसे भी हैं कि अपने पास में खाने के लिये अन्न तथा पहनने के लिये कपड़ा अच्छी तादाद में होने पर भी धनवान कहलाना चाहते हैं अतः धन बटोरने के लिये अनेक प्रकार का पापारम्भ करते हुये देखे जा रहे हैं। इस रोग की दवा सन्तोष है। जोकि परिग्रह परिमाण रूप दवाखाने से प्राप्त होती है। परन्तु अधिकांश पाप पाखण्ड तो प्रजा में ऐसे फैले हुए हैं जिनका हेतु सिर्फ मनोविनोद के और कुछ नहीं है अतः उन्हे हमारे महर्षियों की भाषा में अनर्थदण्ड कहा गया है। जिनको कि रोकने के लिये मन पर थोड़ासा अंकुश लगाने की जरूरत है एवं उनके रोकने से देश को हानि के बदले बड़ा भारी लाभ है। उन अनर्थ दण्डों को न करना और न होने देना भी उपासक का कर्तव्य है।

अनर्थ दण्ड के प्रकार

बात ही बात में यदि ऐसा कहा जाता है कि देखो हमारे भारतवर्ष में गेहूँ बीस रुपये मन हैं और सोना सौ रुपये तोले से बिक रहा है। परन्तु हमसे पन्द्रह बीस कोस दूर पर ही पाकीस्तान आ जाता है जहाँ कि गेहूँ तीस रुपये मन में बिक रहे हैं तो सोना पचहत्तर रु० तोला पर मिल जाता है। यदि कोई भी व्यक्ति यहां से वहां तक यातायात की दक्षता प्राप्त कर पावे तो उसे कितना लाभ

हो। इस बात को सुनते ही कार-व्यापार करने वाले को या किसानको सहसा अनुचित प्रोत्साहन मिल जाता है जिससे कि वह ऐसा करने में प्रवृत होकर दोनों देशों में परस्पर विपल्व करने वाला बन सकता है अतः उपर्युक्त कहना पापोपदेश नाम के अनर्थ दण्ड में गिना जाता है। सट्टा फाटका करने वालों को लक्ष्य करके तेजी मन्दी बताना भी इसी में सम्मिलित होता है।

छुरी, कटारी, बरछी, भाला, तलवार वगैरह हथियार बना कर हिंसक पारधी, साँशी, बावरिया आदि को देना सो हिंसा दान नाम का अनर्थ दण्ड है। क्योंकि ऐसा करने से वे लोग सहज में ही प्राणियों को मारने लग जा सकते हैं। कसाई, खटीक, कलार, जुआरी आदि को उधार देना भी इसी में गिना जा सकता है।

बे मतलब के बुरे विचारों को अपने मन मे स्थान देना, किसी की हार और किसी की जीत हो जाने आदि के बारे में सोचते रहना, मानलो कि आप घूमने को निकले, रास्ते में दो मल्लों की परस्पर कुस्ती होती देख कर खड़े रह गये और कहने लगे मन में कि इनमें से यह लाल लंगोट वाला जीतेगा और पीली लंगोटी वाला हारेगा। अब संयोगवश पीली लंगोटी वाले ने उसे पछाड़ लगादी तो आपके मन को आघात पहुँचेगा। कहोगे कि अरे यह तो उल्टा होने लग रहा है। इत्यादि रूप से व्यर्थ मन की चपलता का नाम अपध्यान अनर्थदण्ड है।

जिन बातों मे फंस कर मन खुदगर्जी को अपना सकता हो ऐसी बातों के पढ़ने सुनने मे दिलचस्पी लेना दुःश्रुति नाम का अनर्थ-दण्ड है।

जल वगैरह किसी भी चीज को व्यर्थ बरबाद करना प्रमाद-चर्या नाम का अनर्थ दण्ड है। जैसे कि आप जा रहे हैं, चलते २ पानी की जरूरत हो गई तो सड़क पर की नल को खोल कर जितना पानी चाहिये लेलिया किन्तु जाते समय नलको खुला छोड़ गये जिससे पानी गिरता ही रहा। गरमी की मोसम है। रेलगाड़ी में सफर कर रहे हैं बिजलीका पंखा लगा हुआ है, हवा खाने के लिये खोल लिया; स्टेशन आया; आप लापरवाही से उतर पड़े, पंखेको खुला रहने दिया यद्यपि डिब्बे में और कोई भी नहीं बैठा है तो पंखा व्यर्थ ही चलता रहेगा इसका कुछ विचार नहीं किया। आप एक गाँव से दूसरे गाँव को जा रहे हैं। रास्ते के इधर उधर घास खड़ी है किन्तु रास्ता साफ है फिर भी आप घास के ऊपर से उसे कुचलते हुये जा रहे हैं इसका अर्थ है कि आप लापरवाही से पशुओं की खुराक को बरबाद कर रहे हैं इत्यादि सब प्रमादचर्या नाम का अनर्थदण्ड कहलाता है।

मानवपन नपा तुला होना चाहिये

मनुष्य जीवन पानी की तरह होता है। पानी बहता न हो कर अगर एक ही जगह पड़ा रहे तो सड़जाये। हां वही बहता होकर भी आल बगल के दोनों तटों को तोड़ फोड़ कर इधर उधर तितर बितर हो जाये तो भी शीघ्र ही नष्ट हो रहे। मनुष्य भी निकम्मा हो कर पड़ा रहे तो शोभा नहीं पासकता। उसे भी कुछ न कुछ करते ही रहना चाहिये। उचितार्जन और त्याग रूप दोनों तटों के बीच में होकर नदी की भाँति बहते रहना चाहिये।

यह तो मानी हुई बात है कि खाने के लिये कमाना भी

पड़ता ही है परन्तु कोई यदि विष ही कमाने लगे और उसे ही खाने लगे तो मरेगा ही, जीवित कैसे रह सकेगा। अतः विष का कमाना और खाना छोड़कर इस तरह से कमाया खाया जाय जिससे कि जीवित रहा जासके। मतलब यह कि कमाते खाते हुये मनुष्य को भी कम से कम इस बात का ध्यान तो रखना ही चाहिये कि ऐसा करने में उसकी आत्मा प्रत्युत तामसता की ओर तो नहीं लुढ़-कती जा रही है। बल्कि प्रशंसायोग्य बात तो यही कही जावेगी कि कमाना खाना आदि सभी काम हमारे हमें सात्विकता की ओर बढ़ा ले जाने वाले होने चाहिये। हमारे भारत देश के वर्तमान समय के नेता श्रीमान् विनोवाभावे महाशय अपनी बुढापे की अवस्था में भी लोगों को खेती का महत्व बतानेके लिये स्वयं कार्य करते हैं। उसमें उत्पन्न हुये अन्न से निर्वाह करना कर्तव्य समझ कर सादगी से अपना जीवन बिता रहे हैं। अगर वे बैठना चाहें तो उनके लिये मोटरों पर मोटरें आकर खड़ी हो सकती हैं मगर फिर भी उन्हें जहाँ जाना होता है पैदल ही जाते हैं। बल्लभ भाई पटैल एक रोज अपने कमरे में बैठे हुये कुछ आगन्तुक लोगों से आवश्यक बातें कर रहे थे। इतने में समय हो जाने पर बल्लभ भाई पटैल साहेब की लड़की चाय लेकर आई जिसकी कि शाड़ी कई जगह से फटी और सिली हुई थी। अतः उन आगन्तुकों में से बोलउठा कि बहन जी आप इस प्रकार फटी हुई साड़ी कैसे पहन रही हैं। जवाब मिला कि नई साड़ी किसकी कहां से ले आऊं ? आगन्तुक ने कहा कि बहन जी ! आप यह क्या कह रही हैं ? कुछ समझ में नहीं आता। आप कहें तो एक साड़ी क्या आवे बल्कि यहां आकर

स.ड़ियों की टाल लग सकती है। इसपर वहन जी तो क्या बोलती ? सुना अनसुना कर चली गई। पीछे से पटेल साहब ने कहा कि हमारे यहाँ हाथ से सूत काता जाता है और उसका हाथ से बुना हुआ कपड़ा ही काम में लिया जाता है। वह इतना ही बन पाता है जिससे कि सारे कुटुम्ब का काम किफायतसारी के साथ में चला लिया जा सके। ऐसा सुन कर आगन्तुक महाशय दङ्ग रह गया, सोचने लगा कि ओह ऐसे रईस घराने का ऐसा रहन सहन। घर में मनचाही चीजें होते हुये भी अपने सिर्फ सादा खाना और सादा पहिनना और सब कांग्रेस के लिये परार्थ-जनता की सेवा के लिये। इसी को कहते है अमीरी में गरीबी का अनुभव करते हुये रहना। मानव जीवन हो तो ऐसा ही संतोषमय नपा तुला होना चाहिये। फैसनबाजी में फंस कर मानव जीवन को बरबाद करना तो अमृत को पैर धोने में खोना है।

शाकाहारी बनना चाहिये

जिससे शरीर पुष्टि को प्राप्त हो या भूख मिटे उसे आहार कहते हैं। वह मुख्य तथा दो भागों में विभक्त होता है। शाकपात और मांस जब हम पशुओं की ओर निगाह डालते हैं तो दोनों ही तरह के जीव उनमें पाते हैं। गाय, बैल, भैंस, ऊंट, घोड़ा, हाथी, हिरण आदि पशु शाकाहारी हैं जोकि उपयोगी तथा शान्त होते हैं परन्तु सिंह, चीता, भालू, भेड़िया आदि पशु मॉसाहारी होते हैं जो कि क्रूर एवं अनुपयोगी होते हैं। इनसे मनुष्य सहज में ही दूर रहना चाहता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मांसाहार क्रूरता

का करने वाला है किन्तु शाकाहार सौम्यता का सम्पादक। मनुष्य जबकि स्वयं शान्ति प्रिय है अतः उसे मांसाहार से दूर रहकर शाकाहार से ही अपना निर्वाह करना चाहिये। आज हम देख रहे हैं कि हमारे देशवासियों की प्रवृति शाकाहार से उपेक्षित होकर मांसाहार की ओर बढ़ती जा रही है। आज से कुछ दिन पहले जिन जातियों में मांसाहारी व्यक्ति देखने को नहीं मिल रहा था वहीं पर आज बीस पच्चीस फीसदी आदमी मांस के खाने वाले मिल जावेंगे। यह भी हमारे देश के लिए दुर्भाग्य का चिन्ह है जिससे कि लोग अन्नोत्पादन की तरफ विशेष ध्यान न देकर मछलियों के तथा मुर्गियों के अण्डों के उत्पादन की ही कोशिश में लगे हुवे हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि जो देश अन्नोत्पादन का नाम नहीं जानते थे उन देशों में तो अन्न अब कसरत के साथ में उत्पन्न होने लग गया है और जो भारत सदा से अन्नोत्पादन का अभ्यासी रहा हे उसी देश के वासी आज यह कहने लगे हैं कि खाने के लिये अन्न की कमी है। अतः मछलियां पैदा की ज़ावे। मैं तो कहता हूं कि इस बेढङ्ग प्रचार से कहीं ऐसा न हो जावे कि हम लोग अन्नोत्पादन का रहा सहा महत्व भी भूल जावे।

सुना जाता है कि एक वार अरब देश में बहुत भयंकर दुष्काल पड़ा। अन्न मिलना दुसंह हो गया अतः वहां के उस समय के देश नेता मुहम्मद साहब ने उसे आपत्काल में मांस खाकर निर्वाह करने का आदेश दे दिया। धीरे २ लोग मांस खाने के आदि बन गये तो उनकी निगाह में अब वह मांस खाना एक सिद्धान्त सा ही हो गया मतलब यह कि एक बार मांस खाने को लत पड़ जाने से मनुष्य

उसे छोड़ने के लिये लाचार हो रहता है और अपनी आदतवश वह धीरे २ मनुष्य के मांस को भी खाने लग जा सकता है। एवं इस दुर्व्यसन का परिणाम बहुत विप्लवकारक हो रहता है। मानव को ही घोर दानवता का पर पहुंचा देता है। अतः समझदार को चाहिये कि वह शुरु से ही इससे दूर रहे केवल शाकाहार पर ही अपना निर्वाह करे।

दूध का उपयोग

भोले भाई ही नहीं बल्कि कुछ पढ़े लिखे लोग भी ऐसा कहते हुए पाये जाते हैं कि जो दूध पीता है वह मॉस खाने वाला स्वयं बन जाता है क्यों दूध मांस में से ही होकर आता है फिर दूध तो पिया जाये और मांस खाना छोड़ा जाय यह व्यर्थ की बात है उन ऐसा कहने वाले भले आदमियों को जरा सोचना चाहिये कि अन्न भी तो खाद में से पैदा होता है सो क्या अनाज को खाने वाला खाद को भी खा लेता है ? नहीं क्योंकि खाद के गुण धर्म कुछ और हैं तो अन्न के गुण धर्म कुछ और ही। अतः खाद जुदी चीज है तो अन्न उससे जुदी चीज। इसी प्रकार मांस जुदी चीज है और उसी जगह पैदा होने वाला दूध उससे जुदी चीज। मांस तमोगुण समुत्पादक है तो दूध सतोगुण सम्पादक। किसी के मांस को नोचा जावे तो कष्ट होता है। किन्तु दूध को अगर न निकाला जावे तो कष्ट देने वाला हो रहता है। मांस उस २ प्राणी के शरीर का आधार भूत होता है तो दूध किसी के किसी समय कुछ काल तक के लिये। मॉस हर समय हर हालत में कीटाणुओं का समुत्पत्ति

स्थान होता है तो ताजा दूध कीटाणुओं से रहित। इत्यादि कारणों से मांस अग्राह्य है किन्तु दूध ग्रहण करने योग्य।

यहां पर एक तर्क और भी उठाई जा सकती है कि गाय का दूध निकालने वाला आदमी उसके बच्चे के हक को छीन लेता है अतः वह ठीक नहीं करता परन्तु इस ऐसा कहने वाले को जरा सोचना चाहिए कि अगर गाय के दूध पर सर्वथा उसके बच्चे का ही अधिकार है। वह उसी के हक की चीज है तो फिर जो उस गाय को पालता पोषता है उसका भी कोई हक है या नहीं। यदि कहा जावे कि कुछ नहीं तो फिर वह उसे क्यों पालता पोषता है? हां जब तक कि बच्चा घास खाना न सीख जावे तब तक उसका ध्यान अवश्य रखना चाहिये। बाद में भी सारा का सारा ही न निकाल कर कुछ दूध उसके लिये भी छोड़ते रहना चाहिए।

न सेवा जी से दूर हो।

दुनियाँ की चीजों में से कुछ अन्न आदि चीजें तो ऐसी है जिनका सम्बन्ध मनुष्य की वुद्धि के साथ में नहीं होकर वे सब केवल शरीर के सम्पोषण के लिये ही खाये जाते हैं। ब्राम्ही शंख पुष्पी आदि जड़ी बूटियाँ ऐसी हैं जो मनुष्य की वुद्धि को ठिकाने पर रखकर उसके बढ़ाने में सहायक होती है। परन्तु भांग, तम्बाखू चरस गांजा सुलफा वगैरह वस्तुएं ऐसी भी हैं जो उत्तेजना देकर मनुष्य की बुद्धि को विकृत बना डालती है। जिनके सेवन करने से काम वासना उदीप्त होती है। अतः ऐसी चीजों को कामुक लोग पहले तो सोकिया रूप से सेवन करने लगते हैं मगर जिस चीज का

उन्हें नशा करने की आदत है वह चीज यदि नहीं मिले तो विकल हो उठते हैं। बाज बाज आदमी तो नशे का इतना आदि हो जाता है कि उस नशे की धुन में अपने आपको भी भूलकर न करने लायक घोर अनर्थ करने को भी उतारू हो जाता है।

एक बार की बात है कि एक अफीमची अपनी औरत को ले आने के लिये ससुराल को गया। वहां से अपनी प्राण-प्यारी को लेकर वापिस लौटा तो अपनी अफीम की डिबिया को वहीं भूल कर आ गया। रास्ते में जब उसके अफीम खाने का समय आया, देखे तो अफीम की डिबिया तो है नहीं। यह देखकर वह बड़ी चिन्ता में पड़ गया और वहीं पर एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। औरत बोली कोई बात नहीं, गांव अब थोड़ी ही दूर रहा है अभी चले चलते हैं मरद ने कहा मेरे से तो अब बिना अफीम के एक पैड भी नहीं चला जावेगा। स्त्री ने कहा यहां जंगल में अफीम कहां रखी है फिर भी अफीमची ने नहीं माना। स्त्री बड़ी पसोपेश में पड़ी और इधर उधर देखने लगी तो एक कुटिया दीख पड़ी; वहां गई तो उसमें एक आदमी बैठा पाया। जाकर बोली कि महाशय! क्या आपके पास में कुछ अफीम मिल सकती है। मेरे स्वामी 'अफीम खाया करते हैं उनके पास अफीम नहीं रही है। वह बोला अफीम है तो सही मगर वह मुफ्त में ही थोड़े मिलती है। स्त्री ने कहा आप जो उचित समझें वह मूल्य ले लीजिए और एक खुराक अफीम की दे दीजिए। कुटीचर ने कहा अफीम की एक खुराक का मूल्य एक बार एकान्तवास। यह सुनते ही स्त्री दंग रह गई और अपने स्वामी के पास लौटकर आई तो स्वामी ने फिर यही बात

कही कि मैं क्या करूं। मैं तो अफीम के पीछे विवश हूं अतः जैसे हो वैसे ही मुझे तो अफीम लाकर दे तभी कुछ आगे की मुझे सूझेगी।

बन्धुओ देखा आपने अफीमची का हाल। अफीमची का ही नहीं सभी तरह के नशेबाजों का ऐसा ही हिसाब है! कोई कैसा भी नशा करने वाला क्यों न हो उसकी चेतना तो उस नशे के अधीन हुआ करती है। कम से कम तम्बाखू बीड़ी पीने वाले को ही ले लीजिए। उसके पास भी समय पर तम्बाखू न होगी तो वह भी चाहे जिससे तम्बाखू मांगकर पीना चाहेगा। इसीलिए कहावत भी प्रसिद्ध है कि अगर नहीं मांगना जानता है भीख तो तम्बाखू पीना सीख। तमाखू पीने वाला स्वयं यह अनुभव करता है कि इसकी ही वजह से मुझे खांसी, श्वासादि अनेक रोग हो रहे हैं। फिर भी वह उसे छोड़ने के लिए लाचार हो रहता है। मतलब यह कि नशे-बाज आदमी धर्म, धन और शरीर तीनों को ही खो डालता है इसी लिये हमारे महर्षियों ने इसे दुर्व्यसन बताया है। उन सब नशों में शराब का नशा सबसे अधिक बुरा है गुड़, महुआ आदि चीजों को सड़ाकर उनसे शराब बनाई जाती है जोकि बहुत से त्रस जीवों का कलेवरमय हुआ करती है अतःउसका पीने वाला प्रथम तो बहुतसे त्रस जीवोंकी हिंसा का पातक बनता है फिर शराब की लतभी ऐसी बुरी होती है कि जिसमें भी वह पड़ गई छुटनी दुष्वारहो जाता है शराब के नशे में चूर हुआ मनुष्य पागल ही क्या बाज बाज मौके पर तो बिल्कुल बे-भाव ही हो रहता है। इस शराबखोरी में पड़कर कितने ही भले भले घराने भी बिगड़कर बरबाद हो गये हैं। शराब पीये

हुए के मुंह से ऐसी बुरी दुर्गन्ध आती है कि कोई भी भला आदमी उसके पास बैठना नहीं चाहता है। शराब पीना या और भी किसी प्रकार का नशा करना व्यभिचार का तो मूल सूत्र है ऐय्यासी करना तो सिखाता ही है। साथ ही वह मांस खाने की प्रेरणा देता है। मांस खाने वाला शिकार करने को बाध्य होता है। शिकार करना चोरी या दगेबाजी से खाली नहीं है हठात् किसी के प्राणधन को अपहरण करना तो सब से बड़ी चोरी है। इस प्रकार शराबखोरी सब तरह के अनर्थों का प्रधान कारण है ऐसा सोच कर समझदारों को इससे सर्वथा दूर ही रहना चाहिये।

रात्रि में भोजन करना मनुष्य के लिये अप्राकृतिक है

शारीरिक शास्त्र जो कि मनुष्य स्वास्थ्य को दृष्टि में रख कर बना है उसका कहना है कि दिन में पित्त प्रधान रहता है तो रात्रि में कफ। एवं भोजन को पचाना पित्तका कार्य है अत मनुष्य को दिन में ही भोजन करना चाहिये। इसलिये वैद्य लोग अपने रोगी को लंघन कराने के अनन्तर जो पथ्य देते हैं वह रात्रि में कभी भी न देकर दिन में ही देते हैं। दिन में भी सूर्योदय से एक डेढ घंटे बाद से लगाकर मध्याह्न के बारह बजे से पहले ही पथ्य देने का आदेश करते हैं क्योंकि पित्त का समुत्तम काल यही है। हां एक बार का योग्य रीति से खाया हुआ अन्न अधिक से अधिक छः घण्टे में पचकर फिर दुबारा खाने की प्रेरणा देता है। यानी दस बारह बजे के बीच में जिस आदमी ने भोजन किया है उसे चार छः बजे के बीच में फिर खाने की आवश्यकता

हो जाती है। परन्तु अपराह्न में जो भोजन किया जाय वह स्वल्प मात्रा में होना चाहिये ताकि वह कफ का काल आने से पहले पचा लिया जासके। ऐसी हमें हमारे वैद्यक शास्त्र की आज्ञा है।

रात्रि में कफ प्रधान, काम सेवन का और शयन का समय आ जाता है सो काम सेवन भी भोजनानन्तर में नहीं किन्तु भोजन का परिपाक होने पर करना ठीक होता है तथा शयन करना नीन्द लेना तो भोजनानन्तर में बिलकुल ही विरुद्ध कहा गया है। दिन में भी जब किसी रोगी को पथ्य दिया जाता है तो उसे उस अन्न के गहल से नीन्द आने लगती है फिर भी हमारे प्राणाचार्यों का कहना होता है कि अभी इसे नीन्द नहीं लेने देना अन्यथा तो यह खाया हुआ अन्न जहर बन जावेगा।

दिन भर काम करके थक लिये हुये मनुष्य को अपनी थकान दूर करने के लिये कम से कम छः घंटे नीन्द लेना भी जरूरी माना गया हुआ है। अतः सूर्यास्त के समय सन्ध्या वन्दन करने के अनन्तर कुछ समय हास्यविनोद में विता कर फिर रात्रि के दश वजे से लेकर चार बजे रात तक नीन्द लेनी चाहिये। चार वजे के बाद प्रातःकाल में अपने शरीर रूप यन्त्र के पुरजों को संशोधन कर साफ सुथरा बनाने के लिये भगवद्भजनपूर्वक शौच जाना और स्नान करना भी जरूरी हो जाता है।

फलिततार्थ यह निकला कि दिन के नो दश वजे से लेकर दिन के चार पांच वजे तक का समय मनुष्य के लिये भोजन के योग्य होता है। उसमे त्यागी ब्रह्मचारियों के लिये तो महर्षियों ने एक ही वार भोजन करने का आदेश दिया है। गृहस्थ लोग

पूर्वाह्न मे और अपराह्न में इस तरह दो वार भोजन कर सकते हैं। किन्तु जो लोग रात दिन मे कई वार भोजन करते हैं, जब चाहा जभी खा लिया ऐसी आदत वाले होते हैं, वे लोग अपने मनचलेपन की वजह से मनुष्यता को भूले हुये है ऐसा हमारे महापुरुषों का का कहना है। एवं जो लोग रात मे भी खाने से ही धन्धा रखते हैं उनमे और निशाचरां मे तो फिर कोई भी अन्तर नहीं रह जाता है।

रात्रि में भोजन करने से हानि

अकवर वादशाह कोम से मुसलमान थे। किन्तु हिन्दुओं के साथ भी उनका अच्छा सम्पर्क था। उनका प्रधान मन्त्री वीरवल भी ब्राह्मण था। उनके पास और भी भले २ हिन्दू रहते थे। एक दिन दिन मे खाने वाले किसी वीचारशील हिन्दू आदमी ने उनसे कहा कि हुजूर ! आप रात्रि में खाना खाते हैं यह ठीक नहीं कर रहे है। वादशाह वोले कि क्यों क्या हानि है ? जवाव मिला कि हानि तो वहुत हैं। सवसे पहली हानि तो यही है कि रात्रि मे अन्धकार की वजह से भोजन मे क्या है और क्या नहीं है, यही ठीक नहीं पता चला करता है। तव वादशाह वोले कि दीपक के उजाले में अच्छी तरह से देखकर खाया जावे तो फिर क्या वात रह जाती है ? जवाव मिला कि वात तो और भी है परन्तु अभी आप इतना ही करें कि दीपक के प्रकाश मे अच्छी तरह से देखकर ही खाया करें। अव वादशाह रोज ऐसा ही करने लगे। एक रोज सजा हुआ थाल वादशाह के आगे टेविल पर ला कर रखा गया तो

बादशाह बोले कि दीपक लाओ तब देखकर खाया जावेगा। दीपक आया और देखा गया तो भोजन में घी और मीठे की वजह से जहरीली कीड़ियों का नाल लगा हुवा है। बादशाह को बिचार आ गया तो नियम किया कि आगे के लिये रात्रि को न खाकर दिन में ही खाया जावे यही बात अच्छी है।

हाँ! यह कहा जा सकता कि वह समय कुछ और था। आज तो स्थान २ पर बिजली की रोशनी होती है जिसमें अच्छी तरह देख कर खालिया जा सकता है। परन्तु उन्हें ऐसा कहने वालों को इतना भी तो सोचना चाहिये कि बिजली के प्रकाश में भी पतङ्ग, मच्छर वगैरह आकर भोजन में पड़ेगें। जिनमें कितने ही मच्छर ऐसे भी होते हैं जो कि खाने में आजाने से अनेक प्रकार के भयङ्कर रोग हो जाते हैं।

पर्यालोचन

मनुष्य विस्मरण शील होता है और उसके जुम्मे अपने शरीर को सम्भाल कर रखना, बाल बच्चों का लालन पालन करना, अभ्यागतों का सत्कार करना, बुजर्गों की टहल करना, दीन-दुःखियों की सेवा करना मित्र दोस्तों के साथ प्रेम से सम्भाषण करना, भगवद्भजन करना आदि अनेक तरह के कार्य लगे हुये होते हैं। उनमें से कौनसा कार्य किस प्रकार से आज मुझे सम्पादन करना चाहिये, कौनसे कार्य सम्पादन करने में मैंने क्या गलती खाई है। कहीं मैंने मेरे तन मन वचन और धन के घमण्ड में आकर कोई न करने योग्य अनुचित वर्ताव तो नहीं कर डाला है। मेरे रहन

सहन में किसी गरीब भाई का किसी भी प्रकार का कोई नुकसान तो कहीं नहीं हुआ है। तथा किसी भी बुजुर्ग का मेरे से कोई अविनय तो नहीं बनपड़ा है। इस प्रकार से सोच कर देखना। अगर कोई भी तरह की कुचेष्टा बन गई हो तो भगवान को स्मरण कर उनके सम्मुख पश्चाताप करना और आगे के लिये कभी नहीं होने देने का दृढ संकल्प करना चाहिये। प्रतिदिन सुबह और सायंकाल को इस प्रकार सम्भाल करते रहने से मनुष्य की बुद्धि निर्मल बनी रहती है। साण पर चढा कर तैयार की हुई तलवार के समान तीखी बनकर अपने करने योग्य कार्य को आसानी के साथ कर जा सकती है।

उपवास का महत्व

यह कोई नई बात नहीं है कि शरीर को स्थिर रखने के लिये आहार की खास आवश्यकता होती है। जो कुछ हम भोजन करते हैं उसका रस रक्तादि बनकर हमारे शरीर को बनाये रखने में सहायक होते हैं। परन्तु वह भोजन भी प्राकृतिक और मितमात्रा में तथा समुचित रीति से खायाजाना चाहिये, नहीं तो वही भोजन लाभ के स्थान पर हानिकारक हो रहता है। भोजन शरीर का साधन है इस लिये यह शरीरधारी भी भोजन का आदि बना है और इसी लिये होसके जहां तक अच्छे से अच्छा स्वादिष्ट रुचिकर बनाकर खाया करता है। भोजन रुचिकर होने से कभी कभी अत्यधिक मात्रा में भी खा लिया जाता है ताकि अजीर्ण होकर शरीर रोगी बनने का अन्देशा रहता है। अतः इस

अजीर्ण को दूर करने के लिये उपवास करने की अर्थात् भोजन न करने की आवश्यकता होती है।

हां उपवास करने में जिस प्रकार भोजन के त्याग करने की जरूरत होती है उसी प्रकार अपने मन और इन्द्रियों को भी वश में रखने की आवश्यकता पड़ती है मन को वश में किये बिना जो भोजन त्याग कर दिया जाता खाना नहीं खाया जाता वह लंघन कहलाता है और लंघन से कभी २ लाभ के स्थान पर हानि हो जाया करती है।

एक समय एक मोटी बुद्धि का आदमी अपनी औरत को लिवा लाने के लिये ससुराल में गया। वहाँ उसके लिए अच्छे पदार्थ खाने के लिये बने तो स्वादिष्ट समझकर उन्हें वह खूब खा गया। अतः अजीर्ण हो जाने से वैद्य ने उससे कहा कम से कम आज भर के लिये तुम खाना मत खाओ ताकि तुम्हारा अजीर्ण पचकर ठीक हो जावे। इस पर उसने भोजन नहीं किया मगर उसका मन भोजन के लिये ललचाता रहा अतः एक दिन भर तो ससुराल वालों की शर्म खाकर बिना खाये रहा किन्तु जब रात हुई तो सोचा कि कुछ न कुछ तो खाना ही चाहिये, नहीं तो फिर यह पहाड़ जितनी लम्बी रात कैसे कटेगी। इधर उधर को देखा तो अपनी खटिया के नीचे चावलों की भरी थरिया रखी थी उसमें से एक मुट्ठी भरकर मुंह में दे गया। इतने ही में घर वाली आ गई तो अब उन्हें चबावे कैसे उसके सामनें शर्म के मारे वह फूलाये रहा। उसे ऐसी हालत में देखकर उसकी घर वाली ने अपनी माँ को आवाज दी। दोनों गौर से देखकर कहने लगी कि इनके तो कुछ रोग हो गया है जिनसे

गाल फूल गये हैं। और मुंह खोला नहीं जाता है। डाक्टर को बुलाया गया तो यथार्थ बात को समझते हुये भी अपनी डबल फीस अदा करने के विचार से उसने उसके गाल पर नश्तर लगाया और नखचूटी से एक चावल खून में भिगो कर निकाला तथा दिखाते हुये कहा कि इनके तो अजीर्ण के कोप से मुंह में कीडे पड़ गये हैं। अतः तुम दोनों बाहर चली जाओ; मुझे इन कीड़ों को धीरे धीरे निकालने दो। माँ बेटी अफसोस करती हुई बाहर चली गई तो डाक्टर ने कहा कि कमअकल अब तो इन चावलों को थूक दे अगर भूखा नहीं रहा जाता है तो अब तुझे दूध पिला दिया जावेगा। उसने मिट्टी भरे सकोरे में थूक दिया। डाक्टर ने उन पर और मिट्टी डालदी और उन दोनों औरतों को बुला कर कहा-जाओ इन विषैले कीड़ों को गढ़ा खोद कर दबा दो तथा इन्हें दूध पिलाओ।

मतलब इस सबका यह कि बिना मन को वश में किये जो उपवास किया जाता है उससे ऐसाही दुरुपयोग होता है। हां मन और इन्द्रियों को वश में रख कर जो उपवास किया जाता है। तो उससे आत्मबल बढ़ता है। हमारे भारत के हृदय सम्राट महात्मा गांधी जी ने तो उपवास के बल पर बड़े २ कार्य कर बताये थे। उनके सत्याग्रह, असहयोग और उपवास ये तीन ही खाश प्रयोग थे। हमारे आर्ष शास्त्रों में भी उपवास की बड़ी ही महीमा बताई है। साधु महात्मा लोगों के करने योग्य तपश्चरण में तो सबसे पहिला नम्बर उपवास का ही रखा गया है किन्तु ग्रहस्थों को भी कम से कम एक सप्ताह में एक उपवास करने करने को आवश्य कहा गया है।

—

दान करना

दान का सीधा सा मतलब है अपने तन मन और धन से औरों की सहायता करना। मनुष्य जीवन ही ऐसा है कि किसी न किसी रूप में दूसरे से सहायता लिये बिना उसका कुछ भी काम नहीं बन सकता है। जबकि औरों से सहायता लिये विना निर्वाह नहीं तो फिर औरों की सहायता करना भी उचित ही है। अतः दान करना परमावश्यक है परन्तु इसके साथ बात भी सही है कि यह मनुष्य लेना तो जानता है और देने में संकोच किया करता है।

आम तौर पर देखनेमें आता है कि मनुष्य दोनो हाथोंसे कमाया करता है मगर खाता एक हाथसे है इसका मतलब यही कि मनुष्य काम धन्धे में अपने दोनों हाथोपर भरोसा रखे अपने कर्त्तव्य कार्य को दूसरे से करवा लेने का विचार अपने मन में कभी न आने दे। प्रकृति ने जब खुद को दो हाथ दिये हैं तो फिर क्यों व्यर्थ ही दूसरे के सहारे को टटोलता रहे। हरेक समुचित काम को सबसे पहले अपने आप खुद कर बताने को तैयार रहे। हां, जो अपने दोनों हाथों की कमाई है उसमें से एक हाथ की कमाई को तो अपने शरीर के निर्वाह में और कुटुम्ब के पालन पौपण में खर्च करे। शेष एक हाथ की कमाई को परमार्थ के लिये बचाकर रखे उसे परोपकार के कार्यो में खर्च करे। लेने के स्थान पर किसी को कुछ देना सीखे ऐसा हमारे बुजुर्गों का कहना है।

हरएक को चाहिये कि घर पर आये हुए आत्मा को होनहार परमात्मा मानकर उसका सत्कार करे और भी कुछ नहीं तो कम से

कम मिष्ट सम्भाषण पूर्वक अपने पास बैठने को उसे जगह देवे। भूखे को रोटी खिलाकर प्यासे को पानी पिलादे। भूले भटके हुये को सही रास्ता बतलादे।

दान अपनी कमाई में से देना

किसी एक गांव का राजा मर जाने से उसकी एवज में उसके बेटे का राज तिलक होने लगा। जिसकी खुशी में वहां उसने दान देना शुरू किया जिसे सुनकर बहुत से आशावान् लोग वहां पर जमा हो गये। उन्हीं में एक पढ़ा लिखा समझदार पण्डित भी था जिसने होनहार राजा की प्रशंसा में कुछ श्लोक पढ़कर सुनाए। राजा बड़ा खुश हुआ और बोला कि तुमको जो चाहिए सो लो। पण्डित ने कहा मै अभी आपसे क्या लूं? फिर कभी देखा जावेगा। राजा ने कहा कि कुछ तो अभी भी तुकको मुझसे लेना ही चाहिये। पंडित बोला कि यदि आप देना ही चाहते हैं तो एक रुपया मुझे दे दीजिए मगर वह आपका अपनी कमाई का होनो चाहिये। इसको सुनकर और सब लोग तो कहने लगे कि इसने राजा से क्या मांगा। कुछ नहीं मांगा परन्तु राजा ने सोचा कि इसने तो मुझसे बहुत बड़ा दान मांग लिया क्योंकि मेरे पास इस समय मेरा कमाया हुआ तो कुछ भी नहीं है यह जो राज्य सम्पति है वह तो या तो पिता जी की देन है या यों कहो कि इस पर आम प्रजा का अधिकार है। मेरा इसमें क्या है? अतः मैं मेरी मेहनत से कमाकर लाकर एक रुपया इसे दूं मैं उसके बाद ही इस राज्य सिंहासन पर बैठूंगा ऐसा कह कर कोई काम करने की तलाश में गांव से चला गया। इसे राजपुत्र

तथा होनहार राजा समझकर जिसके भी पास में वह जावे तो उसका सम्मान तो खूब ही हो मगर इससे कोई भी काम कैसे लेवे और क्या काम लेवे। अतः बहुत देर तक चक्कर काटते २ वह एक लुहार की दुकान पर पहुंचा। लुहार लोहा गरम करके उसे घन से कूटने को था जो कि अकेला था दूसरे किसी सहकारी की प्रतीक्षा में था उसके पास जाकर बोला कुछ काम हो तो बताओ? तब लुहार बोला आओ मेरे साथ इस लोहे पर घन बजाओ और श्याम तक ऐसा करो तो तुम्हें एक रुपया मिल जावेगा। राजापुत्र ने सोचा ठीक है परन्तु जहाँ उसने घन को उठाकर एक दो बार चलाया तो उसका सारा शरीर पसीने में तर बतर हो रहा। राजपुत्र बोला कि बाबा यह काम तो बड़ा कठिन है जबाब मिला कि नहीं तो फिर रुपया कहीं ऐसे ही थोड़े ही मिल जाता है। खून का पानी हो जाता है तो कहीं पैसा देखने को मिलता है। राजपुत्र सुनकर दंग रह गया परन्तु और करता भी क्या लाचार था। जैसे तैसे करके दिन भर घन बजाकर रुपया लिया तथापि समझ जरूर गया कि आम गरीब जनता इस प्रकार परिश्रम करके पेट पालती है। हम सरीखे राज-घराने वालों को इसका बिलकुल भी पता नहीं है अगर वह पण्डित ऐसा दान देने को न कहता तो मुझे भी क्या पता था। कि प्रजा के लोगों को अपना, अपने कुटुम्ब का भरण पोषण करने के लिये किस प्रकार कष्ट सहन करना पड़ते हैं। अस्तु राजपुत्र वह रुपया ले जाकर पण्डित को देते हुये कहने लगा कि महाशय जी धन्य है, आपने मेरी आंखें खोल दी। पण्डित बोला प्रभो मुझे यह एक रुपया देकर उसके फल स्वरूप अब आप सच्चे राजा हो रहेंगे।

दान का सही तरीका—

आपने राजस्थान इतिहास देखा होगा। वहां महान् उदयन का वृत्तान्त लिखा हुआ है। वह मननशील विद्वान था। परन्तु दरिद्रता के कारण उसके पैर जमीन पर नहीं जम सके थे। अतः वह नंगे पैर मारवाड़ के रेतीले मैदान को पार करते हुए बड़े कष्ट के साथ सिद्धपुर पाटन तक पहुँच पाया। उसने दो दिन से कुछ भी नहीं खाया था और शरीर पर मैले तथा फटे कपड़ों को पहरे हुये था। वह वहां पहुँच तो गया परन्तु वहां भी उसे कौन पूछने वाला था। उसका नाते रिस्तेदार या परिचित तो था ही नहीं जोकि उसके सुख दुःख को उसे पूछता। थोड़ी देर बाद वह एक जैन धर्मस्थान के द्वार पर जा बैठा। यद्यपि वहां पर धर्म साधन करने के लिये अनेक लोग आते थे और ईश्वरोपासना तथा धर्मोपदेश करके जा रहे थे जिनमें कितने ही श्रीमान् लोग भी थे जिनके गले में सोने के तोड़े और शीश पर सुनहले काम की पगड़ियाँ चमक रही थी। जोकि अपनी नामवरी के लिये तिजोरी खोलकर पैसे को पानी की भांति बहाने वाले थे मगर गरीब मुसाफिर की तरफ कौन देखने वाला था।

हां! थोड़ी देर बाद एक बहनजी आई। जिसका नाम लक्ष्मीबाई था। वह यथानाम तथा गुण वाली थी। उसने उसी दिन उदयन को विकल दशा में बैठे हुये देखा तो पूछा कि यहां पर किस लिये आये हो? जवाब मिला कि रोजी की तलाश में। बहन जी ने फिर पूछा कि-क्या तुम्हारी जान पहचान का यहां पर कोई है? जवाब मिला कि नहीं। क्षणभर विचार कर बहनजी ने कहा कि भाई जी

फिर कैसे काम चलेगा ? बिना जान पहचान के तो कोई पास में भी नहीं बैठने देता है। उदयन ने कहा बहनजी ! कोई बात नहीं, मैं तो अपने पुरुषार्थ और भाग्य पर भरोसा करके यहां पर आ गया हूं। अगर कोई अच्छा काम मिल गया तब तो अपने दो हाथ बताऊंगा, नहीं तो भूखा रह मर मिटूंगा। इतना सुनते ही लक्ष्मीबाई बोली कि अभी भोजन किया है या नहीं ? इस पर उदयन बोला कि बहनजी मुझे भोजन किये हुये दो रोज हो लिये हैं और न जाने कितने दिन और ऐसे ही निकल जावेंगे। परन्तु भूख की चिन्ता नहीं है अगर भूख की परवाह करता तो फिर मैं मेरे गॉव से इतनी दूर तक चल कर भी कैसे आ जाता।

यह सुनते ही लक्ष्मीबाई का हृदय हिल गया, वह बोली कि तुम मेरे साथ चलो भाई ! भोजन तो करो फिर जैसा कुछ होगा देखा जावेगा। उदयन ने कहा बहन जी आप तो ठीक ही कह रही हैं, मगर मैं आपके साथ कैसे चलूं ? मैंने आपके यहां का कोई भी कार्य तो किया नहीं• फिर आपके साथ मुफ्त की रोटी खाने को कैसे चल सकता हूँ। लक्ष्मीबाई बोली तुम ठीक कह रहे हो मगर तुमने मुझे बहन कहा है और मैंने तुमको भाई। फिर भाई के लिये बहन की रोटी मुफ्त की नहीं होती किन्तु अभूतपूर्व भ्रातृ स्नेह के उपहार स्वरूप होती है। अतः उसके खाने में कोई दोष नहीं है। तुम भले ही किसी भी कोम के, कोई भी क्यों न हो मगर धार्मिकता के जबकि तुम मेरे भाई हो और मैं तुम्हारी बहन फिर संकोच कैसा ? तुमको तो सहर्ष मेरा कहना स्वीकार कर लेना चाहिये, अन्यथा तो फिर मेरी तबियत को बड़ी ठेस लगेगी। भाई

साहेब ! अतः कृपा कर मेरा कहना स्वीकार कीजिये और मेरे साथ चलिये।

लक्ष्मीबाई के इस तरह के स्वाभाविक सरल विनिवेदन का उदयन के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। अतः वह उसके साथ हो लिया। घर जाकर लक्ष्मीबाई ने उदयन को प्रेम और आदर के साथ भोनज कराया तथा अपने पतिदेव से कह कर उसके योग्य कुछ समुचितकुछ काम भी उसे दिलवा दिया। जिसे पाकर उन्नति करते हुये वह धीरे धीरे चल कर एक दिन वही सिद्धपुर पाटन के महाराज का महामंत्री बन गया। जिसने प्रजा के नैतिक स्तर को ऊंचा उठा कर उसे सन्मार्गगामिनी बनाया ।

मतलब यह कि वही सच्चा दान होता है कि दाता के सात्विक भावों से ओतप्रोत हो एवं जिसको दिया जावे उसकी आत्मा को भी उन्नत बनाने वाला हो तथा विश्वभर के लिये आदर्श मार्ग का सूचक हो।

बड़ा दान

यद्यपि आमतौर पर लोग एक रुपया देने वाले की अपेक्षा पांच रुपये देने वाले को और पांच देने वाले की अपेक्षा पचास तथा पाँचसो देने वाले को महान दानी कहकर उसके दान की बड़ाई किया करते हैं। मगर समझदार लोगों की निगाह में ऐसी बात नहीं है क्योंकि एक अदमी करोड़पति अरबपति जिसकी अपने खर्चको बाद देकर भी हजारों रुपये रोजाना कीआमदनी है वह आडे हाथ भी किसीको यदि सौ रुपये देदेता हैंतो उसके लिये ऐसा करना कौनसी बड़ी बात है।

हां कोई गरीब भाई दिन भर मेहनत मजदूरी करके बड़ी मुसकिल से कहीं अपना पेट पाल पाता है। वह आदमी अपनी उन दो रोटियों में से आधी रोटी भी किसी भूखे को दे देता है तो वह उसका दान बड़ा दान है' उसकी बड़ी महिमा है। वह महा फल का दाता होता है।

एक समय की बात है मैं कलकत्ते में काम किया करता था तो वहां कांग्रेस का सालाना जलसा हुआ जिसके अन्त में महात्मा गांधी जी ने कांग्रेस की सहायता करने के लिये आमजनता के सम्मुख अपील रखी। जिसको लेकर किसी मकानदारने अपना एक मकान कांग्रेस को दिया तो किसी धनवान ने लाख रुपये, किसी ने पचास हजार रुपये इत्यादि। इतने में एक खांचा मुटिया आया और बोला कि महात्मा जी ? मैं भी ये आठ आने पैसे जो कि दिन भर मुटिया मजदूरी करने से मुझे प्राप्त हुये हैं। देश सेवार्थ कांग्रेस के लिये अर्पण करता हूँ। क्या करूं अधिक देने में असमर्थ हूँ रोज मजदूरी करता हूं और पेट पालता हूं मगर मैंने यह सोच कर कि देश सेवा के कार्य में मुझे भी सामिल होना चाहिये, यह आजकी कमाई भर कांग्रेस की भेंट कर रहा हूँ। मैं आज उपवास से रह लूंगा और क्या कर सकता हूँ ?

इस पर महात्मा गांधी जी ने उस भाई की भूरि भूरि प्रशंसा की थी और कहा था कि हमारे देश में जब ऐसे त्यगा पुरुष विद्यमान हैं। तो फिर हमारा देश स्वतन्त्र होने में अब देर नहीं समझना चाहिये। हमारे पुराने साहित्य में भी एक कथा आती है कि एक मेहनतिया था जो कि मेहनत करके उसके फल

स्वरुप कुछ अनाज लाया और लाकर उसने उसे अपनी घर वाली को दिया ताकि वह उसे साफ सुथरा करके पीस कर उसकी रोटियां बनाले। औरत ने भी ऐसा ही किया उसने उसकी मोटी मोटी तीन रोटियां बनाई क्योंकि उसके एक छोटा बच्चा भी था। अतः उसने सोचा कि हम तीनों एक एक रोटी खाकर पानी पीलेवेगे। रोटियां बन कर जब तैयार हुई तो मरद के दिल मे विचार आया कि यह कमाना और खाना तो सदा से लगा ही हुआ है और जब तक जिन्दगी है लगा ही रहेगा। हमारे बुजर्गों ने बताया है कि कमा खाने वाले को कुछ परार्थ भी देना चाहिये तो आज तो फिर यह मेरे हिस्से की रोटी किसी अन्य भूखे को ही देलूं। मै आज भूखा ही रहलूंगा। इतने ही में उसे एक मासोपवासी चीणकाय दिगम्बर परमहंस साधु दिखाई दिये। तो उन्हें देख कर वह बोला कि साधु जी? प्रणाम, मेरे पास रूखी सूखी और बिना नोनकी जो कि रोटी है मैं इसे मनसा वाचा कर्मणा आपके लिये देना चाहता हूं। आइये और आप इसे खा लीजिये। साधु तो मन और इन्द्रियों के जीतने वाले होते हैं। सिर्फ इस शरीर से भगवद्भजन बन जावे इस विचार को लेकर इसे चलाने के लिये कुछ खुराक दिया करते हैं। जिस पर भी उनके तो आज ऐसा ही अभिग्रह भी था। अतः उन्होंने उसकी दी हुई उस रोटी को अपने हाथों में ली और खड़े खड़े ही मौनपूर्वक खा गये। इतने में औरत ने भी विचार किया कि ऐसे साधुओं के दर्शन कहां रखे हैं। हम लोगों का बड़ा भाग्य है ताकि हमारा रूखा सूखा अन्न आज इनके उपयोग में आ रहा है। लड़के ने भी सोचा कि ओह ये तो हम लोगों से भी गरीब दीख रहे हैं।

जिनके शरीर पर बिलकुल कपड़ा नहीं, खाने के लिये कोई पात्र नहीं, रहने को जिनका कोई घर नहीं इनके काम में मेरी रोटी आगई इससे भली बात और क्या होगी। इस पर देवताओं ने भी अहो यह दान महादान है ऐसा कहते हुये आकाश में से फूलवर्षाये तथा जय जय कार किया। सो ठीक ही है। परमार्थ के लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देना ही मनुष्य जन्म पाने का फल है। अन्यथा तो फिर स्वार्थ के कीच में तो सारा संसार ही फंसा हुआ दीख रहा है।

समाधिमरण

जिसने भी जन्म पाया है, जो भी पैदा हुआ है उसे मरना अवश्य होगा, यह एक अटल नियम है। बड़े बड़े वैज्ञानिक लोग इस पर परिश्रम करके थक लिये कि कोई भी जन्म लेता है सो तो ठीक, मगर मरता क्यों है ? मरना नहीं चाहिये। फिर भी इस में सफल हुआ हो ऐसा एक भी आदमी इस भूतल पर नहीं दिख पड़ रहा है। धन्वन्तरि जी वैष्णवों के चोबीस अवतारों में से एक अवतार माने गये है। कहा जाता है कि जहां वे खड़े होजाते थे, वहां की जड़ीबुटियां भी पुकार पुकार कर कहने लगती थी कि मैं इस बीमारी में काम आती हूँ, मै अमुक रोग को जड़ से उखाड़ डालती हूं। मगर एक दिन आया कि धन्वन्तरि खुद ही इस भूतल पर से चलबसे। जड़ीबूटियां यहीं पड़ी रही और धन्वन्तरि शरीर त्याग कर चले गये। उनका औषधिज्ञान इस विषय में कुछ भी काम नहीं आया—

मुसलमानों में भी लुकमान हकीमसे हुये हैं जो कि चोदह पीरों में से एक पीर कहे जाते हैं। मगर मोत आकर उनका भी लुकमा कर गई। जैसे सिंह हिरण को और वाज तीतर को धर दबाता है। वैसे ही मोत मनुष्यों को एवं समस्त शरीरधारियों को हड़प लेती है, वह कब किसको अपना ग्रास बनायेगी यह निश्चित रूप से हम तुम सरीखी नहीं जान सकता है। अनेक लोग मोत से बचने के लिये टोणा-टामण जन्तर-मन्तर करते हैं, तवीज बनाकर गले में वान्धते हैं। फिर भी मोत अपना दाव नहीं ही चूकती, समय पर आही दवाती है। उससे बचने के लिये शरीरधारी के पास कोई भी चारा है ही नहीं। ऐसी हालत में समझदार आदमी मोत से डरकर भागे तो क्यों भागे? और भाग कर जावे भी कहां, उसके लिये जगह भी कहां तथा कौनसी है जहां कि वह उससे बचरहे।

हां, तो इसका क्या अर्थ है कि गले में अङ्गुलि डाल कर मर जाना चाहिये? सो नहीं, क्यों कि ऐसा करना तो नरसे नारायण बना देने वाले इस मानव शरीर के साथ विद्रोह करना है। चिन्तामणि रत्न को हथोंड़े की चोट से बरबाद करना है। यह पहले दर्जे की बे समझी है। परन्तु इसकी किराये की कोठरी के समान समझते हुये रहना चाहिये।

जैसे किसी को कुछ अभीष्ट करना हो और उसके पास अपना नियत स्थान न हो तो वह किसी किराये के मकान में रहकर अपने उस कार्य का साधन किया करता है। सिर्फ वहां पर रहकर अपना कार्य कर बताने पर दृष्टि रखता है, न कि उस मकान का मालिक ही बन बैठता है। मकान को तो मकानदार जब भी खाली करवाना

चाहे करवा सकता है यह उसे बेउजर खाली कर देने को तैयार रहता है। क्योंकि मकान उसका है। हां जब तक उसमें रहे यथा शक्य झांट पोंछकर साफ सुथरा किये रहे यह उसकी समझदारी है।

जीवात्मा ने भी भगवान का भजन कर अपना कल्याण करने को इस शरीर रूपी कुटिया में अपना स्थान बनाया है सो इस में रहते हुये इसके सम्मुख अनेक तरह के भले और बुरे प्रसङ्ग आ उपस्थित होते है। उनमें से बुरे को बुरा मान कर उनसे दूर भागने की चेष्टा करना और भलों को भला मान कर उनके पीछे ही लगा रहना इस उलझन में ही फंस जाना ठीक नहीं। किन्तु उन दोनों तरह के प्रसङ्गो में तटस्थ रूप से सुप्रसन्न हो कर निरन्तर परम परमात्मा का स्मरण करते रहना चाहिये। फिर यह शरीर यदि कुछ दिन टिका रहे तो ठीक और आज ही नष्ट हो जावे तो भी कोई हानि नही ऐसे सुप्रसिद्ध पुरुष के लिये मोत का कोई डर नही रह जाता, जिस मोत के नाम को सुन कर भी संसारी जीव थर २ कापा करते हैं।

मोत क्या चीज है ?

एक सेठ था जिसके पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से ऐहिक सुख की सब तरह की साधन सामग्री मोजूद थी। अत. उसे यह भी पता नही था कि कष्ट क्या चीज होती है। उसकी प्रत्येक क्षण अमन चैन से बीत रही थी। अब एक रोज उसके पड़ोसी के यहां पुत्र जन्म की खुशी में गीत गाये जाने लगे जो कि बड़े ही-सुहावने थे जिन्हें सुनकर उस सेठ का दिल भी बड़ा खुश हुआ। परन्तु

संयोगवश थोड़ी देर बाद ही वह बच्चा मर भी गया तो वहां पर गाने के स्थान पर छाती, मूंड कूट कूट कर रोया जाने लगा। जिसे सुनकर सेठ के मन में आश्चर्य हुआ। अत. उसने अपनी माता से पूछा कि मैया यह क्या बात है? थोड़ी देर पहिले जो गाना गाया जा रहा था वह तो बहुत ही सुरीली आवाज में था मगर अब जो गाना गाया जा रहा है वह तो सुनने में बुरा प्रतीत हो रहा है।

माता ने कहा, बेटा! यह गाना नहीं किन्तु रोना है। थोड़ी देर पहले जिस बच्चे के जन्म की खुशी में गीत गाये जा रहे थे वही बच्चा अब मर गया है जिसे देख देखकर उसके घर वाले अब रो रहे हैं। सेठ दौड़ा और जहां वह बच्चा मरा हुआ पड़ा था तथा लोग रो रहे थे वहां गया। उसने उस मरे हुए बालक को देखा और खूब गौर से देखा। देखकर वह बोला कि क्या मरा है। इसका मुंह, कान, हाथ, नाक आंखें और पैर आदि सभी तो ज्यों के त्यों हैं फिर आप लोग रो क्यों रहे हैं? तब उन रोने वालों में से एक आदमी कहने लगा कि सेठ साहब आप समझते नहीं हो तुमने दुनियां देखी नहीं है। इसलिए ऐसा कहते हो। देखो अप लोगों का पेट कभी ऊंचा होता है और कभी नीचा लेकिन इसका नहीं हो रहा है। अपनी छाती धड़क रही है परन्तु इसकी छाती मे धड़कन बिलकुल नहीं है। मतलब कि हम लोगों के इन जिन्दा शरीरों में एक प्रकार की शक्ति है जिससे कि जीवन के सब कार्य सम्पन्न होते हैं जिसका कि नाम है आत्मा। वह आत्मा इसके शरीर में नहीं रही है अतः यह मुर्दा यानि बेकार हो गया हुआ है। हम लोगों के शरीरों में से भी वह निकल जाने वाली है सो किसी

की दो दिन पहिले और किसी की दो दिन पीछे अवश्य निकल जावेगी एवं हमारे ये शरीर भी इसी प्रकार मुर्दा बन जावेंगे मौत पा जावेंगे।

आत्मा जिसका कि वर्णन ऊपर आ चुका है जिसके कि रहने पर शरीर जिन्दा और न रहने पर मुर्दा बन जाता है वह आत्मा अपने मूल रूप में शाश्वत है कभी भी नष्ट नहीं होने वाली है और अमूर्तिक है उसमें न तो किसी भी प्रकार का काला पीला आदि रूप है, न खट्टा न मीठा चरपरा आदि कोई रस है। न हलका, भारी, रूखा, चिकना, ठण्डा, गरम और कड़ा या नरम ही है। न खुशबुदार या बदबूदार ही है। हां सिर्फ चेतनावान है, हरेक चीज के गुण दोषों पर निगाह करने वाला है। जिसमें अवगुण समझता है उससे दूर रहकर गुणवान के पीछे लगे रहना चाहता है। यह इसकी अनादि की टेव है जिसकी वजह से नाना तरह की चेष्ठाएं करने लग रहा रहा है। उन चेष्टाओं का नाम ही कर्म है। उन कर्मों की वजहं से ही शरीर से शरीरान्तर धारण करता हुआ चला आ रहा है इसी का नाम संसार चक्र है।

संसार चक्र में परिश्रम करता हुआ आत्मा इतर जीवात्मा को कष्ट देने वाला बनकर नरक में जा जन्म लेता है तो यहां स्वयं अनेक प्रकार के घोर कष्ट सहन करता है। अपने ऐश आराम की सोचते रहकर छलवृति करने वाला जाकर पशु या पक्षी बनता है तो वहां अपने से अधिक बलशाली अन्य प्राणियों द्वारा वन्चना पूर्ण कष्ट उठाता है। हां अगर औरों के भले की सोचता है तो उसके फलस्वरूप स्वर्ग में जन्म लेकर सुखसाता का अनुभव करने वाला बनता है परन्तु संतोष भाव से अपना समय बिताने वाला जाकर मानव बनता है जिस मानव जन्म में अपने आपके उद्धार का मार्ग

यदि यह चाहे तो ढूंढ निकाल सकता है। लेकिन अधिकांश जिवात्मा तो मानव जन्म पाकर भी मोह माया में ही फंसा रहता है। इस शरीर के सम्वन्धियों को अपना सम्वन्धी मानकर उनमें मेरा २ करने वाला और बाकी के दूसरे पदार्थों को पराये मानकर उनसे नफरत करने वाला होकर रहता है।

कोई विरला ही जीव ऐसा होता है जो कि शरीर से भी अपने आप (आत्मा) को भिन्न मानता है एवं जबकि आप इस शरीर से तथा इतर सब पदार्थों से भी भिन्न है। ऐसी हालत में पराए गुण दोषों पर लुभाने से क्या हानि लाभ होने वाला है। पराये गुण दोष परमें होते हैं उनसे इसका क्या सुधार बिगाड़ हो सकता है? क्यों व्यर्थ ही उनके बारे में संकल्प विकल्प करके अपने उपयोग को भी दूषित बनावे? तटस्थ हो रहता है। उसके लिये फिर इस संसार में न कोई भी सम्पत्ति ही होती है और न कोई विपत्ति ही. वह तो सहज तथा सच्चिदानन्द भाव को प्राप्त हो रहता।

समता के द्वारा ममता को मिटा डालता है। क्षमा से क्रोध का अभाव कर देता है। विनीत वृत्ति के द्वारा मान का मूलोच्छेद कर फेंकता है। अपने तन, मन और वचन में प्राप्त किये हुए सरल भाव से कपट को पास में भी नहीं आने देता और निरीहता के द्वारा लोभ पर विजय पा जाता है। इस प्रकार कर्मजयी बनकर आत्मा से परमात्मा हो लेता है फिर सूके हुवे घाव पर खरूंड की भांति उसका यह शरीर भी अपने समय पर उससे अपने आप दूर हो जाता है। आगे के लिये फिर कभी शरीर धारण नहीं करना पड़ता।

❀ ॐ शान्ति ❀

यही एक कर्तव्य है सुखी बनें सब लोग,
रोग शोक दुर्भोग का कभी ना होवे योग ॥
यही एक कर्तव्य है कहीं ना हो संत्रास,
किसी जीव के चित में, सबलें सुख की साँस ॥
यही एक कर्तव्य है कभी न हो दुष्काल,
भूप और अनुरूप भी सभी रहे खुशहाल ॥

इति शुभ भूयात्

गुरु मण्डल

का

छठा पुष्प
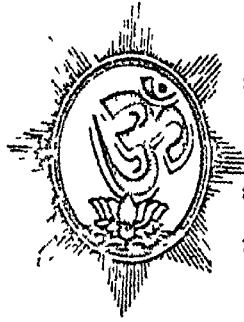
सत्य की जय हो
असत्य का नाश हो
अहिंसा की जय हो
भावना पवित्र हो

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

गृहस्थ-धर्म

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग भवेत् ॥

श्रीविष्णवे नमः।

प्रातः स्मरण मन्त्र :—(ऋग्वेद मंडल ७। सूक्त ४१)

ओ३म् प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रा वरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ॥ १ ॥
ओ प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ २ ॥
ओं भग प्रणेतर्भग सत्यराधो, भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥
ओं उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥
ओं भग एव भगवां अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति, स नो भग पुर एता भवेह ॥ ५ ॥

अर्थ—प्रात.काल हम प्रकाशस्वरूप, ऐश्वर्य के दाता, प्राण एवं उदान के समान प्रिय, वेदोंके कर्त्ता, भक्तोंके प्रतिपालक, अन्तर्यामी, न्यायकारी प्रभुकी स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

हमः प्रातः तेजस्वी, सूर्यादिके धारणकर्त्ता, विश्वके पालक, चेतन स्वरूप, परम माननीय सबके राजा, परमेश्वर की स्तुति करते हैं जिस प्रभुने विश्वके समग्र ऐश्वर्य हमारे लिये रचकर उनके भोग (अनासक्त भाव से) करने की पूरी स्वतन्त्रता हमें दी है ॥ २ ॥

हे सकल ऐश्वर्यके स्वामीन, हे हमारे नेता और पथप्रदर्शक प्रभो! आप हमें सत्यसे उपार्जित धन दीजिये, बुद्धि दीजिये, भूमि वाणी वशमें रहनेवाली इन्द्रियां एवं गौ, घोड़े आदि दीजिये। आपकी कृपासे हम कुटुम्बी मित्रादि बहुत मनुष्योंसे युक्त होवें ॥ ३ ॥

हम इस ब्राह्म मुहुर्त्त में, सूर्योदयके समय, दो पहर और सब समय ऐश्वर्य.से युक्त रहें। परोपकारी विद्वानो की नेक सलाहमें रहें ॥ ४ ॥

हे नाथ, भग अर्थात् धन, बल, विद्या, ज्ञान, वैराग्य (ममत्ता त्याग एवं आस्तिकता रूप छः ऐश्वर्योंके हम स्वामी होवे। ये हमारे ऐश्वर्य आपकी सेवामें ही अर्पित होवें। आप हमें सारे ऐश्वर्य दीजिये,

* श्रीगणेशाय नमः *

संग्रहकर्त्ता

मनसुखराय मोर

तृतीय संस्करण के सम्पादक

अवधविहारीलाल

साहित्याचार्य, एम० ए०, बी० एल०

श्रीनाथादि गुरुत्रयं गणपतिं पीठत्रयं भैरवं ।
सिद्धौघं वटुकत्रयं पदयुगं दूतीक्रमं मण्डलम् ॥
वीरान्द्व्यष्ट चतुष्कषष्टिनवकं वीरावली पंचकं ।
श्रीमन्मालिनिमन्त्रराजसहितं वन्दे गुरोर्मण्डलम् ॥

मिलने का पता :—

५, क्लाइव रो, कलकत्ता ।

पञ्चम संस्करण २०,०००] १९५० [सं० २००६ वि०

ओ३म्

प्राक्कथन

जिनके भव्य भावोंकी चारु कुसुमाञ्जलिको प्रस्तुत पुस्तकाकार मालाके रूपमें ग्रथित कर मैं जनता जनार्दन को अर्पित करने जा रहा हूं वह सेठ मनसुखरायजी मोर एक आदर्श गृहस्थ हैं। स्कूली शिक्षा अधिक न पाकर भी किस प्रकार मनुष्य अपने सतत स्वाध्याय और अध्यवसायसे शास्त्रोंके निगूढ़ तत्त्वोंका गम्भीर अन्वेषक और पर्यालोचक हो सकता है, विपुल सम्पत्तिका स्वामी होकर भी कैसे सादा, सात्त्विक, आडम्बरशून्य जीवन बिता सकता है, इस सम्बन्धमें प्रशंसित सेठजीका जीवन जनसाधारणके लिये तथा पूँजीवादके प्रति बढ़ते हुए असन्तोषके इस वर्तमान युगमें धनिकवर्गके लिये भी विशेष अनुकरणकी वस्तु है। संस्कृत भाषामें अधिक प्रवेश न होनेपर भी आपका इसमें अगाध प्रेम है। आप सदा रामायण, महाभारत, पुराण एवं स्मृति आदि ग्रन्थोंका पाठ करते रहते हैं और उनमेंसे ही अनमोल रत्न निकालते रहते हैं। आप शास्त्रोंके मर्मको बड़ी गहराईसे विचारते हैं। वैदिक साहित्यसे यद्यपि आपका सम्पर्क मेरे ही कारण हुआ है फिर भी वेदार्थ करनेमें कहीं-कहीं मैं आपकी अनोखी सूझसे बहुत अधिक प्रभावित हुआ हूं। आपका यह उद्योग वर्षों से आ रहा है कि आर्ष ग्रन्थोंके पवित्र आदेश स्वयं निकालकर अथवा विद्वानोंके सहयोगसे सङ्कलित कराकर जन-साधारणके सामने पुस्तकाकारमें बिना मूल्य पहुंचाये जांय। प्रस्तुत पुस्तक उसी श्लाघ्य सत्कार्य का नूतनतम रूप है।

आप धर्मको उसके वास्तविक शुद्ध रूपमें माननेवाले और प्रचार करनेवाले हैं। यथार्थमें धर्म कोई मतमतान्तरके झगड़े और वैर-विरोधकी वस्तु नहीं है। धर्म तो सारे प्राणिमात्रका धारण अर्थात् पालन करनेवाला है। 'धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः' महर्षि व्यासका यह कथन सभी धर्म-प्रेमियोंको सदा स्मरण करने योग्य है। महर्षि कणादने तो वैशेषिक दर्शनमें यहाँ तक कह दिया है कि 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिससे सांसारिक उन्नति (लोकयात्रा का सुन्दर सफल निर्वाह) एवं परलौकिक परमानन्द मोक्ष सुखकी प्राप्ति हो वही धर्म है। मनुमहाराजके बताये धर्मके दश लक्षण तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं ही—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

धृति (धैर्य रखना, उतावला न होना, विपत्तिमें न घबड़ाना), क्षमा (अपने प्रति किये गये अपकारों वा अशिष्ट व्यवहारो को स्मरण न रखना, प्रतिहिंसा की भावना त्याग देना), दम (अपने मनको वशमें रखना), अस्तेय (दूसरे की वस्तु वह कितनी ही तुच्छ क्यो न हो उसकी आज्ञाके विना, किंवा उसकी इच्छाके विरुद्ध न लेना), शौच (शरीर, मन और आत्मा की पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह (इन्द्रियों को अपने वशमें रख उनसे सदुपयोग लेना, स्वयं उनके दास न होना), धीः (बुद्धि), विद्या (सृष्टिसे लेकर ब्रह्म तक सबका यथावत् ज्ञान प्राप्त करना), सत्य (मनसा

वाचा कर्मणा सत्यका पालन करना) एवं अक्रोध (क्रोध न करना) ये ही दश लक्षण धर्म के हैं। यदि किसी मनुष्यमें इन लक्षणोंकी विद्यमानता है तो समझना चाहिये कि वह मनुष्य धर्मात्मा है। यदि ये लक्षण नहीं हैं तो उस मनुष्यमें धर्म नही है यह समझना चाहिये, चाहे उसने बाहरी चिन्ह माला, छाप, तिलक, रंगीन वस्त्र आदि कितने ही क्यों न धारण किये हों। क्योंकि 'न लिंगं धर्मकारणम्' वेशविशेष धर्म के कारण नहीं हैं।

धर्म अविभाज्य, सार्वभौम और सार्वकालिक है। कालविशेषमें व्यक्तिविशेषके साथ सत्यका व्यवहार करना चाहिये कालान्तरमें अन्य व्यक्तिके साथ नहीं, यह मत मान्य नहीं है। सच्चे धर्म में नीति, पालिसी, सुविधावाद आदि का स्थान नहीं है। मनुष्यको किसी समय, किसी परिस्थिति में भी असत्य भाषण किंवा असत्य व्यवहार नहीं, करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य मानव-जीवनके उत्थानमें बड़ा सहायक है। इस पुस्तकमें इस तथ्यका प्रतिपादन किया गया है। कम उम्रके बालक बालिकाओं का दाम्पत्य सम्बन्ध मानवमात्रके लिये घातक है। गृहस्थ आश्रममें भी ऋतुगामी होने और पति-पत्नी सन्तानार्थ ही दाम्पत्य सहवास करें इसपर इस पुस्तकमें बड़ा बल दिया गया है। गृहस्थ को एक सन्तानके बाद दूसरी सन्तान की उत्पत्तिमें पांच वर्ष का अन्तर आवश्यक रूपसे रखना चाहिये। अन्यथा सन्तान दुर्बल, विकलाङ्ग एवं अल्पायु होगी। माता-पिता का भी स्वास्थ्य नष्ट होगा। इस विषय को भी इस पुस्तक में

समझानेका प्रयास किया गया है। मनुष्य का जीवन कर्ममय होना चाहिये। प्रभुने जीवके कल्याणार्थ संसार रूपी कर्मक्षेत्र की रचना की है और मानव जन्म दिया है कि जिससे मनुष्य कर्म करनेका अवसर प्राप्त करे और अपने पुरुषार्थ से विश्वके इतर प्राणियों का कल्याण कर प्रभुके अमृतपुत्र कहलाने का अधिकारी अपने को बना सके एवं इहलौकिक जीवनकी समाप्तिके अनन्तर परमपद की प्राप्ति कर सके। ऐसे अमूल्य जीवनको आलस्य, प्रमाद, दिवा-निद्रा एवं दुर्व्यसन में बिताना हीरा को काच के मोलमें बेचनेके समान है। मनुष्यको कदापि निठल्ला नहीं रहना चाहिये। सब समय अपने को किसी न किसी प्रकारके उद्योगमें व्याप्त रखना चाहिये। 'बैठे से बेगार भला' यह लोकोक्ति इस भावको लेकर बनी है। कारण, निरुद्यमी बेकार बैठे मनुष्यका मस्तिष्क शैतान का कारखाना है—(*An idle brain is devil's work shop*)। किसी भी प्रकार का शुभ काम तो करते ही रहना चाहिये। अपनी शरीर रक्षा, जीविका, परिवार पालन, लोकोपकार इत्यादि सभी कार्योंके लिये सदा उद्योग करते रहना चाहिये। यदि ऐसी परिस्थितिमें पड़ जाय कि शारीरिक परिश्रम न कर सके तो प्रभुका नामस्मरण गायत्री जप इत्यादि ही करे, मनको निकम्मा न छोड़े। यह भी इस पुस्तक का एक मुख्य विषय है।

इस पुस्तकमें प्रतिपादित यह सिद्धान्त तो बड़ा ही मौलिक एवं विद्वानोंके विचारने योग्य है कि बच्चोंको गौ, बकरी आदि

पशुओंका दूध कभी नहीं देना चाहिये। प्रत्येक प्राणी शैशव-कालमें अपनी माताके ही दूधसे लालित-पालित हो बादमें पृथिवी, माताके दुग्धरूप अन्न, फल, मेवा आदिके द्वारा शरीर धारण करे। किसी भी उम्रमें मनुष्य को गोदुग्ध किंवा भैंस, बकरी आदि का दूध नहीं सेवन करना चाहिये। कारण, ऐसा करना प्रकृतिके नियमके विरुद्ध है, उन पशुओंके प्रति घोर अन्याय एवं पशु-दुग्धसेवी मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक शक्तिके लिये भी विघातक है। गो-दुग्ध आदि किसी भी अवस्थामें लिये जाँय अथवा नहीं, इस विषयमें मतभेद का अवकाश हो सकता है। परन्तु यह तो निर्विवाद है कि जिस रूपमें आज दुग्धके प्रति हमारी लोलुपता बढ़ रही है और येन-केन प्रकारेण दूध देनेवाली मादा पशुओंका अन्तिम बून्द तक दुग्ध दूह कर हम अपने उपयोगमें लानेपर पूरे उतारू हो गये है, उससे उन गौ आदि पशुओंके बछड़े मातृ-दुग्ध से सर्वदा वंचित किये जाकर मृत्यु मुखमें ढकेले जा रहे हैं, गोवंश का ह्रास हो रहा है। हम गौ को तो माता कहते हैं, परन्तु यह कहां की मातृभक्ति है कि अपनी माता के बच्चोंके साथ भ्रातृ-प्रेम न रखे, उनका ईश्वर-प्रदत्त आहार छीन लेवे।

हमें सादा सात्विक एवं तपस्वी जीवन बनाना चाहिये। कृत्रिमता और फैशनपरस्ती से बचकर प्राकृतिक ज़ीवन बिताना चाहिये, प्रकृति-माताकी गोदमें स्वच्छन्द खेलना चाहिये। इस ओर भी इस पुस्तक में संकेत किया गया है। यथार्थ में हम

प्राकृतिक तत्त्वोके जितने समीप होगे उतने ही हमारे शरीर, मन और प्राण शुद्ध, स्वस्थ और बलवान् होगे।

इस पुस्तकमें ऐसी ही बातें संग्रह की गई हैं जो सार्वतन्त्रिक एवं निर्विवाद है, जिन्हें अपनानेमे किसी देश, जाति या वर्गके मनुष्योंको लेशमात्र भी संकोच नहीं हो सकता है। शुद्ध सनातन वदिक धर्म सार्वभौम धम है, मानव धर्म है उसकी शिक्षाओंका, जो इस पुस्तक में लेखवद्ध की गई है, पालन करनेसे मनुष्य क्या प्राणिमात्र का कल्याण होगा ?

आवश्यक है कि इस सनातन सत्योंका विश्वमें व्यापक प्रचार हो। प्रस्तुत पुस्तक के लिखे जाने और उसकी प्रतियोंकी मांग के अनुसार किसी भी संख्यामें जनता तक बिना मूल्य पहुंचाने में सेठजी का यही पवित्र उद्देश्य है। हमें अपने कल्याण की दृष्टिसे ऐसी मर्यादा वना लेनी चाहिये जो वेदादि शास्त्रोके अनुकूल, सदाचारी, लोक-संग्रही पूर्वज महात्माओके आचरण के अनुरूप एवं अपनी आत्मा को प्रिय हो। ऐसा ही करनेसे हम स्वयं संसारमें सुख-शान्ति पूर्वक रह सकते हैं, समस्त विश्वमें सुख-शान्ति का राज्य स्थापित कर सकते हैं। विद्वानोंको, जिनके हाथमे ही मनुष्यमात्र का नेतृत्व करने, उन्हें सच्चा पथ दिखाने का विशेष उत्तरदायित्व है, अति उचित है कि एक मत होकर हमे कल्याण पथपर चलाने में प्रवृत्त होवे। वे हमें ऐसी शिक्षा देव एवं दिलानेका प्रबन्ध करें जिससे हम फैशन की दासता से छूट ब्रह्मचर्य पूर्वक रह सके, पारस्परिक वैर

विरोध छोड़कर प्राणिमात्र के हित करनेमें सम्मिलित प्रयत्न कर सकें।

पाठकोंसे मेरी सानुरोध प्रार्थना है कि वे इस पुस्तक को आदि से अन्त तक मनोयोग देकर स्वयं पढ़ें और दूसरों को भी पढ़ावें। इसमें वेदमन्त्रों, महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवत आदिके सुन्दर मन्त्रो और श्लोकों को कण्ठस्थ कर लेने अथवा समय-समय पर उनका पाठ करने से पाठकों का बड़ा कल्याण होगा, यह मेरी दृढ़ धारणा है।

विश्वाधार, जगन्नियन्ता प्रभुसे प्रार्थना है कि वे सेठ मनसुख-रायजी मोरकी धार्मिक प्रवृत्ति और लगन को उनकी परोपकारी भावना और सात्त्विक बुद्धि को दृढ़ करें, जिससे आपके द्वारा एवं आपके आदर्शोंसे अनुप्राणित अन्यान्य धनीमानियोंके द्वारा भारत में धार्मिकता, आस्तिकता एवं सात्त्विकता के प्रचार में पूर्ण साहाय्य प्राप्त हो सके और आर्य ऋषियोंकी यह पुण्यभूमि फिरसे अपने लुप्त गौरव को प्राप्त कर विश्वका धार्मिक क्षेत्रमें नेतृत्व कर सके और समग्र संसार में रामराज्य की स्थापना हो सके।

शमित्योम्

अवधविहारीलाल

भूमिका

(ले० रायबहादुर रामदेवजी चोखानी)

साधारणतः आजकल सनातनधर्मावलम्बी कहलानेवाले तो बड़ी संख्यामें पाये जाते है, परन्तु वस्तुतः धर्ममें श्रद्धा और विश्वास रखनेवाले वहुत कम हैं तथा शास्त्रोक्त पथका अनुसरण करनेवाले तो विरले ही हैं। अनेक लोग तो धर्ममें प्रेम रखना दूर रहा उसको उपहास और घृणा की दृष्टिसे देखते है और पुराने चालके भाइयों को पोगापंथी, कूड़ापंथी, लकीर के फकीर इत्यादि आख्या देकर अनाचार तथा कदाचार एवं दुराचार को प्रोत्साहन देनेमें गर्वका अनुभव करते है। यह देशके भविष्यके लिये बड़े ही खेद का विषय है। 'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' ऐसा कहकर मनु महाराजने संसारके सारे देशोंको ललकार कर कहा था कि भारतके आदर्श को देखते हुए सब कोई अपना चरित्र निर्माण करे और आज उसी देशका ऐसा अधः-पतन हुआ कि धर्मकी अपेक्षा फैशन समझा जाने लगे! 'किमा-श्चर्यमतःपरम्'? हाँ यह मैं माननेके लिये प्रस्तुत हूं कि परि-स्थितिके परिवर्त्तन से कहीं-कहीं हमारी रहन-सहन और चाल-चलनमें परिवर्त्तन की आवश्यकता है। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस पुण्य भूमि के समस्त प्राचीन रत्नोंको मूल्यहीन समझकर ठुकरा दिया जावे और समुद्र पारके चमकीले और भड़कीले कांचोंको अपनाया जावे।

अस्तु, इस समय अच्छे पुस्तक, व्याख्यान, कथा, गायन इत्यादि द्वारा धर्मभावको जागृत करना महान् कार्य है। प्रस्तुत पुस्तक में गृहस्थ जीवनमें पालनीय अनेकानेक नियमों का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया गया है। पाठकों को पढ़ने से मालूम होगा कि सनातन धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि ताकमें रख दी जाय और किसी विशेष अवसर पर पहन ली जाय। धर्म तो हमारे चाल-चलन में, भोजन में, शयन में, कार्य सम्पादन में, पूजा में, संक्षेपतः समस्त कार्यों में, हम में ओतप्रोत रूपमें रहना चाहिये *Religion is to be lived.* यदि साधारण बुद्धिसे भी इस पुस्तक को पढ़ेंगे तो ज्ञात होगा कि धर्मानुकूल चलने से हमारा स्वास्थ्य, हमारी आयु, हमारा सौभाग्य, हमारा पारलौकिक तथा ऐहिक दोनों कल्याण वर्धित होंगे।

मैं श्री मनसुखरायजी मोर को धन्यवाद देता हूं। उनकी पुस्तक से बड़ा उपकार होनेवाला है। मुझे विश्वास है कि हमारे श्रुतिस्मृति पुराण-प्रतिपादित धर्म का पुनरुत्थान अवश्यम्भावी है। श्रीमद्‌गीता में कहा है—'त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे' (हे भगवन्! आप शाश्वत अर्थात् सनातनधर्मके गोप्ता अर्थात् रक्षक हैं)। इसलिये आजके इस महान्धकार में भी मुझे ज्योति की किरणें दिखाई पड़ती हैं और मैं आशान्वित हूं। ईश्वर से प्रार्थना है कि लोगोंका मन (धियो यो नः प्रचोदयात्) ठीक रास्तेपर ले जानेकी कृपा करें।

राजगुरु पं० हरिदत्तजी शास्त्री (देहरादून) की शुभ सम्मति

सेठ मनसुखरायजी ने गृहस्थ-धर्म नामसे एक निवन्ध लिखा है। इसमे श्रुतिस्मृति, पुराण, उपनिपदोके प्रमाणोसे आदर्श गृहस्थ दिखलाया है। संस्कारोसे जो इस देशमे संस्कृति थी उसका विशदीकरण और गृहस्थाश्रमी किस अवस्थासे होना चाहिये तथा सारे जीवन का उत्कर्प वीर्य रक्षा पर निहित है इस प्रकरणको युक्ति तथा शास्त्र प्रमाणोसे दिखाया है। मनुष्य स्वार्थी होनेसे अनेक प्रकारके आतंक और रोगका पात्र अपनेको वनाता है। आपने यहा तक निःस्वार्थता की सीमा दिखाई, जिस पशुका जो दुग्ध प्रकृतिने उसकी माताके स्तनोमें दिया है वही उसका उपयोग कर सकता है दूसरे जो उपयोग करते है वे स्वार्थ परायणतासे उस वत्सका अंश अपहरण करते है। मनुष्योके लिये पृथ्वीमें उत्पन्न हुए अन्न शाक फल उसकी आवश्यकताओं को पूर्ण करनेके लिये प्रकृतिने पर्याप्त मात्रामें रखे है इत्यादि गृहस्थोपयोगी वाते इसमे अच्छी तरह विन्यास की गयी हैं। सेठ मनसुखरायजी का शास्त्रोंको देखना और उनसे तत्त्वकी वाते निकालकर जन-समुदाय को समर्पण करना अपना विनोद वना हुआ है। ईश्वर इनके इस विनोद को सफल करे गृहस्थी लोग पढ़नेसे अपने गृहस्थ जीवन का उपकार करें यही आशीर्वाद है।

नम्र निवेदन

माताओ और भाइयो, जब हम अपनी वर्तमान दशापर दृष्टि-पात करते हैं तो हमें स्पष्ट विदित होता है कि हम पीढ़ी दर पीढ़ी नीचेकी ओर जा रहे हैं। हमारा पारिवारिक जीवन दुःखमय और सामाजिक जीवन विशृङ्खल हो रहा है। इस अवस्थाको देखकर मेरे हृदयमें जो विचार वर्षोंसे उठते आ रहे हैं उनको एकत्र करके इस पुस्तकके द्वारा मैंने आपके सामने रखनेकी धृष्टता की है। आप महान् हैं, मैं आपका तुच्छ सेवक हूँ। आपसे विनम्र निवेदन है कि आप कृपा पूर्वक इस पुस्तकको आरम्भसे अन्त तक एक वार अवश्य पढ़ जावें। जो वातें आपको भली लगें उनको आप ग्रहण करें और उनका प्रचार अपने परिवार वर्ग एवं इष्टमित्रोंमें करें। जो स्थल आपको पसन्द न आवें उनपर आप अपनी दयादृष्टि एक वार और डालें और फिर न जंचे तो उस अंशको छोड़ देवें। मैं कोई विद्वान् वा उपदेशक नहीं हूं। मेरा अनुभव भी विशेष नहीं है। अतएव आप मेरी भूलके लिये मुझे क्षमा करेंगे।

मानवताके उत्थानका यह प्रश्न समस्त मानवमात्र का प्रश्न है। सामूहिक कार्य सम्मिलित उद्योगसे ही सफल हो सकता है। जिनके पास जो साधन हैं वे अपने साधनोंसे यथाशक्ति इस कार्यको करनेके लिए जब आगे बढ़ेंगे तभी हम सबोंका कल्याण हो सकेगा। अतएव विद्वान् अपनी विद्या और धनवान् अपने धनादि को मानव उत्थानके पुण्य कार्यमें अर्पित कर देनेका शुभ संकल्प करें। देश के विद्वानों एवं धनीमानियों से

मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वे ऐसे ब्रह्मचर्य आश्रम, विद्यालय आदि स्थान-स्थान पर संचालन कर तथा अन्य उपायों से भी हमारे अन्दर सद्विद्या का प्रचार करें और करावें जिससे हमें ब्रह्मचर्य पूर्वक रहकर ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार अपने जीवन को विताने का अवसर प्राप्त हो, हम अपनी तथा अपनी भावी सन्तान की उन्नति कर सके। हमारा व्यक्तिगत जीवन पवित्र तथा सदाचार सम्पन्न बने, हमारा गृहस्थ आश्रम सुख-शान्ति से भरपूर होवें, एवं सामाजिक जीवन दृढ़, सुसंगठित और वैर-विरोध से रहित होवे।

प्राचीनकालमें धर्म की मर्यादा बनाये रखनेका भार राजाओं पर होता था। दुर्भाग्य से मुसलमान, ईसाई आदि अन्य मताव-लम्बी शासको के शासन काल में यह अवस्था न चल सकी। अब प्रभु की अपार अनुकम्पा से देश स्वतन्त्र हो गया है। स्वराज शासन महान् तपस्वी, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि धर्म के आधारभूत अंगों के अनन्य उपासक महात्मा गान्धीजीकी शुभ प्रेरणासे अनुप्राणित होकर राष्ट्र त्यागी तपस्वी नेताओं द्वारा संचालित हो रहा है। अतएव हम अपनी सरकार से अब पूरी आशा कर सकते हैं कि वह धर्म की मर्यादा फिरसे स्थापित करेगी वह ऐसी अवस्था करेगी जिससे देश में सारे मनुष्यों के दुःखदारिद्र्य, आलस्य, अनुद्योग दूर होव और हमारे बच्चे सुन्दर शिक्षा पाकर शीलवान्, सच्चरित्र तथा ब्रह्मचारी बनें एवं आगे चलकर सद्गृहस्थ के रूप में अपना और दूसरों का अधिक से

अधिक कल्याण कर सकें। परमपिता, परमात्मा वह दिन दिखावे कि हमारे राष्ट्रीय शासन के सूत्रधार, हमारे प्राचीन महाराज अश्वपति की तरह यह घोषणा उच्च स्वर से कर सकें, जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में आया है।

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नोविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः। अर्थात् मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं है, कोई कंजूस (दान नहीं देनेवाला) नहीं, कोई शराबी भी नहीं है, कोई मनुष्य ऐसा नहीं जो यज्ञ (पुरुषार्थ) न करता हो, कोई मूर्ख नहीं, कोई व्यभिचारी नहीं तो व्यभिचारिणी स्त्री कहाँ से ?

पंचम संस्करण आपको भेंट कर रहा हूं। इसे आप कल्याणकी दृष्टिसे मनन कर इसमें घटाने या बढ़ानेकी राय कृपया मुझे लिख भेजें। प्रस्तुत पुस्तक आप सब लोगोंकी है, कोई मेरी अपनी चीज नहीं है। कारण, इसके संग्रह एवं प्रकाशन का हेतु मानव-जीवन का उत्थान करना है। मेरे जो भाव हैं उन्हें मैं आप विज्ञोंके सामने सुझाव के रूपमें रख रहा हूं। इस सम्बन्ध में बराबर आपके आशीर्वाद का प्रार्थी हूं ताकि उससे सहारा पाकर मैं अपने ऐसे विचार समय-समय पर आपके सामने रख सकूं।

संवाद-पत्रोंकी आलोचनाओं एवं पत्र-प्रेषक महानुभावोंकी सम्मतियों के लिये जो बड़ी मात्रा में मुझे प्राप्त हुई हैं, मैं आभारी हूं। विज्ञजनों से आज भी मेरा आग्रह है कि कृपया यथासमय आप इस सम्बन्ध में अपनी राय प्रकाशित करते रहें।

मनसुखराय मोर

संक्षिप्त विषय-सूची

—:o:—

विषय	पृष्ठ संख्या
१—गृहस्थ-धर्म	१
२—पुरुष का कर्त्तव्य स्त्री के प्रति	४
३—स्त्री धर्म	१४
४—सीताजी को अनसूया का उपदेश	२०
५—लक्ष्मी का वास कहाँ है	२१
६—ऋतुकाल पशु-दुग्ध वर्जन ...	२६
७—एक पत्र और उसका उत्तर	३८×४४
८—दुर्व्यसन	५०
९—पुरुषार्थ	५६
१०—कृषि (खेती) यज्ञ ..	६६
११—आहार	७४
१२—भोजन क्यों करते है ?	१०४
१३—तत्त्व	१०६
१४—तत्त्वमसि	११५
१५—सत्य की महिमा	१३१
१६—निर्भयता × मन और इन्द्रियाँ ...	१३६×१३८
१७—शिव कल्प मन्त्र ...	१४०
१८—मेरुदण्ड सीधा रहे ...	१४२
१९—गौ-सेवा	१४३

॥ गणेशायनमः ॥

गृहस्थ धर्म

अथोच्यते गृहस्थस्य नित्यकर्मयथाविधि ।

यत्कृत्वाऽनृण्यमाप्नोति दैवात्पित्राच्चमानुषात् ॥

अपने पूर्व जन्म के अच्छे कर्मों के फलस्वरूप हमको यह मानव शरीर प्राप्त होता है और इसी मानव शरीर को ईशरचित इस असार संसार में उसके ज्ञान द्वारा सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इस मानव शरीर की विशेषता को जानकर ही देवता भी इस भारतखण्ड में प्राणीमात्र की सेवा करने के लिये मनुष्य शरीर में जन्म लेने को सदा ही इच्छुक रहते हैं। अतः परम पिता परमात्मा को हर समय ध्यान में रखते हुए सत्बुद्धि की प्राप्ति कर ईश्वरीय (प्राकृतिक) नियमानुसार चलकर ज्ञान सहित सत्कर्म करते हुए आत्मा का प्रकाश बढ़ाते हुए मोक्ष की प्राप्ति करे इसी में मानव जीवन की सफलता है।

गृहस्थाश्रम सब आश्रमों में श्रेष्ठ माना गया है। ब्रह्मचर्याश्रम के विधिपूर्वक पालन करने के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये क्योंकि उस समय तक हमारी बुद्धि परिपक्व हो जाती है। हमारा शरीर बलवान्, वीर्यवान् और आरोग्य रहता है। हमारा मन शुद्ध और सत्कार्यों की ओर झुका हुआ होता है।

सब आश्रमों के लोग गृहस्थाश्रम में आकर ही आश्रय पावे

हैं। अन्य तीनों आश्रमवालों के पालन-पोषण का भार गृहस्थों के कन्धों पर ही होता है। कमजोर कन्धे इस भार को कैसे सम्हाल सकते है। शास्त्र कहते हैं कि दुर्बलेन्द्रिय स्त्री-पुरुष इस आश्रम को धारण नहीं कर सकते। अतएव गृहस्थाश्रम को चलाने के लिये आवश्यक है कि स्त्री-पुरुष अपने शरीर और मन को खूब बलवान बनावें। साँसारिक व्यवहारों को उत्तम रीति से चलाने की सामर्थ्य और विद्याबल प्राप्त करें। तभी शूर-वीर और बुद्धिमान सन्तान पैदा होगी एवं गृहस्थाश्रम का बोझ सम्हालकर अन्य आश्रमों की सेवा की जा सकेगी। इस आश्रम में आकर मनुष्य सत्कर्म करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

स्त्री-पुरुष का जो वैवाहिक बन्धन है उसीका नाम गृहस्थाश्रम है और उन दोनों के एक होकर रहने से ही गृहस्थ का काम सुचारु रूप से संचालित होता रहता है।

गृहस्थाश्रम में स्त्री-पुरुष को कामवासना रहित प्रेम भाव से रहकर ज्ञान सहित सन्तानोत्पत्ति करनी चाहिये। वह गृह स्वर्गोपम है जिसमें स्त्री-पुरुष एक दूसरे से प्रेमयुक्त व्यवहार करते हों तथा दोनों ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार अपने कर्तव्य का पालन करते हों।

स्त्री-पुरुष का आधा अङ्ग मानी गई है। अतः वह पूर्ण अङ्ग वैवाहिक बन्धन से ही बनता है और वैवाहिक बन्धन के बाद भी दोनों की प्रकृति का अनुकूल होना अत्यावश्यक है। दोनों की प्रकृति मिलने से उनमें प्रेमभाव की मात्रा बढ़ेगी और आपस के

प्रेम से उस घर के सब कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होते रहेंगे तथा वह घर स्वर्ग तुल्य बन जायगा।

स्त्री पर ही घर का सब भार आश्रित है। स्त्री के ही अच्छे कर्मों से वह घर सुखी रहता है। घर के समस्त कार्यों की देख-रेख तथा सन्तान का लालन-पालन सब स्त्री पर निर्भर करता है, अतः इस गृहस्थाश्रम के कार्यों को सुचारु रूप से संचालित करने के लिये स्त्री को शिक्षित, सदाचारिणी, गुणशालिनी एवं गृह-कार्य में प्रवीण होना अत्यावश्यक है। साथ ही पुरुष को भी अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए स्त्री को उसके गृहकार्य में बराबर सहायता पहुंचाते रहना चाहिये। दोनों के प्रेमयुक्त सम्पर्क से ही उस घरका काम ठीक से चल सकता है।

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पश्चात् स्त्री-पुरुष को स्वधर्म में रत रहते हुए एक दूसरे का रक्षक होकर रहना चाहिये, न कि इन्द्रियों के क्षणिक सुख के वशीभूत होकर एक दूसरे का भक्षक बन जाय। इस समय हमको ज्ञानसहित अपनी शक्ति को पर्याप्त रूप में संचित करते हुए अपनी आत्मा एवं उसके प्रकाश को बढ़ाते हुए एवं पुरुषार्थ के साथ प्राणीमात्र की निःस्वार्थ भाव से सेवा करते हुए अपने गार्हस्थ्य-जीवन को सुचारु रूप से संचालित करते रहना चाहिये। इसीमें मानव जीवन का कल्याण है।

महाभारत के अनुशासन पर्व में पुरुष के, स्त्रीके प्रति जो निम्न-लिखित कर्तव्य हैं उनको पूर्णरूप से ध्यान में रखते हुए एवं उनका अनुकरणकरते हुए हमको गृहस्थ कर्मोंको संचालित करना चाहिये।

पुरुष का कर्तव्य स्त्री के प्रति

प्राचेतसस्य वचनं कीर्तयन्ति पुराविदः,
यस्याः किंचिन्नाददते ज्ञातयो न स विक्रयः।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यतमं च तत्,
सव च प्रतिदेयं स्यात्कन्यायै तदशेषतः।

विवाह के प्रसंग में पुराने विद्वान् दक्ष प्रजापति का यह वचन याद करते हैं। वर पक्ष के लोग जो चीजें—आभूषण आदि कन्या को देते हैं यदि उसे कन्या पक्षवाले स्वयं न लेकर कन्या को ही दे देते हैं, तो इस वस्तु ग्रहण से कन्या का विक्रय नहीं होता। यह तो कन्या का पूजन है और स्नेह भाव की पराकाष्ठा है। फलतः वर पक्ष से जो चीजें प्राप्त होती हैं वे सभी कन्या को ही दे देना चाहिये।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चापि श्वशुरैरथ देवरैः,
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः:
यदि वै स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्,
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनो न प्रवर्द्धते।
पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्यं जनाधिप,
स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।

अपना कल्याण चाहनेवाले पिता, भाई श्वसुर और देवर को चाहिये कि वे अपनी पुत्री, बहन, पतोहू और भौजाई का सत्कार करें और सदा वस्त्र आभूषणों से उन्हें अलंकृत करें। यदि नारी

प्रसन्नता से प्रफुल्लित न होगी तो वह पुरुष का मनोरञ्जन न कर सकेगी और पुरुष की उदासीनता से संतान की बढ़ती नहीं होती है। हे युधिष्ठिर, स्त्रियों का हमेशा आदर करना चाहिये तथा उनका लाड़ प्यार करना चाहिये। क्योंकि जहाँ स्त्रियों का आदर होता है वहीं देवता वास करते हैं।

अपूजिताश्च यत्रैताः सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः,
तदा चैतत्कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामयः।
जामीशप्तानि गेहानि निकृत्तानीव, कृत्यया,
नैव भान्ति न वर्द्धन्ते श्रिया, हीनानि पार्थिव।
स्त्रियः पुंसां परिददे मनुर्जिगमिपुर्दिवम,
अबलाः स्वल्पकौपीनाः सुहृदः सत्यजिष्णवः।

हे युधिष्ठिर जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता वहां के सभी सांसारिक एवं धार्मिक काम अपूर्ण होते हैं। जिस कुल में स्त्रियों की आत्मा को कष्ट पहुंचता है वह कुल पतनकी ओर जाता है और श्री से हीन हो जाता है। उनकी कीर्ति और बुद्धि मारी जाती है। भगवान् मनु ने स्वर्ग जाते समय स्त्रियों की रक्षा का भार पुरुषों पर सौंपा। कारण कि स्त्रियां निबल (शीलवती) और साधारण (शरीर से बिना चिपका हुआ यानी ढीला) वस्त्र धारण करनेवाली और सरल हृदय की एवं सत्य पर अटल रहनेवाली होती हैं।

ईर्षवो मानकामाश्च चण्डाश्च सुहृदोऽबुधाः,
स्त्रियस्तु मानमर्हन्ति ता मानयत मानवाः।

स्त्रीप्रत्ययो हि वै धर्मो रतिभोगाश्च केवलाः,
परिचर्या नमस्कारास्तदायत्ता भवन्तु वः।
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्,
प्रीत्यर्थं लोकयात्रायाः पश्यत स्त्री निबन्धनम्।

स्त्रियाँ यदि डाह करनेवाली, मान चाहनेवाली, क्रोधी, भोली और कम समझ की भी हों तो ऐसी स्त्रियां भी सम्मान के योग्य हैं। पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे ऐसी स्त्रियों का भी सदा ही आदर करें। स्त्रियों पर ही धर्म अवलम्बित है। स्त्रियां प्रेम का एकमात्र आधार हैं। गृहस्थ के सारे सुख स्त्री पर ही निर्भर करते हैं। गृहस्थाश्रम की सेवा संभाल करना, उसे सम्मान के योग्य और महान् बनाना स्त्रियों पर ही निर्भर हैं। जीवन-यात्रा को सुखमय बनाने के लिये सन्तान उत्पन्न करना और उत्पन्न सन्तान का पालन पोषण करना आवश्यक है। परन्तु दोनों ही काम स्त्रियों पर ही निर्भर है।

संमान्यमानाश्चैता हि सर्वकार्याण्यवाप्स्यथ,
विदेहराजदुहिता चात्र श्लोकमगायत।

स्त्रियों का सम्मान करके सभी कामनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। इस सम्बन्ध में महाराज विदेह की कन्या ने यह बताया है।

नास्ति यज्ञक्रिया काचिन्न श्राद्धं नोपवासकम्,
धर्मः स्वभर्तृशुश्रूषा तया स्वर्गं जयन्त्युत।

स्त्रियों के लिये कोई यज्ञ नहीं है, श्राद्ध नहीं है, एवं उपवास

नहीं है। उनका धर्म पति परिचर्या है उसीसे वे स्वर्ग प्राप्त करती हैं।

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने,
पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति।

कन्या की रक्षा पिता, युवती की पति और माता की पुत्र करता है। स्त्री कभी भी स्वतन्त्र नहीं रह सकती।

स्त्री शक्तिरूपा है एवं शक्ति का स्रोत है। सारे संसार को शक्ति स्त्री जाति से ही मिलती है। उसकी शक्ति की देखरेख रखना कुमार्यावस्था तक याने १६ वर्ष तक पिता का कर्त्तव्य है। उसकी शक्ति का विकास दिन प्रतिदिन बढ़ता रहे इसका भार कुमार्यावस्था तक पिता पर है।

इसके बाद युवावस्था में उसकी शक्ति की देखरेख रखना पति का काम है, गृहस्थ धर्म को सुचारु रूप से संचालित करते हुए एवं सन्तानोत्पत्ति करते हुए उसकी शक्ति की देख-रेख रखना याने उसकी शक्ति कहीं भी कम न हो जाय, इस बात का ख्याल रखने का काम पति का है।

गृहस्थाश्रम समाप्त करने के बाद उनकी शक्ति की देखरेख और सेवा करना पुत्र का कर्त्तव्य है। उनकी शक्ति का जितना संचय रहेगा उतना ही उनकी आत्मा का विकाश बढ़ेगा एवं आत्मा का प्रकाश बढ़ने से या तो उनको 'मोक्ष' प्राप्त होगा या पुनर्जन्म में यह संचित शक्ति उनके लिये सहायक होगी।

शक्ति स्वतंत्र रहने की चीज नहीं है। जैसे तलवार को म्यान

के बाहर छोड़कर उसकी देख-रेख न रक्खी जाय तो इसका दुरुपयोग हो सकता है। अज्ञानता से अगर इसका प्रयोग हो जावे तो वह इसके दुरुपयोग से शक्ति का और अपना नाश कर लेगी। म्यान के भीतर रहने से ही उसका सदुपयोग होगा। यही हालत मातृ शक्ति की है।

स्त्री जाति लक्ष्मी रूपा है। लक्ष्मी का रूप होने से भी उनका देखरेख में ही रहना अति आवश्यक है।

शक्ति इतनी ऊँची है कि परमात्मा को भी उसकी शरण लेनी पड़ती है।

शक्ति की सेवा करना एवं उसकी पूर्ण रूपेग रक्षा करना पुरुष मात्र का कतव्य है।

> स्त्रियो देवाः स्त्रियः सृष्टिः स्त्रिय. कल्याणकारिणी,
> स्त्री रूपन्तु महेशानि यत् किंचिज्जगतीले।
> एकान्ते युवतिः पूज्या समस्तजगतीतले,
> स्त्रीणां दर्शनमात्रेण जगतोतलपूजनम्।
> कृतं भवति देवेशि, नात्र कार्या विचारणा,
> रूपं दृष्ट्वा तु प्रणमेत् रूपमानन्दकारणम्।

स्त्रियाँ देवस्वरूप हैं, चूंकि स्त्रियोंके अभावमें सृष्टि हो ही नहीं सकती, इसलिये वे सृष्टि-सृजन कर्त्री हैं। स्त्रियाँ कल्याण साधन करती हैं। सारे विश्वमें स्त्रीके रूपमें या स्त्रीसे सम्बन्ध रखनेवाली कोई भी वस्तु यहां तक कि स्त्री प्रत्ययान्त शब्द भी मङ्गलके जनक है। सारे संसारमें युवतीका सब प्रकारसे

सत्कार करना चाहिये। हे पार्वती, स्त्रीका दर्शन मात्र करनेसे समझलो, सारे विश्वके प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा कर लिया गया, इसमें जरा भी संशय नहीं है। रूप देखकर मातृ भावसे प्रणाम करना चाहिये; कारण, रूपसे आनन्द की उपलब्धि होती है।

यहां एक विचारणीय विषय है। जब अपने शास्त्रानुसार स्त्रियां सबसे महती एवं शक्तिस्वरूप हैं तब तो वे सबके लिये पूज्य हैं। इनमें वय तथा सम्बन्धका विचार नहीं होना चाहिये। जो वस्तु पूज्य है उसे हमें पूजना चाहिये, न कि उससे अपनी पूजा करानी चाहिये। ऐसी दशामें हमें यह स्वीकार करना होगा कि हम पुरुष, जो स्त्रियोंसे प्रणाम कराते हैं वह उचित नहीं करते। स्त्रियोंमें कोई छोटी-बड़ी नहीं है। जो बडी है वह माता है एवं छोटी कन्या है। दुर्गा तो सदा ५ वर्षोंके वयमें रहती है। वे सृष्टिकी रचयित्री हैं। फिर हम कैसे सोच सकते हैं, कि अमुक स्त्री या लडकी मुझसे छोटी है। छोटे-बड़े का प्रश्न तो परस्परमें उपस्थित होता है। जो पूज्य है वह सर्वथा बड़ा है। आज भी हम लोग शिशु गुरुपुत्र या पुरोहितपुत्रको शिर झुकाते हैं। छोटा होनेपर भी वह हमें शिर नहीं झुकाता। यही व्यवहार हमारा प्रत्येक स्त्री के साथ होना चाहिये।

विश्वम्भरा भगवती भवतीमसूत

राजा प्रजापतिसमो जनकः पिता ते।

तेषां वधूस्त्वमसि नन्दिनि, पार्थिवानां
येषां कुलेषु सविता च गुरुर्वयं च ॥

माता सीताको आशीर्वाद मांगते समय ऋषि वशिष्ठने कहा था—नन्दिनि, मैं तुम्हें क्या आशीर्वाद दूं ? तुम्हें किस चीजकी कमी है जिसके पूरा होनेकी मैं कामना करूं ?—संसारका भरण-पोषण करनेवाली पृथ्वीने तुम्हें उत्पन्न किया है। ब्रह्माके तुल्य राजा जनक तुम्हारे पिता हैं तुम उन लोगोंकी बहू हो जिनके वंशको सूर्य्यने उत्पन्न किया है और हम जिनके गुरु हैं। तुम स्वयं शक्ति हो। सारा संसार तुमसे शक्ति लाभ करता है। शक्ति रूपसे तुम सारे संसारका पालन करती हो। ऐसी हालतमें तुम वीर पुत्र उत्पन्न करो, यही मैं कामना करता हूं। [वशिष्ठजीका यह वचन हमें स्त्री मात्र पर समझना चाहिये। स्त्रियां शक्ति स्वरूप है। उनमें किसी वस्तुकी कमी नहीं है। उन्हें आशीर्वाद पुरुष क्या दे सकता है ? हां, केवल यही कामना कर सकता है कि वे वीर पुत्र उत्पन्न करें जिससे राष्ट्रका उत्थान हो।

आशीर्वाद देते समय सदा दक्षिण हाथ उठाना चाहिये, बाम नहीं, जैसा कि शीघ्रतामें या बिना सोचे-विचारे अक्सर हम लोग कर दिया करते हैं। दक्षिण हस्त कल्याण का सूचक है और वाम हस्त इसके विपरीत है। आशीर्वाद तो कुशलकी ही कामना से दिया जाता है। फिर उस प्रसंगमें वाम हस्त तो कभी उठना ही नहीं चाहिये। इसीलिये प्राचीन कालसे अपने यहां आशीर्वाद देते समय दक्षिण हस्त उठानेकी आदरणीय मर्यादा है।

'कादम्बरी' में कथा आयी है कि जब चण्डाल कन्या एक शुकको महाराज शुद्रकके पास ले गयी तो शुकने महाराजको दक्षिण चरण उठाकर आशीर्वाद दिया। महर्षिकण्वके आश्रममे तपस्वियोंने महाराज दुष्यन्तको दक्षिण हस्त उठाकर ही आशीर्वाद दिया था। आज भी आप किसी प्रेमीको वस्तु विशेष देते समय दाहिने हाथ को ही आगे बढ़ाते हैं। यज्ञादि सभी सत्कर्मों में दाहिना हाथ ही व्यवहृत होता है। राजा लोग अपने सम्पर्कीय जनको दण्ड देते थे यदि भूलसे भी वह बाएँ हाथसे प्रणाम करता या वस्तु देता था। श्री लक्ष्मणजी का पत्र अङ्गदजी ले गये थे, उसे रावणने बाएँ हाथ से लिया था। बाएं हाथ का व्यवहार शत्रुवत् माना जाता है और दाहिना हाथ का व्यवहार मित्रवत्। शत्रुदूत राजाओंको सन्धि पत्र दाहिने हाथसे देते थे और युद्ध घोषणापत्र बाएँ हाथसे यात्रा आदिके प्रसंगमें या ऐसे भी दक्षिणाङ्गका स्फुरण शुभ एवं वामाङ्गका स्फुरण अशुभ समझा जाता है।

शास्त्रोंमें विधान है कि मन्दिरोंमें भक्तजन मूर्तिके दक्षिण भागमें बैठें। इसी प्रकार अपनेसे बड़े एवं गुरुजनोंके भी दक्षिण भागमें ही हमें बैठना चाहिये। इससे हमें मान सम्मान एवं निर्भयता मिलेगी। विवाह संस्कारमें स्त्री बाएं अङ्ग आती और पति को दाहिने अङ्ग लेती है। अपना दक्षिण हस्त जीवन पर्यन्त पतिके शिर पर रखकर उनकी रक्षा एवं शुभ कामना करती रहती है।

इसका अर्थ यह है कि कल्याणकी अधिष्ठात्री देवीका अभयप्रद हस्त शिरपर रहनेसे हम अपने जीवनमें सदा निर्भय एवं सुखी रहेंगे। पुरुषों का स्त्रियोंके वाम भागमें बैठना यह भी बता रहा है कि स्त्रियां पूज्या हैं, बड़ी हैं और कल्याण कारिणी हैं। वस्तुतः उनका समाजमें वही स्थान है, जो गुरुजनों का है। मन्दिरोंमें भी पुरुष मूर्ति स्त्री मूर्तिके दाहिने स्थापित की जाती है। इसका हेतु भी मातृजातिकी श्रेष्ठता है।

अनुसूयाजी को ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र तक प्रणाम करते थे। पवित्रता की मूर्ति भगवान् वशिष्ठजी भगवती अरुन्धती के योग से ही अपने को पावन समझते थे। उत्तर रामचरितमें आया है—

यथा पूतंमन्यो निधिरपि पवित्रस्य महसः
पतिस्ते पूर्वेषामपि खलु गुरूणां गुरुतमः।
त्रिलोकीमांगल्यामवनीतललोलेन शिरसा
जगद्वन्द्यां देवीमुषसमिव वन्दे भगवतीम्।

पवित्र तेजः पुञ्जकी खान वशिष्ठजीने, जो पूर्व कालके बड़े-बड़े उपदेष्टाओं को भी उपदेश देते रहे हैं, जिनके योगसे अपनेको पवित्र मानते थे। वह अरुन्धती तीनों—स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—लोकोंका कल्याण सम्पादन करती हैं। जगद् प्रकाश स्वरूप उन देवी को मैं प्रणाम करता हूं, जैसे उषा कालकी वंदना की जाती है।

स्त्रियाँ गृहिणी एवं हमारी रक्षिका हैं, उनका कर्त्तव्य है, पुरुषों को पवित्र भावना से आशीर्वाद देती हुई सुख एवं

समृद्धि की कामना करें। इसीमें स्त्री और पुरुष दोनों का ही उत्थान एवं कल्याण है। इसलिये मैं उनसे प्रार्थना करता हूं कि वे अपना शील-स्वभाव, दया और सेवाभाव बनाये रखे। तभी वे हमारा कल्याण साधन कर सकती हैं। उनके बड़प्पनने ही हमें पुराने जमानेमें ऊँचा उठाया था। उनका बड़प्पन उनके सुन्दर विचार दृढ़ व्रत एवं आचारमें है। माताओं का श्रृङ्गार अपने बालक-बालिकाओंको सुपात्र और वीर बनाना है—पाउडर एवं तेल-फुलेल लगाना, कीमती वस्त्र धारण सिनेमा जाना आदि ऊनका श्रृङ्गार नहीं है। माताओंका यह आचरण तो मानवको नीचेकी ओर ले जानेवाला है।

श्रिय एताः स्त्रियो नाम, सत्कार्या भूतिमिच्छता,
पालिता निगृहीता च श्रीः स्त्री भवति भारत।

स्त्री का नाम ही श्री है। (सीताराम गौरीशंकर आदि में राम और शंकर के पहले ही स्त्री का नाम आता है। ऐसे ही सभी पुरुषों के नाम के पहले स्त्री का नाम है जैसे श्रीमान् फूलचन्दजी अर्थात् स्त्रीमान् फूलचन्दजी। सीताजी से रामजीकी शोभा है, गौरीजी से शंकरजी की शोभा है। श्री से ही पुरुष की शोभा है)। कल्याण के चाहनेवाले इनका सत्कार करें एवं सब प्रकार से उनकी सदा मदद करें। हे युधिष्ठिर स्त्री घर की लक्ष्मी होती है।

माँ-बाप सदा ध्यान रखते हैं कि अपनी कन्या अपने से

उन्नत वंश में दी जाय। इससे वंश की मर्यादा उन्नत होती है। उत्कृष्ट पुरुष से जो संतान होगी वह उन्नत होगी, अवनत नहीं। जैसा कि शास्त्र का विधान है—उच्च वर्ण का पुरुष नीचेवाले वर्ण की कन्या ले सकता है, नीचेवाले वर्ण का पुरुष उच्च वर्ण की कन्या नहीं ले सकता।

मार्कण्डेय पुराण में लिखा है कि जब ऋतध्वज पाताल से मदालसा को ले आये तब उनके पीता—शत्रुजित् बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—मैंने बड़े-बड़े युद्ध किये, शत्रुओं को जीता परन्तु पाताल में मैं जा नहीं सका। पुत्र तुमने मुझ से बड़ा काम किया इससे मेरा जन्म सफल है। मानव जाति का कल्याण इसी में है कि उसकी सन्तान पीढ़ी दर पीढ़ी अच्छी उन्नत बने।

स्त्री-धर्म

एक बार महादेवजी ने पार्वतीजी से स्त्री के कर्त्तव्य बतलाने के लिये कहा क्योंकि वे जानते थे कि स्त्री का कर्तव्य स्त्री ही अच्छी तरह समझा सकती है। इसपर पार्वतीजी ने गङ्गा, सरस्वती, चन्द्रभागा, इरावती आदि नदियों को एकत्रित करके तथा आपस में विचार विमर्श करके निम्नांकित कर्तव्य बतलाये—

स्त्रीधर्मो मां प्रति यथा प्रतिभाति यथा विधि,
तमहं कीर्तयिष्यामि तथैव, प्रश्रिता भव।
स्त्रीधर्मः पूर्व एवायं विवाहे बन्धुभिः कृतः,
सहधर्मचरी भर्तुर्भवत्यग्निसमीपतः।

मुझे सब तरह से ठीक जो स्त्री कर्तव्य मालूम हुआ है उसे मैं कहती हूं। आप ठीक-ठीक सुनें। विवाह के प्रारम्भ में ही भाई-बन्धु अग्नि को साक्षी देकर स्त्री का कर्त्तव्य निश्चित कर देते हैं। यह है पत्नी का पति के धर्माचरण में योग देना।

सुस्वभावा सुवचना सुवृत्ता सुखदर्शना,
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तु: सा धर्मचारिणी।
सा भवेद्धर्मपरमा सा भवेद्धर्मभागिनी,
देववत्सततं साध्वी या भर्तारं प्रपश्यति।

सुन्दर स्वभाव, शुभ एवं सत्य वाणी, सुन्दर दर्शनवाली और अपने पति में ही सदा मन लगानेवाली साथ ही सदा प्रसन्नमुख रहनेवाली स्त्री पति के धर्माचरण में सहायक होती है। जो स्त्री हमेशा पति को देवता की तरह देखती है वही धर्म रत होती है और धर्म के फल पाती है।

शुश्रूषां परिचारं च देववद्या करोति च,
नान्यभावा ह्यविमना: सुव्रता सुखदर्शना।
पुत्रवक्त्रमिवाभीक्ष्णं भर्तुर्वदनमीक्षते,
या साध्वी नियताहारा सा भवेद्धर्मचारिणी।

जो स्त्री पति की शारीरिक एवं मानसिक सेवा देवता समझकर करती है, जो अपने भाव पति के सिवा दूसरे में नहीं लगाती, कभी अप्रसन्न नहीं होती, अच्छे व्रतों का आचरण करती जिसे देखने से सुख मिलता, स्वामी के मुख को पुत्र के मुख की

तरह सदा प्रसन्न देखना चाहती, साधु स्वभाव की और भोजन में संयम रखती वही अपने धर्म का आचरण करती है।

श्रुत्वा दम्पति धर्मं वै सहधर्मं कृतं शुभम्,
या भवेद्धर्मपरमा नारी भर्तृ समव्रता।
देववत्सततं साध्वी भर्तारमनुपश्यति,
दम्पत्योरेष वै धर्मः सहधर्मकृतः शुभः।

स्त्री-पुरुष के कर्त्तव्य या धर्म साथ-साथ अनुष्ठित होने पर ही शुभ होते हैं। फलतः स्त्री-पुरुष के कर्त्तव्य सुनने के बाद जो धर्मपरायण नारी पति के प्रिय व्रतों का आचरण करती साथ ही पति को देवता के समान समझती वही अपने कर्त्तव्य का पालन करती है। सचमुच स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य साथ-साथ अनुष्ठित होकर ही शुभ होता है।

शुश्रूषां परिचारं च देवतुल्यं प्रकुर्वती,
वश्या भावेन सुमनाः सुव्रता सुखदर्शना।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी,
परुषाण्यपि चोक्ता या दृष्टा दुष्टेन चक्षुषा
सुप्रसन्नमुखा भर्तुर्या नारी सा पतिव्रता।
न चन्द्रसूर्यौ न तरुं पुंनाम्ना या निरीक्षते,
भर्तृवर्जं वरारोहा सा भवेद्धर्मचारिणी।

जो स्त्री पति की सेवा और आज्ञा पालन देवता के समान करती है, मनोभाव से भी पति के अनुकूल रहती है, जिसके विचार सुन्दर होते, व्रत-प्रशस्त होते, दर्शन से सुख मिलता, जो

अपने पति में ही सदा मन लगाती है, पति के धर्माचरण में योग देती, स्वामी की कड़ी बात सुनकर और टेढ़ी नजर देखकर भी जिस का मुख कमल म्लान नहीं होता वही पतिव्रता है। जो पति के सिवा चन्द्रमा, सूर्य एवं वृक्ष तक को भी पुरुष के रूप में न जानती और न पुरुष नाम से पुकारती वह अपने धर्म का आचरण करती है।

दरिद्रं व्याधितं दीनमध्वना परिकर्शितम्,
पतिं पुत्रमिवोपास्ते सा नारी धर्मभागिनी।

जो साध्वी, निर्धन, रोगी, दुःखी राह चलकर थके हुए भी पति की पुत्र की भांति वत्सलता से (काम भावना से नहीं) सेवा करती है वह अपने धर्म का पालन करती है।

या नारी प्रयता दक्षा या नारी पुत्रिणी भवेत्,
पतिप्रिया पतिप्राणा सा नारी धर्मभागिनी।

जो स्त्री कर्मशील, चतुर एवं पुत्रवती होती है जिसे पति प्यार करता है, जो पति को प्राण समान मानती है वह धर्म का आचरण करती है।

सुश्रूषां परिचर्यां च करोत्यविमनाः सदा,
सुप्रतीता विनीता च सा नारी धर्मभागिनी।

जो पति की सेवा शुश्रूषा बराबर मन से करती है जिस पर पति विश्वास करता है और जो विनयशील होती है वह धर्म-चारिणी है।

न कामेषु न भोगेषु नैश्वर्ये न सुखे तथा,
स्पृहा यस्या यथा पत्यौ सा नारी धर्मभागिनी।

जो स्त्री अपने पति की जितनी चाह रखती है उतनी काम, भोग, ऐश्वर्य और सुख की भी नहीं करती उसे धर्म प्राप्त होता है।

कल्योत्थानरतिर्नित्यं गृहशुश्रूषणे रता,
सुसंमृष्टक्षया चैव गोशकृत्कृतलेपना।
अग्निकार्यपरा नित्यं सदा पुष्पबलिप्रदा,
देवतातिथिभृत्यानां निर्वाप्य पतिना सह।
शेषान्नमुपभुञ्जाना यथान्यायं यथाविधि,
तुष्टपुष्टजना नित्यं नारी धर्मेण युज्यते।
श्वश्रूश्वशुरयोः पादौ जोषयन्ती गुणान्विता,
मातापितृपरा नित्यं या नारी सा तपोधना।

जो स्त्री प्रति दिन प्रातःकाल (पति से पहले) उठती, घर को सम्हाल और वस्तुओं को ठीक-ठीक स्थान पर रखती गाय के गोबर से घर को लीपती और उसे स्वच्छ और पवित्र रखती है, अग्निहोत्र एवं बलि-वैश्वदेव यज्ञ करती, पति के साथ देव पूजन तथा अतिथि की सेवा करती एवं घर के नौकरों को खिला पिला-कर बचा हुआ अन्न आयुर्वेद में वर्णित भोजन विधान से स्वयं खाती है और जिसके घर से बहुत मनुष्यों का भरण-पोषण होता है तथा वे सदा सन्तुष्ट रहते हैं उसे ही धर्म प्राप्त होता है। जो गुणवती नारी सास-ससुर की सेवा करती और सदा मा-बाप की कीर्ति बढ़ाती वह तपस्विनी होती है।

ब्राह्मणान् दुर्बलानाथान्दीनान्धकृपणांस्तथा,
विभर्त्यन्नेन या नारी सा पतिव्रतभागिनी।
व्रतंचरति या नित्यं दुश्चरं लघुसत्त्वया,
पतिचित्ता पतिहिता सा पतिव्रतभागिनी।
पुण्यमेतत्तपश्चैतत्स्वर्गश्चैष सनातनः,
या नारी भर्तृपरमा भवेद्भर्तृव्रता सती।

जो नारी ब्राह्मणों, अर्थात् परोपकाररत विद्वानों, जीविकोपार्जन में असमर्थों, अनाथ बच्चों, गरीबों, अन्धों और कृपणों को अन्न दिया करती हैं, वह पतिव्रत फल लाभ करती है। पति में चित्त लगाकर और पति की भलाई के लिये जो नारी बराबर कठिन-से-कठिन व्रत हँसते-हंसते कर लेती है वह पतिव्रता है। स्त्री का सदा अपने पति में परायण रहना और पतिव्रत का पालन करना ही सदा से पुण्य तप एवं स्वर्ग माना गया है।

पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः,
पत्या समा गतिर्नास्ति दैवतं वा यथा पतिः।
पतिप्रसादः स्वर्गो वा तुल्यो नार्या न वा भवेत्,
अहं स्वर्गं न हीच्छेयं त्वय्यप्रीते महेश्वरे।

स्त्रियों का पति ही देवता, बन्धु और गति-मुक्ति है। स्त्रियों के लिये पति की प्रसन्नता से बढ़कर स्वर्ग भी नहीं है। पार्वतीजी कहती हैं—भगवान्, आपकी अप्रसन्नता में स्वर्ग भी मिले तो मैं उसे नहीं चाहती।

अप्यकार्यमधर्मं वा यदि वा प्राणनाशनम्,
पतिर्न्स्याद्दरिद्रो वा व्याधितो वा कथंचन।
आपन्नो रिपुसंस्थो वा ब्रह्मशापार्दितोपि वा,
आपद्धर्माननुपेक्ष्य तत्कार्यमविशंकया।

दरिद्र, रोगी, विपत्तिग्रस्त, शत्रु से पकड़ गया किंवा ब्राह्मण के शाप से मलिन भी पति, किसी तरह अपकर्म करने, अधर्म का आचरण करने या जान दे देने को भी कहे तो उसे आपत्कालीन धर्म समझकर मनमें बिना शंका किये सम्पन्न कर लेना चाहिये।

एष देव मया प्रोक्तः स्त्री-धर्मो बचनात्तव,
या त्वेवंभाविनी नारी सा पतिव्रत भागिनी।

पार्वतीजी श्रीशंकरजी से उपसंहार में कहती हैं—स्वामिन्, आपकी आज्ञा से मैंने यह स्त्री-धर्म बताया है। जो नारी उपरोक्त प्रकार के आचरण करती है वही पतिव्रत धर्म का फल भोगती है।

श्रीमातेश्वरी सीताजी को अनसूयाजी का उपदेश

मातु पिता भ्राता हितकारी : मित सुखप्रद सुनु राजकुमारी।
अमितदान भर्त्ता वैदेही : अधम सो नारि जो सेव न तोही॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी : आपतकाल परिखि यहि चारी।
वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना : अंध बधिर क्रोधी अति दीना।
ऐसहु पतिकर किय अपमाना : नारि पाव यमपुर दुख नाना।
एकै धर्म एक व्रत नेमा : काय वचन मन पतिपद प्रेमा।
जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं : वेद पुरान संत अस कहहीं।

उत्तम के अस बस मनमाहीं : सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।
मध्यम परपति देखहिं कैसे : भ्राता पिता पुत्र निज जैसे।
धर्म विचारि समुझि कुल रहहीं : सो निकृष्ट तिय स्रुति अस कहहीं।
बिन अवसर भयते रह जोई : जानेहु अधम नारि जग सोई।

लक्ष्मी का वास कहाँ है

भगवान् श्रीकृष्ण की गोद में चमचमाती श्री को देखकर आश्चर्य से रुक्मिणीजी ने पूछा था—श्री जी आप कहाँ विराजती हैं ? इसका उत्तर श्री जी ने जो दिया उसका निम्न निर्देश है। यह प्रसंग महाभारत के अनुशासन पर्व ११ वें अध्याय का है।

वसामि नित्यं सुभगे प्रगल्भे दक्षे नरे कर्मणि वर्तमाने,
अक्रोधने देवपरे कृतज्ञे जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्णसत्त्वे।

अर्थात् हे सुभगे, रुक्मिणी मैं मधुरभाषी चतुर कर्म में निरत क्रोध नहीं करनेवाले, देवताओं पर आस्था रखनेवाले, उपकार को न भूलनेवाले, जितेन्द्रिय और बलशाली पुरुष के पास बराबर रहती हूं।

नाकर्मशीले पुरुषे वसामि न नास्तिके साङ्करिके कृतघ्ने,
न भिन्नवृत्ते न नृशंसवर्णे न चापि चौरे न गुरुष्वसूये।
ये चाल्पतेजोबलसत्त्वमानाः क्लिश्यन्ति कुप्यन्ति च यत्र तत्र
न चैव तिष्ठामि तथाविधेषु नरेषु संगुप्तमनोरथेषु।
यश्चात्मनि प्रार्थयते न किञ्चिद्यश्च स्वभावोपहतान्तरात्मा।
तेष्वल्पसन्तोषपरेषु नित्यं नरेषु नाहं निवसामि सम्यक्।

अर्थात् मैं अकर्मण्य, नास्तिक, वर्णसङ्कर, कृतघ्न, अपनी बात पर कायम न रहनेवाले, कठोर वचन बोलनेवाले, चोर और गुरुजनों से डाह करनेवाले पुरुष के पास नहीं रहती। मैं ऐसे पुरुषों के पास नहीं रहती जिनमें तेज, बल और आत्मगौरव अल्प होते हैं, जो लोग थोड़े में ही कष्ट अनुभव करते हैं, या जरा-जरासी बात पर क्रोधित हो जाते हैं उनके पास भी मैं नहीं रहती। साथ ही जिन पुरुषों के मनोरथ सर्वथा छिपे रहते हैं उनके पास भी मैं नहीं रहती। जो अपने लिये कुछ भी नहीं चाहता जिसका प्रकृति से ही आत्मविश्वास नष्ट हो गया है और जो लोग थोड़े में ही बराबर संतोष कर लेते हैं उनके पास मैं डटकर नहीं रहती।

स्वधर्मशीलेषु च धर्मवित्सु वृद्धोपसेवानिरते च दान्ते।
कृतात्मनि क्षान्तिपरे समर्थे क्षान्तासु दान्तासु तथाऽबलासु॥
सत्यस्वभावार्जवसंयुतासु वसामि देवद्विजपूजिकासु॥

अर्थात् मैं धर्म का आचरण करनेवाले, धर्म के जानकार, वृद्ध-जनों की सेवा करनेवाले, जितेन्द्रिय, आत्मविश्वासी, क्षमाशील और समर्थ पुरुष के पास रहती हूं। वैसी ही क्षमाशील एवं जितेन्द्रिय स्त्रियों के निकट भी रहती हूं। साथ ही जो स्त्रियां सत्य बोलनेवाली और सत्य आचरण करनेवाली, छल-कपट रहित, सरल स्वभाववाली होती हैं एवं देवता और गुरुजनों का पूजन करती हैं, उनके पास भी मैं रहती हूं।

प्रकीर्णभाण्डामनपेक्ष्यकारिणीं सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम्।
परस्य वेश्माभिरतामलज्जामेवंविधां तां परिवर्जयामि॥

पापामचोक्षामवलेहिनीं च व्यपेतधैर्यां कलहप्रियां च।
निद्राभिभूतां सततं शयानां एवंविधां तां परिवर्जयामि॥

अर्थात् मैं उन स्त्रियों के निकट नहीं रहती जो अपनी गृहस्थी के सामान—बासन-बर्तन, वस्त्र आदि जहाँ-तहाँ फेंक देती हैं और ठिकाने से नहीं रखतीं और जो बराबर स्वामी के विरुद्ध बोला करती हैं। जिस स्त्री का दूसरों के घर जाने में मन लगता है और जो लजाती नहीं उसके निकट मैं नहीं रहती। पापिनी, अपवित्र, चटोर, अधीरः झगड़ालू, निद्रा के वशीभूत तथा सदा ही सोनेवाली स्त्री को मैं त्याग देती हूं।

सत्यासु नित्यं प्रियदर्शनासु सौभाग्ययुक्तासु गुणान्वितासु।
वसामि नारीषु पतिव्रतासु कल्याणशीलासु विभूषितासु॥

अर्थात् मैं ऐसी स्त्रियों के समीप रहती हूं जो सदा ही सत्य बोलती, जिनके दर्शन से मनमें प्रसन्नता आती है। जो सौभाग्यवती, गुणवती, पतिव्रता, कल्याण चाहनेवाली और अलंकृत हैं।

यानेषु कन्यासु विभूषणेषु यज्ञेषु मेघेषु च वृष्टिमत्सु।
वसामि फुल्लासु च पद्मिनीषु नक्षत्रवीथीषु च शारदीषु॥
गजेषु गोष्ठेषु तथासनेषु सरःसु फुल्लोत्पलपङ्कजेषु।
नदीषु हंसस्वननादितासु क्रौञ्चावघुष्टस्वरशोभितासु॥
विकीर्णकूलद्रुमराजितासु तपस्विसिद्धद्विजसेवितासु।
वसामि नित्यं सुबहूदकासु सिंहैर्गजैश्चाकुलितोदकासु॥
मत्तेगजे गोवृषभे नरेन्द्रे सिंहासने सत्पुरुषेषु नित्यम्।

में सवारियों, कुमारियों, गहनों, यज्ञों और बरसते हुए मेघों में वास करती हूं। मैं खिली हुई कमलिनियों, नक्षत्रमालाओं, शरद्-काल की चांदनियों, हाथियों, गोशालाओं, आसनों और खिले हुए कमलों से शोभायमान तालावों में रहती हूं। मैं उस नदी में रहती हूं जो हंसों के कलरव से गूञ्जती रहता है, क्रौंच पक्षी के किलोल से शोभित रहती है, जिसके तट पर बड़े-बड़े वृक्ष झूमा करते हैं, तपस्विजन, सिद्धगण, गुरुजन लोग जिसको आश्रय करते हैं, जिसमें बराबर स्वच्छ और गहरा पानी भरा रहता और जिसके गहरे पानी को सिंह एवं हाथी क्षुब्ध किया करते हैं। मैं मस्त हाथी, सांड़, राजा, सिंहासन और सत् पुरुषों के समीप सदा रहा करती हूं।

यस्मिन् जनो हव्यभुजं जुहोति गोब्राह्मणं चार्चति देवताश्च।
काले च पुष्पैर्बलयः क्रियंते तस्मिन् गृहे नित्यमुपैमि वासम्॥
स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु क्षत्रे च धर्माभिरते सदैव।
वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि शूद्रे च शुश्रूषणनित्ययुक्ते॥

जिस घरमें होम किया जाता है, गौ की सेवा की जाती है, और ब्राह्मणों का सत्कार होता, समय पर देवता की पूजा की जाती है और उनको फूल चढ़ाये जाते हैं उस घरमें मैं सदा वास करती हूं। बराबर वेदाध्ययन करनेवाले ब्राह्मणों के निकट मैं रहती हूं। अपने धर्म में जो रत हैं उन क्षत्रियों के पास, खेती एवं उपार्जन में लगे वैश्यों और सेवा परायण शूद्रों के पास भी मैं सदा रहती हूं।

नारायणे त्वेकमना वसामि सर्वेण भावेन शरीरभूता।
तस्मिन् हि धर्मःसुमहान्निविष्टो ब्रह्मण्यता चात्र तथा प्रियत्वम् ॥

मैं अनन्य भाव से भगवान् नारायण के चरण में सभी तरह से उनका अङ्ग बनकर रहती हूं। भगवान् नारायण के आश्रय में ही बड़े-से-बड़ा धर्म और ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है तथा सब कामनाओं की पूर्ति होती है।

नाहं शरीरेण वसामि देवि नैवं मया शक्यमिहाभिधातुम्।
भावेन यस्मिन्निवसामि पुंसि स वर्धते धर्मयशोर्थकामैः ॥

हे देवि रुक्मिणी, मैंने जो ऊपर कही है कि मैं अमुक स्थानमें अथवा स्त्री पुरुषों के निकट रहती हूं तो मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि मैं शरीर से वहां रहती हूं वस्तुतः जिन पुरुषों के गुण, कर्म, स्वभाव उपर्युक्त प्रकार के होते हैं वे ही श्रीमान् होते हैं और वे धर्म, यश, अर्थ और काम की प्राप्ति से बराबर उन्नति करते हैं।

हमलोगों का सुख और कल्याण हमारे कर्मों पर निर्भर है। ईश्वर से हमलोगों की यही हार्दिक प्रार्थना है कि वह हमको सद्-बुद्धि दे जिससे हम अच्छे कामों में लगें। क्योंकि बिना सत्कर्मके हमारी कोई भी उन्नति नहीं हो सकती। इसीसे हम सबको सत्कर्म करने के लिये सर्वदा तत्पर रहना चाहिये।

ऋतुकाल

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

उपर्युक्त श्लोकों में योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि जो सत्कर्म किया जाता है वह करते समय जरूर कड़वा लगता है और शुरू में हमें कष्टों का सामना भी करना पड़ता है, परन्तु बाद में उसका फल बड़ा सुखदायक होता है। बिना सत्कर्म के हमलोगों का कल्याण कभी नहीं हो सकता। विषयेन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न सुख जो आरम्भ में अमृत तुल्य प्रतीत होता है उसका फल आगे जाकर दुःखमय विष के समान हो जाता है। अतः हमलोगों को ऐसे कर्म करने चाहिये जिनका फल सुखदायक होता हो।

ईश्वर ने प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत जो ऋतुकाल का समय रखा है वह सभी के लिये लाभदायक है। प्राचीनकाल में हमलोग नियमानुसार उस समय का सदुपयोग करते थे परन्तु आजकल हमलोग अज्ञानवश उस समय के सदुपयोग को भूले हुए हैं। आगे हमलोगों की जो मर्यादा बँधी हुई थी वह भी उसी प्राकृतिक नियम के अनुसार थी जिससे हमलोग सुखी जीवन बिताते थे।

लेकिन इस वर्तमान समय में हमलोगों की मर्यादा कमजोर होने से हमारा गार्हस्थ्य दुःखदायी बन गया है।

स्त्री जाति में परमात्मा ने रजोधर्म रखा है उसको लेकर ऋतुकाल का विधान शुरू होता है। रजःस्राव से १६ दिन तक ऋतुकाल रहता है।

रजःस्राव के समय में याने रजःस्राव से चार दिन तक कभी स्त्री संभोग नहीं करना चाहिये। यह शरीर के लिये बहुत हानिकारक है। रजःस्राव के चौथे दिन से सोलहवें दिन तक संतानोत्पत्ति की इच्छा से स्त्रीसंभोग किया जा सकता है। इसके बाद स्त्रीसंभोग नहीं करना चाहिये।

चैत्र और आश्विन के महीनों में स्त्रीसंभोग नहीं करना चाहिये। हरएक मनुष्य को शांतचित्त होकर पेट की शुद्धि करनी चाहिये। पेट की शुद्धि से खून की शुद्धि होती है क्योंकि इस समय मौसम की बदली होती है।

अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा, पर्वतिथि तथा चैत्र और आश्विन में १६ दिन जो पितृपक्ष के और ६ दिन नवरात्रों के हैं उन दिनों में स्त्रीसंभोग त्याज्य हैं।

सम दिनों में स्त्री संभोग से पुत्र एवं विषम दिनों से पुत्री पैदा होती है और रजःस्राव के चौथे दिन से सोलहवें दिन के भीतर ज्यों-ज्यों समय बढ़ता जायगा उसमें पैदा होनेवाली सन्तान उत्तरोत्तर तेजस्वी होगी।

ऋषि मुनियों का यह कथन है कि कन्या को रजोधर्म के बाद भी तीन वर्ष तक अपने पिता के ही घर रहना चाहिये जिससे इस समय के अन्दर उसका रज परिपक्व हो जाय। इसके बाद उसको अपने पति के घर जाना चाहिये।

रजोधर्म होने के बाद तीन साल तक उसकी कन्यावस्था ही मानी गई है। उसके बाद उसकी युवावस्था प्रारम्भ होती है और तब ही वह गर्भाधान के योग्य होती है।

प्राकृतिक नियम सबके लिये समान रूप से लागू है। जैसे—जब बछिया को सांड़ के पास जाने की इच्छा होती है तो उसे गाय पालनेवाले सज्जन एक-दो साल तक सांड़ से बचाते हैं। बछिया को सांड़ के सम्पर्क से शुरू में एक-दो वर्ष बचाने का मतलब यह है कि बाद में उसके जो बच्चे होंगे वे बलवान होंगे तथा उस गाय का दूध भी पुष्टिकारक होगा।

ठीक इसी प्रकार वृक्षों को ले लीजिये। फलों के जानकारों से यह ज्ञात हुआ कि फलों के जो वृक्ष होते हैं उनमें जो शुरू में जो फूल आते हैं उनको वे लोग पकने तथा फल का रूप धारण करने से पहले ही हटा देते हैं। इससे वृक्षों को यह फायदा रहता है कि आगे उनमें जो फल लगते हैं वे बड़े होते हैं तथा वे वृक्ष बड़े व मजबूत होते हैं।

इसलिये अपनी गृहरूपी फुलवाड़ी में जो माता पिता रूपी माली हैं उनसे मेरी यही विनम्र प्रार्थना है कि पहले फूलसे (रजोदर्शन से) कभी फल लेने की अभिलाषा न रक्खें। यदि पहले फूल

से फल ले लिया जायगा तो फलरूपी जो सन्तान है वह सदा के लिये कमजोर एवं अपूर्ण रहेगी और वृक्षरूपी माता भी हमेशा के लिये कमजोर हो जायगी।

प्राचीन ऋषि-मुनियों ने अपने अनुभव से सब के लिये जो विधान रचा था वह ईश्वरीय प्राकृतिक नियम के अनुसार ही रचा गया था। जैसे सुश्रुत में लिखा है—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥

सोलह वर्ष से कम आयु की लड़की हो और पचीस वर्ष से कम आयु का पुरुष हो इन दोनों के संयोग से जो गर्भाधान होगा वह गर्भ या तो कुक्षि यानी पेट में ही नष्ट हो जायगा अथवा जन्मते ही मर जायगा या जीवेगा तो जन्म से ही दुर्बल इन्द्रियों-वाला होगा तथा आयु भी कम होगी इसलिये, बाल्यावस्था में गर्भाधान नहीं होना चाहिये।

कन्या में लगभग तेरह वर्ष की उम्र में रज की उत्पत्ति हो जाती है। परन्तु उस समय उस रज में गर्भ धारण की शक्ति पर्याप्त रूप में नहीं होती क्योंकि रजोदर्शन के बाद रज को परि-पक्व होने में तीन साल का समय आवश्यक रूप से लग जाता है। अतः रज में गर्भधारण की पूर्ण शक्ति सोलह वर्ष की उम्र में आती है। इसके पूर्व बालिकाओं की कन्यावस्था रहती है।

स्त्री या माता बनने योग्य सोलह वर्ष के बाद ही होती हैं। पर्याप्त रूप में शक्ति प्राप्त करने के पूर्व गर्भ धारण करना हर हालत में हानिकारक होता है। अतः अगर बालिकाएँ सोलह वर्ष के पूर्व या पूर्ण शक्ति प्राप्त करनेके पहले गर्भ धारण करती हैं तो उनका जीवन तो बर्बाद हो ही जाता है, साथ ही उनकी सन्तान भी अपूर्ण और पृथ्वी का भारस्वरूप ही बनकर रहती है। सोलह वर्ष तक पूर्ण शक्ति प्राप्त करने के पश्चात् गर्भ धारण करने पर जो सन्तान पैदा होती है वह सुखमय जीवन व्यतीत करती है और माता भी नाना प्रकार के रोगों से बची रहती हैं। जैसे किसी आदमी में ऐक मन बोझ उठाने की शक्ति हो और वह दो मन बोझ लेकर चले तो उसकी कमर टूट जायेगी या उसके हृदय पर ऐसा बुरा असर पड़ेगा कि नाना बीमारियों का शिकार बनकर उसकी जिन्दगी सदा के लिये भार-स्वरूप हो जायगी। इस प्रकार माताओं के लिये असमय में गर्भ धारण करना हर प्रकार से हानि कारक होता है।

ठीक यही हालत बालकों की भी है। प्रायः पन्द्रह वर्ष की उम्र में बालकों में वीर्य उत्पन्न हो जाता है। पचीस वर्ष की अवस्था में जाकर वह वीर्य परिपक्व होता है। इसी अवस्था में बालक के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की वृद्धि और पुष्टि होती है। यह वृद्धि और पुष्टि वीर्य की वृद्धि और पुष्टि पर निर्भर करती है। अतः अगर ऐसी अवस्था में उसके वीर्य का क्षय हुआ तो उसका शरीर कमजोर और जीवन दुःखमय हो जाता है। साथ ही उसके हीन

वीर्य से उत्पन्न बच्चा भी कमजोर और अल्पायु होता है। जैसे प्रत्येक फल में आकार बन जाने के साथ ही उसमें बीज प्राप्त हो जाता है पर उस समय फल का बीज अति कमज़ोर होता है। अगर ऐसे हीन बीज को जमीन में बो दिया जाय तो वृक्ष तो उग आयेगा पर ऐसा वृक्ष किसी भी रूप में लाभदायक नहीं होगा। वह वृक्ष बिलकुल कमज़ोर होगा, उसका आकार छोटा और बेढंगा होगा और फल भी नीरस होगा। फल में पूर्ण-शक्ति तो समय पर हो आयेगी और पूर्ण रूपेण परिपक्व बीज से उत्पन्न वृक्ष लम्बे चौड़े और मजबूत होंगे तथा उनके फल सदा उत्तम और पुष्टिकारक होंगे। यही अवस्था मनुष्य की भी है। असमय में अपरिपक्व और हीन रज और वीर्य से संतान पैदा की जायगी तो वह सन्तान दुर्बल और हीनांग होगी। माता-पिता की युवावस्था में जो बच्चे पैदा होंगे वे हृष्ट-पुष्ट, लम्बी-चौड़ी कद के होंगे।

अतः हरएक माता-पिता से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि पर्याप्त शक्ति प्राप्त करने के पूर्व वे बालकों को गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट न होने दें। स्वार्थ के वशीभूत होकर भी उन्हें ऐसा न करना चाहिये। विवाह और पुत्रादि सम्बन्धी असामयिक चर्चा छेड़कर बालकों का ध्यान उसे ओर आकृष्ट न करना चाहिये। उचित अवस्था तक वे बालकों को विद्याध्ययन और गृहकार्य की उच्च शिक्षा में लगावें। अगर सोलह वर्ष की लड़की और पचीस वर्ष के लड़के में भी पूर्ण शक्ति न आई हो तो माता-पिता को चाहिये

कि वे ऐसे बालकों को आजन्म ब्रह्मचर्य पालन का कठिन आदेश करें।

आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करने से जो शक्ति इकट्ठी होती है वह इस जन्म में तो काम आती ही है आगे जन्म में भी सहायक होती है क्योंकि शक्ति का नाश नहीं होता। उसमें किसी प्रकार का ह्रास नहीं होता। पूर्ण शक्ति प्राप्त करने के पश्चात् माता-पिता अपने बच्चों को गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठ शिक्षा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करावें। ऐसा गृहस्थ सुखमय जीवन व्यतीत करेगा और सम्भवतः उसके जीवन में किसी प्रकार का विक्षेप न हो पायेगा। स्त्री-पुरुष दोनों ही आजन्म सुखी रहेंगे।

ऋतुकाल का जो प्राकृतिक नियम है वह हमारे लिये स्पष्ट रूपसे कल्याणदायक है। जैसे जब बच्चा पेटमें पड़ता है तब रजोधर्म प्राकृतिक नियम से ही बन्द हो जाता है। उसीसे हमको स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि इसके बाद स्त्री-पुरुष के सहवास का जो समय था वह पूरा हो गया और अब इसके बाद स्त्री-पुरुष का सहवास प्राकृतिक नियमानुसार सर्वथा वर्जित है।

पुरुष के भाव, उसके कर्म, उसकी भावना, उसका आचरण, उसका मन, उसकी शक्ति, सद्गुण और दुर्गुण जैसे होते हैं ये सब ही ऋतुदान के समय गर्भ में समावेश हो जाते हैं। ऐसी हालत में ऋतुदान के समय पुरुष को हर तरफ से शुद्ध-बुद्ध धीर और शांतचित्त होना चाहिये ताकि ये शुभ गुण भावी सन्तान में आ सकें। जिस चीज का बीज जमीन में बोया जायगा वही

फल आगे जाकर पैदा होगा तथा उसका रूप भी वही होगा जैसा फल होगा। ठीक इसी प्रकार ऋतुदान के समय पुरुष के जैसे भाव मन में होंगे वे भाव ही भावी सन्तान मे आ जायेंगे। आगे बच्चे की पुष्टि एवं आरोग्यता माता पर ही आश्रित है और उसको ठीक ढंग से रखना माता का ही कर्तव्य है। ऋतुदान के समय भी माता की जिम्मेदारी कम नहीं है पर उस समय विशेषता पिता की है।

स्त्री शक्तिरूपा है। उसकी शक्ति हर समय काम करती रहती है। वह कभी भी निष्फल नहीं जाती गर्भाधान होने के बाद रज जब बन्द हो गया तो वह रज गर्भाशय में पड़े बालक के निर्माण में काम आने लगता है।

इसके बाद माता जितनी ही प्रसन्नचित्त रहेगी उसके फल-स्वरूप भावी सन्तान भी उतनी ही बलवान और प्रसन्नचित्त होगी। पुरुष का कर्तव्य हो जाता है कि वह किसी भी प्रकार से उसकी शक्ति क्षीण न होने दे। उसकी शक्ति की हर प्रकार से देखरेख करनी चाहिये। उसमें जितनी ही शक्ति कायम रहेगी उसकी सन्तान उतनी ही तेजस्वी पैदा होगी और उसका दूध उतना ही पुष्टिकारक होगा।

इसलिये माता-पिता से मेरी यही प्रार्थना है कि वे ज्ञान-पूर्वक इन्द्रिय निग्रह से रहें इसीमें अपना कल्याण है।

बच्चा पैदा होने के बाद जबतक रजोधर्म फिर न शुरू हो जाय तबतक उसकी शिशुपालिका संज्ञा ही रहती है। इसके बाद ही

ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार उसकी स्त्री संज्ञा होती है। रज परिपक्व न होने तक स्त्री-सहवास न करें। बच्चा होने के बाद माता का एक प्रकार पुनर्जन्म होता है और शास्त्रानुसार उसको फिर से तीन वर्ष का समय मिलना चाहिये ताकि जो बच्चा उसकी गोद में है उसे पर्याप्त दूध मिल सके और वह बलवान और हृष्टपुष्ट हो। तीन वर्ष तक शास्त्रानुसार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने से माता का गर्भाशय पुष्ट और शक्ति-सम्पन्न हो जाता है तथा पिता का वीर्य भी परिपक्व हो जाता है। इससे भावी सन्तान हृष्टपुष्ट उत्पन्न होगी और गोदीवाले बच्चे को विकार रहित और पुष्टिकारक दूध भी तभी मिलेगा।

आयुर्वेद का थोड़ा भी ज्ञान रखनेवाले मनुष्य यह जानते हैं कि बच्चे के स्तन्य-पान की अवधि के अन्दर अगर माता-पिता का समागम होगा तो दूध में विकार उत्पन्न होगा और बच्चे के स्वास्थ्य और आयु का ह्रास होगा।

यदि प्राकृतिक नियमों पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट मालूम होगा कि माता को दूध तभी आता है जब बच्चा आता है। बच्चे के गर्भस्थ होते ही माता का रज बन्द हो जाता है और उसीसे दूध बनना प्रारम्भ हो जाता है। बच्चे के पैदा होते ही माता के स्तनों में दूध आ जाता है। बिना बच्चे के दूध पैदा नहीं होता है। इसलिये दूध का पूर्ण हक बच्चे ही का है और जबतक बच्चे को दूध की जरूरत रहती है तबतक ही माता के दूध रहता है। इसके बाद उसका दूध बन्द हो जाता है। जैसे कहावत है कि गोद के

बच्चे को छोडकर पेट के बच्चे की आशा नहीं करनी चाहिये। अतः माता-पिता से मेरी यही प्रार्थना है कि गोद के बच्चे का भले प्रकार पालन-पोषण करके ही दूसरे बच्चे की इच्छा करें। बच्चे को माता का पूर्ण दूध मिलने से ही वह सुखमय जीवन व्यतीत करेगा। पूर्ण आयु भोग करेगा। सदा स्वस्थ्य और निरोग रहेगा। ऐसा बच्चा ही सच्चा नागरिक बनकर देश, जाति, समाज और धर्म की रक्षा कर सकने के योग्य होगा।

जिन माताओं के दूध नहीं होता हो जिनको बच्चों के प्रति प्रेम नहीं हो एवं बच्चों को दूध पिलाने का कष्ट न करना चाहती हों उनसे मेरा अनुरोध है कि वे बच्चा पैदा करने का कष्ट न करें। ऐसे बच्चे पृथ्वी के भारस्वरूप ही होंगे क्योंकि माता से दूध न पाये हुए बच्चे सदा ही रोगग्रस्त एवं दुर्बल रहेंगे।

शास्त्र से भी यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि जब तक बच्चे को पूरे दांत न आ जाय तबतक सम्भोग नहीं करना चाहिये। दूसरा प्रमाण यह है कि जबतक बच्चे का चूडाकर्म न हो जाय तबतक सम्भोग नहीं करना चाहिये। इससे साफ प्रकट है कि हमारे शास्त्रों ने हमें बच्चा पैदा होने के बाद तीन वर्ष तक स्त्री समागम से वर्जित किया है परन्तु आजकल हमलोगों को नाना प्रकार के कष्टों का सामना इसलिये करना पडता है कि हम शास्त्रों की आज्ञा को, उसके बताये नियमों की अवहेलना करते हैं। फलतः पीढ़ी दर पीढ़ी नस्ल कमजोर होती जा रही है एवं एक क्षणिक सुख के लिये अपनी अज्ञानतावश हम ईश्वरीय प्राकृतिक नियम

और शास्त्र की अवहेलना करते हैं जिसका परिणाम हमारे लिये सभी प्रकार से दुःखदायक होता है। आज से प्रायः सौ वर्ष पहले माताओं के करीब पांच-पांच वर्ष के बाद बालक हुआ करते थे। इस पांच वर्ष के अन्तर के कारण वे दीर्घजीवी, बलवान और बुद्धिमान हुआ करते थे। इस पांच वर्ष के अन्तर के आधार पर ही हमारी आयु सौ वर्ष की निर्धारित की गई है। इससे ही बच्चे को माता का दूध पर्याप्त मात्रा में मिलता था और जबतक दूसरा बच्चा पैदा नहीं हो जाता था तबतक वह अपनी माता के लालन पालन में ही रहता था जिससे वह बच्चा शक्तिशाली, पूर्ण आयु-वाला तथा बुद्धिमान होता था। अतः माताओं को अपनी सन्तान की देखभाल खुद रखनी चाहिये। उन्हें अपने नौकरों के आश्रित कभी नहीं छोड़ना चाहिये। अपने निजके दूध से ही उनका पालन-पोषण करना चाहिये। इसके अनुसार चलने से माताओं को अपने बच्चों का लालन-पालन करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं होगी और दोनों का स्वास्थ्य ठीक रहेगा।

पाँच वर्ष का यह अन्तर होने से माताओं के संतान कम होती थी और उनके बालक बहुत ही कम खण्डित होते थे। इसीसे वह गृहस्थ सुखी रहता था। लेकिन इस समय अज्ञानवश इस पाँच वर्ष के भीतर ही माता के तीन सन्तानें हो जाती हैं जिससे उन बच्चों के लालन-पालन में बड़ी-से-बड़ी बाधाएं और कष्ट मिलते हैं। ऐसे बच्चों को माता का दूध भी काफी नहीं मिलता। क्योंकि समय से पहले ही दूसरा बच्चा गर्भस्थ हो जाता है और

इस प्रकार दोनों ही बच्चों को दूध काफी नहीं मिलता। अधिक सन्तान होने से माता को भी इनके लालन-पालन में कष्ट होता है। ऐसी माता तथा ऐसे बच्चे रोगग्रस्त रहते हैं और विभिन्न प्रकार के रोग शोक से गृहस्थ पीड़ित रहता है। समय से पहले पैदा होने के कारण बच्चे प्रायः खण्डित होते हैं और बहुत कम बच्चे माताओं के हाथ लगते हैं। इससे भी माताओं को बहुत दुःख भोगना पड़ता हैं। जैसे आम के वृक्ष में जो फल लगते हैं उनको अगर उनके समयानुसार उसी वृक्ष पर पकने दें तो वे फल सुन्दर तथा स्वादिष्ट होंगे और अगर वे समय से पहले ही तोड़ लिये गये तो वे अपरिपक्व रह जायेंगे। ठीक इसी तरह माताओं के जबतक दूध होता है तबतक बच्चों को उनका पूरा-पूरा दूध मिलना चाहिये। क्योंकि शुरूसे ही बच्चे की अस्थि का सुचारु रूप से बढ़ाव माता के दूध से ही होता है। यह तो निर्विवाद ही है कि माता के दूध से अस्थि जितनी मजबूत होती है अन्य दूधसे उतनी मजबूत नहीं हो सकती। शरीर का निर्माण अस्थि पर ही निर्भर है एवं बल, बुद्धि आयु आदि सब अस्थि पर ही आश्रित हैं। इस शरीर के जो स्तम्भ हैं वे अस्थि ही हैं। शरीरको खड़ा रखना अस्थि का ही काम है। इसलिये अस्थि जितनी मजबूत होगी उतनी ही हमारी शक्ति बढ़ेगी और वह अस्थि माता के दूध से ही मजबूत होती है। इससे प्रत्येक योनि में पैदा होनेवाले बच्चे का हक अपनी माता के दूध पर पूर्णरूप से है और वही उसके लिये अमृत तुल्य है। एक योनिवाला अगर दूसरी योनिवाले का दूध

काम में लाता है तो वह अपने को खुद नष्ट करता है और बच्चे की शक्ति पर कुठाराघात करके उस बच्चे के साथ भी अन्याय करता है। अतः हरएक योनि का दूध उसी योनि में काम आना चाहिये। हरएक योनि का पालन-पोषण पहले अपनी माता के दूध से ही होता है। बाद में पृथ्वी माता से ही सबका पालन-पोषण होता है।

प्राचीन ग्रन्थों को देखने से ज्ञान पड़ता है कि उस समय माताएं अपने बच्चों का पालन अपने ही दूध से करती थीं। इसका कारण यह था कि उस समय माताओं को पूर्ण ज्ञान एवं उच्च विचार थे कि बच्चों को अन्य किसी का भी दूध देनेसे उनकी बुद्धि वंशानुरूप विकसित न होगी। उनको अपने दूध का पूर्ण गौरव था। वे समझती थीं और उनकी समझ सब तरह से ठीक थी कि यदि बच्चे ने धाय का भी दूध पी लिया तो उसकी बुद्धि ऊपर की ओर न जाकर नीची हो जायगी जिससे अपने कुल का दर्जा नीचे गिर जायगा। लेकिन आजकल देखिये—पैदा होते ही बच्चे को गाय, भैंस और विलायती दूध पर ही आश्रित कर दिया जाता है और उसको अपनी माता का दूध नहीं मिलता। पशु के दूध से जो बच्चा पाला जाता है उसकी आयु और बुद्धि भी वैसी ही होगी जैसी कि पशु की है। यह तो सभी जानते हैं कि पशुओं और मनुष्यों की आयु और बुद्धि समान नहीं होती। आयु की दीर्घता अस्थि की शक्ति पर ही निर्भर करती है। पशुओं के दूध से मनुष्य की अस्थि के निर्माण की शक्ति उतनी ही होगी जितनी

उन पशुओं में है। माता के ही दूध से पले बालक की आयु पूर्ण होगी एवं बल और बुद्धि भी अपने हिसाब से पूर्ण होगी। जैसा अन्न होगा वैसा ही मन होगा। माता के दूध से पलने से ही वह अपने को पूर्ण उन्नत बना सकेगा। माता का अपने दूध पर पूरा विश्वास है जैसा कि माता कहती हैं—हमारे दूध को मत लजा देना। माता के दूध की पूर्ति अन्य दूध से कभी भी नहीं हो सकती। अन्य दूध का व्यवहार करना हमारी अज्ञानता है। माता के दूध से पले बालक बहुत ही कम बीमार होंगे। अन्य दूध से पले बालक सदा ही बीमार रहेंगे और दवाइयों के आश्रय ही उनका जीवन व्यतीत होगा।

यावदष्टादशे मासे मातृदुग्धंतु निर्बलम्।
केवलं जीवनार्थाय ऊर्ध्वं बुद्धिबलायच॥

भावार्थ यह है कि आरम्भ में माता का दूध पतला होता है और वह केवल बच्चोंके जीवन धारण के लिये ही होता है। अठारह मास के बाद ही का दूध गाढ़ा एवं बच्चे के लिये बल और बुद्धिवर्द्धक होता है।

इसलिये माताओं से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि बच्चे को जब तक पूरे दाँत न निकल आवें तबतक उनका पालन-पोषण अपने दूध पर ही निर्धारित रखें। इसके अतिरिक्त मौसमी फल, उनके रस, मेवा तथा अन्न आवश्यकतानुसार बच्चों को देकर ही पालन-पोषण करें।

माताओं को चाहिये कि वे बच्चों को ढीले वस्त्र पहनावें, क्योंकि चुस्त और अधिक कपड़ों से उनका शरीर कच्चा रह जाता है। उनमें सदा के लिये गर्मी-सर्दी सहन करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है। अतः उनका परम कर्त्तव्य है कि वे बच्चों को केवल उतने ही वस्त्र पहनावें जो उन्हें सर्दी से बचा सकें। बच्चों को वस्त्र स्वास्थ्य रक्षा के ध्यान से पहनावें, शृङ्गार के वास्ते नहीं बच्चों का आचरण ही शृङ्गार है।

ईश्वर की इस अनूठी सृष्टि में मानव का स्थान सबसे ऊँचा है। मानव ज्ञानशील प्राणी है। वह समर्थ परोपकारी और कर्त्तव्यपरायण जीव है। ये ही सारे गुण उसे सर्वश्रेष्ठ बनाते हैं। उसे अपने कर्त्तव्य का पूरा-पूरा ज्ञान होता है और इसलिये वह सदा विजयी होता है। परन्तु यह सारी चीज आखिर किस पर निर्भर करती हैं? सभी इस सरल बात को समझते हैं कि इसका आधार हृष्ट-पुष्ट शरीर ही है। कहा गया है—मानव धर्म के प्रतिपालन के लिये आत्मा की रक्षा हर प्रकार से की जानी चाहिये। फिर आत्मा के वासस्थान शरीर की रक्षा उसी लगन के साथ होनी चाहिये। रक्षा के साधनों में दूध का एक विचित्र स्थान आ गया है। बच्चे के लिये अपनी मां का दूध ही उत्तम और पौष्टिक भोजन है। पर आज कल मनुष्य दूसरे-दूसरे साधनों पर भी आश्रित होने लगे हैं जिनमें पशु आदि के दूध का स्थान उल्लेखनीय है। पर यह तो मानव गुण और स्वभाव के विरुद्ध होता है। प्रथम तो मानव प्राणिमात्र का हित चाहनेवाला

होता है और उसमें अपना कल्याण मानता है, पर दूसरे पशु का दूध लेकर उसके बच्चे का हक़ मारना कहाँ का हित कहला सकता है ? साथ ही दूसरे पशु का दूध ले लेने से उस पशु की नस्ल कमजोर हो जाती है। दूध पर पूरा हक़ बच्चे का ही होता है और अगर बच्चे को पूरा दूध न मिले तो वह कमजोर हो जायगा। एक योनि का दूध उसी योनि के लिये अधिक से अधिक उपयोगी होता है। पशु का दूध व्यवहार में लाने से मनुष्य की नस्ल भी कमजोर हो रही है क्योंकि पशु योनि नीची योनि है। अतः नीची योनि का दूध लेने से मनुष्य नीचा ही होगा और हमारा पतन दिन-प्रति-दिन हो रहा है।

सभी प्राणियों में देखा जाता है कि शिशुकाल में पोषण के लिये अपनी माता के दूध की आवश्यकता होती है, उसके बाद नहीं। उसी प्रकार मनुष्य को भी आगे दूध की आवश्यकता नहीं होती। मानव स्वभाव से शाकाहारी है, अतः उसके लिये अन्न कन्द-मूल फल आदि ही उत्तम भोजन हैं। महाभारत में कथा आती है कि महाराज पृथु ने गोरूपी पृथ्वी को दुहा और अन्न रूप दूध पैदा किया। चावल, जौ, गेहूं, बाजरा, ज्वार, मक्का, मेवा, फलादि—सभी आरम्भ में रस-रूप दूध होते हैं, फिर उसी दूध की टिकड़ी बन यह अन्न का रूप धारण कर लेता है। यही मनुष्य का स्वाभाविक भोजन है और इस भोजन से ही मनुष्य पूर्णता प्राप्त करता है। मनुष्यों का आहार बचपन से अपनी

माता का दूध है तथा बाद में पृथ्वी माता का अन्नादि रूप दूध ही उनका आहार है।

हरएक माता-पिता यही चाहता है कि अपनी सन्तान तेजस्वी बलवान्, बुद्धिमान, दीर्घजीवी तथा सुखी हो, परन्तु यह सब पूर्ण रूप से तभी सम्भव है जब हम ऊपर लिखी हुई बातों के अनुसार व्यवहार करें। क्योंकि जैसा बीज होगा, वैसा ही फल लगेगा। अतः अपनी सन्तान के कल्याण के लिये हमें सत्कर्म करने होंगे और उनका पालन-पोषण शास्त्रानुसार करना होगा, तभी हमारी सन्तान बलवान, हृष्ट-पुष्ट और बलवान होगी। इसके विपरीत चलने से वह दुःखमय जीवन व्यतीत करेगी। हरएक माता-पिता से मेरी यही विनम्र प्रार्थना है कि वे ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार ऋतुकालाभिगामी होकर अपना गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करें।

माता-पिता की सन्तानोत्पत्ति की आवश्यकता पूर्ण होने पर उन्हें चाहिये कि वे अपनी शेष उम्र को ब्रह्मचर्यव्रत पालन कर व्यतीत करें। इस प्रकार वे अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनावें और उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करें।

मेरी तुच्छ बुद्धिमें तो यही आता है कि जबसे सन्तान जल्दी-जल्दी होने लगी है, तब से हिन्दुस्तान में जनसंख्या बहुत बढ़ रही है। जनसंख्या बढ़ने से हमलोगों के सामने अनेक कष्ट आ रहे हैं। अन्न, वस्त्र का अभाव इसी कारण से है कि माताओं को जो सन्तान होती है, उनमें पांच वर्ष का अन्तर नहीं होता।

अगर वही क्रम रहा तो आगे चलकर हिन्दुस्तान की क्या स्थिति होगी, परमात्मा ही जान सकता है। अतः हमलोगों को इस प्रकार की बुराई को दूर करने की चेष्टा करनी चाहिये।

विद्यासमस्तास्तव देवी भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकलाजगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्काते स्तुतिः स्तव्यपरा परोक्तिः॥
आधारभूता जगतस्त्वमेका महीस्वरुपेण यतः स्थितासि।
अपांस्वरुप स्थितया त्वयैत दाप्यायते कृत्स्न मलंघ्यवीर्यं॥

हे माताओ और देवियो - आप पृथ्वी रूपा हैं। जिस प्रकार से पृथ्वी ने सारी सृष्टि को धारण कर रखा है, आप भी उसी तरह गृहस्थ को धारण करती हैं।

आप जल रूपा हैं। जल में जिस तरह से शीतलता है तथा जीवन दातृत्व शक्ति है इसी तरह आप शीलवती हैं।

आप वृक्ष रूपा हैं। जिस तरह से वृक्ष सबका उपकार निःस्वार्थ भाव से ठण्डी छाया तथा फल देकर करता है उसी प्रकार आप उपकार एवं निःस्वार्थ भाव से अनेक कष्ट सहन करके भी सृष्टि की रचना करती हैं। आप अपनी उम्र सेवा में ही व्यतीत करती हैं।

त्वं वैष्णवी शक्ति रनन्त वीर्या।
विश्वस्य बीजम् परमासिमाया॥
संमोहितम् देवि ! समस्तमेतत्।
त्वं वै प्रपन्ना भुवि मुक्ति हेतुः॥

आप आकाशरूपा हैं। आपमें ही सब तत्वोंका सन्निवेश है।

अतः आप ही शक्ति रूपा हैं। शक्ति का स्रोत होकर आप अपने दूध के द्वारा समस्त जीवों को शक्ति देती हैं।

आप लक्ष्मी रूपा हैं। बुद्धिस्वरूपा हैं। जहां आपकी प्रसन्नता है वहां ही सब प्रकार के सुख प्राप्त हैं।

आप धर्म की रक्षिका हैं तथा दया का भण्डार हैं। स्वधर्म की रक्षा के लिये अपने शरीर का कुछ भी विचार न करके मरने तक को तैयार रहती हैं। जैसे श्री मातेश्वरी सीताजी ने रावण के इतने प्रलोभन तथा भय से भी विचलित न होकर स्वधर्म की रक्षा के लिये इतने कष्टों का सामना किया। आप में त्याग की मात्रा ज्यादा है। जब-जब धर्म पर सङ्कट आता है तब-तब आप दुर्गा आदि रूप धरकर दुष्टों का दमन कर धर्म की रक्षा करती हैं।

आप का आसन सब से ऊँचा ह। देवता भी आपकी सदैव स्तुति करते हैं। आपको मेरा बारम्बार नमस्कार है।

आप गृहिणी हो! आप गृह की स्वामिनी हो! जिस प्रकार पृथ्वी समस्त संसार का भार सम्हालकर सबका पालन कर रही है उसी प्रकार गृह के सारे कार्य आप पर ही निर्भर हैं। आप इस गृहस्थाश्रम को जितना सुन्दर चाहे बना सकती हैं। आज हम कुछ पीढ़ियों से पतन की ओर बड़ी तेजी से जा रहे हैं। हमारी मर्यादा कमजोर होने से हमारे सारे धर्म-कर्म में शिथिलता आ गई है और घर दुःखागार बन गया है। हम शक्तिहीन हो रहे हैं। एवं आपकी मदद करने में भी असमर्थ हो रहे हैं। नाना प्रकार

के चक्रों और उलझनों में फँसकर हम ऐसे अधीर हो गये हैं कि हम अपने अन्न-वस्त्र की समस्या को भी आसानी से नहीं सुलझा पाते। चारों तरफ अशांति फैल रही है एवं छल कपट की विशेषता हो रही है—

अतः मेरी आप से प्रार्थना है कि आप अपने स्वरूप को समझें और रानी मदालसा की तरह बालकों को शिक्षा देकर फिर से भारतवर्ष में, राम, लक्ष्मण, महावीर, भीष्म, भीम, अर्जुन कपिल, कणाद, हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर, ध्रुव, प्रह्लाद, प्रताप, शिवाजी आदि जैसे नररत्नों एवं सती, पार्वती, सीता सावित्री, गार्गी, मैत्रेयी, मीरा, पद्मिनी, दुर्गावती, लक्ष्मीबाई, रानी भवानी आदि शक्ति रूपाओं को उत्पन्न करें जिससे भारतवर्ष अपने प्राचीन गौरव को फिर से प्राप्त कर सके और सारे संसार का सिरमौर बन सके। यह सामर्थ्य आप में है। आप अपने सत्कर्मो द्वारा पिता और ससुर दोनों पक्ष को ही उज्ज्वल बनाती हैं। जैसे कवि ने लिखा है।

चन्द्र उजोले एक पख, बीजे पख अँधियार।
बलि दुहुं पख उजालिया, चन्द्रमुखी बलिहार॥

पुरुष ब्रह्मरूप हैं। ज्ञान के भण्डार हैं। अतः उनको ज्ञानपूर्वक गार्हस्थ्य जीवन संचालित करना चाहिये। जिससे सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति हो।

ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार पचास वर्ष के करीब स्त्री का रजोधर्म बन्द हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अब

स्त्री पुरुष का सहवास सर्वथा अनुचित और अकल्याणकारी है। इसके बाद ईश्वरीय प्राकृतिक नियम से वाणप्रस्थाश्रम आरम्भ हो जाता है। इसलिये अब उनका कर्त्तव्य हो जाता है कि काम-क्रोध को त्यागकर वे अपनी सन्तति को सदुपदेश देवें, उसे सत्पथ पर लाने की चेष्टा करें। उनकी अपनी बाकी उम्र ब्रह्मचर्य से रहकर भगवान के भजन में ही शान्ति चित्त हो व्यतीत करनी चाहिये ताकि परमात्मा उनपर प्रसन्न हो उन्हें सद्गति देवें।

बम्बई से एक मित्र का पत्र मिला। आप लिखते हैं—

....

आपको स्मरण होगा कि आपने मुझे अपनी लिखी एक छोटी पुस्तक दी थी। मैंने उसे एक मित्रसे पढ़वाकर सुना और बड़ा आनन्द आया। कलकत्तेमें अब मैं जब आपसे बातें कर रहा था उस समय आपने सन्तानोत्पत्ति के विषय में जो बातें कही थी मेरी समझ में नहीं आ सकी थी। उसका उल्लेख अपनी इस पुस्तक में भी आपने किया है। आपके कथनानुसार एक सन्तान की उत्पत्ति के बाद दूसरी सन्तान की उत्पत्ति में पांच वर्ष का अन्तर होना चाहिये जिससे कि माता-पिता एवं सन्तान का स्वास्थ्य कायम रह सके। मैं नहीं समझ सका कि व्यवहारिक दृष्टिकोण से यह कैसे सम्भव हो सकता है। उदाहरणार्थ एक बीस वर्ष का लड़का १५, १७ वर्ष की लड़की से विवाह करता है।

सौभाग्य से या दुर्भाग्य से एक वर्ष के भीतर उसके एक संन्तान पैदा हो जाती है। अब आपके मतानुसार पांच वर्ष तक उनको दूसरी सन्तान नहीं होनी चाहिये अर्थात् एक सन्तान के बाद दूसरी सन्तान के पैदा होने में पाँच वर्षका अन्तर होना चाहिये। यह कैसे हो सकेगा मेरी कल्पना के वाहर है। स्त्री-पुरुष को निम्नलिखित तीन उपायों में से एक का अवलम्बन करना होगा।

(१) ब्रह्मचर्य।

(२) गर्भ निरोध के कृत्रिम साधनों का प्रयोग।

(३) हस्त मैथुन।

प्रथम उपाय शास्त्रों के विरुद्ध एवं अव्यवहारिक भी है। दूसरे एवं तीसरे उपायों के अवलम्बन से उसे प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी जो आपको अभीष्ट है। ऐसी परिस्थिति में आपके सिद्धांत को उचित रीति से कार्यरूप में कैसे परिणत किया जा सकता है मैं नहीं समझ पाता। शायद आप और कोई उपाय बता सकते हैं जिसे आपसे जानकर मुझे प्रसन्नता होगी।

उत्तर

प्रिय मित्र,

आपके पत्र के लिये अनेकशः धन्यवाद। आपके सन्तानोत्पत्ति विषयक प्रश्न के उत्तर में मेरी तुच्छ बुद्धि के अनुसार निम्नलिखित निवेदन है :—

आपके प्रश्न का बहुत कुछ समाधान मेरी पुस्तक में जो मैं लिख रहा हूं मिलेगा। यह तो निर्विवाद है कि स्त्री-पुरुष की सारी शक्ति, तेज, ओज, आयु, बुद्धि रजवीर्य के ही आधार पर आश्रित हैं। शास्त्र कहते हैं 'मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दु-धारणात्' रज-वीर्य की रक्षा से जीवन और उनके नाश से जीवन का नाश है। प्रसवकाल में स्त्री का अत्यधिक रक्त निकल जाता है। उसका खून पतला पड़ जाता है। उसका शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाता है। स्त्री का प्रसव के बाद एक प्रकार पुनर्जन्म ही होता है। ऐसी अवस्था में वह जितने अधिक समय तक पुरुष समागम से पृथक् रहेगी उतना ही उसकी शक्ति का सञ्चय होगा। उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट और उसका दूध शक्तिशाली होगा जिससे गोदवाला बच्चा पुष्टिकारक और पर्याप्त दूध पाकर मजबूत और दीर्घायु होगा। बाद में आनेवाली सन्तान भी स्वस्थ, सबल और बड़ी उम्रवाली होगी। पुरुष भी वीर्य निग्रह द्वारा शक्तिशाली होगा। एक बच्चे के बाद दूसरे बच्चे में यदि पांच वर्ष का अन्तर होगा तो ऊपर लिखे लाभ के अतिरिक्त यह भी होगा कि बच्चे कम होने से उनकी देखभाल और संभाल अच्छी तरह करके माता-पिता उन्हें योग्य नागरिक बना सकेंगे। अधिक सन्तान यदि अयोग्य हों तो वे भार-स्वरूप ही होंगी। योग्य कम सन्तान भी गार्हस्थ्य को उज्ज्वल बना सकेंगी जैसे एक चन्द्रमा से सारा जगत् उज्ज्वल होता है किन्तु लाखों तारों से भी उजाला नहीं होता।"

इसके लिये गर्भ निरोध या हस्तमैथुनादि उचित साधन नहीं हैं। यह तो आप भी मानते हैं। संयम ही एक मात्र उपाय है। संयम अव्यवहारिक नहीं है। वर्तमान रहन-सहन के कारण यह हमलोगों को कठिन प्रतीत होने लग गया है। संयम रखना शास्त्र के सर्वथा अनुकूल है। वह संयम हो कैसे, यह प्रश्न है। उत्तर में निवेदन है कि संयम मन पर ही निर्भर करता है। स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य है कि वे मनसे विषयवासना को हटा देंव। उन्हें समझना चाहिये कि स्त्री-पुरुष के प्रसंग का विधान ईश्वर ने योग्य सन्तान द्वारा संसार का कल्याण करने के लिये बनाया है न कि अपनी शक्ति का नाश करने के लिये। स्त्री-पुरुष के मनमें यह दृढ़ भावना हर समय होनी चाहिये कि विषय-वासना त्यागकर संयम से रहने में ही मानव जाति का कल्याण हो सकता है। अच्छी संगति, सात्विक भोजन, पवित्र विचार एवं उद्यमशील जीवन संयम में बड़े सहायक हो सकते हैं। सबसे अधिक व्यावहारिक उपाय है स्त्री-पुरुप का पृथक् शयन। स्त्री, स्त्रियों में और पुरुप, पुरुपों के समीप सोवे। केवल ऋतुदान के समय ही वे एकान्त सेवन करें। प्राचीनकाल में अपने देश में रानियों के लिये पृथक् रनवास होते थे। रानी अपनी सखियों के साथ सोती थीं, राजा अपने मित्रों और कर्मचारयों के साथ। रानी की इच्छा से ऋतुदान के समय ही राजा रनवास में जा सकता था। इसी से मानव उत्थान था। हमारी वीरता थी। स्त्री-पुरुष के युवा अवस्था में प्रवेश करने के पश्चात् जो सन्तान पैदा होगी वह

पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गवाली होगी और उसका वजन भी पूरा होगा। माता के दूध भी उपयुक्त मात्रा में होगा। तीन वर्ष तक माता का विकार रहित दूध सन्तान को मिलने से वह सन्तान शक्तिशाली होगी और पूर्ण आयु भोग करेगी। इसके बाद जब दूसरा बच्चा गर्भस्थ होगा वह भी पूर्ण होगा। ऐसे ही मर्यादा हमलोगों को फिर से बना लेनी चाहिये। इसी से हमारी नस्ल पीढ़ी दर पीढ़ी अच्छी बनेगी और इसी से अपना कल्याण होगा।

दुर्व्यसन

आवश्यकता से अधिक जो व्यवहार में लाया जाय उसी का नाम व्यसन है और दुष्ट व्यसन ही दुर्व्यसन कहलाता है। दुर्व्य-सन शब्द का अर्थ है बुरी और हानिकारक आदत। हर चीज की सीमा होती है, उस सीमा का उल्लंघन करना निन्दनीय होता है। उसका परिणाम भयङ्कर रूप से हानिकारक होता है। कहा गया है—"अति सर्वत्र वर्जयेत्।" दुर्व्यसन शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के होते हैं, हानियां भी दोनों से हुआ करती हैं। जीवन यापन के लिये जो काम अति आवश्यक होता है अगर उसे भी उसकी सीमा के पार तक किया जाय तो वह लाभदायक नहीं हो सकता।

यहां पर मुख्य-मुख्य दुर्व्यसनों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट किया जाता है। सम्भव है अगर आप इन्हें अच्छी तरह समझकर इनसे दूर रहें तो अन्य दुर्व्यसनों से भी छुटकारा

मिल सकता है। प्रधानतया नशीले पदार्थ जैसे शराब, चाय, तम्बाकू अफीम आदि का सेवन, सिनेमा देखना जुआ खेलना, आलस्य चटपटा भोजन, दिन में सोना, और अति स्त्री-प्रसंग दुर्व्यसन कहलाते है। ध्यान से गौर करने पर पता लग जायगा कि इनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जिसका अनियंत्रित व्यवहार होने से हमारी शारीरिक और मानसिक और साथ ही नैतिक हानि न हो। एक ही चीज जो समयानुसार निर्धारित मात्रा में व्यवहार करने से अमृत के समान फल देती है उसी का अनावश्यक और अति मात्रा में व्यवहार किया जाय तो वही विष का काम करती है। जैसे शराब को ले लिया जाय। दवा के रूप में वह अत्यन्त लाभदायक है, पर आदत के वशीभूत होकर उसका सेवन करना हानिकारक होता है। उसी प्रकार स्त्री-प्रसंग को ले लिया जाय। अति स्त्री-प्रसंग हर हालत में हानिकारक सिद्ध होता है। प्रत्येक दुर्व्यसन की यही हालत है।

दुर्व्यसन से सर्व प्रथम शारीरिक, फिर मानसिक और अन्त में नैतिक हानि होती है। नशीले पदार्थ के अनावश्यक सेवन से शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग बिगड़ जाते हैं। शरीर की अनमोल ताकत दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जाती है। फलतः शरीर नाकाम हो जाता है और मनुष्य नाना प्रकार से पीड़ित होकर दुःखमय जीवन व्यतीत करता है। मनुष्य नशीले पदार्थ का गुलाम बन जाता है। फिर तो उसके बिना एक क्षण भी चैन उसे नहीं पड़ती है। कभी-कभी मनुष्य इसके लिये अपनी इज्जत-आबरू तक की

बाजी लगा देता है। नाशवान क्षणिक आनन्द के लिये मनुष्य अपने कल्याण की बात एकदम भूल जाता है, अन्धे की तरह विनाश की ओर दौड़ पड़ता है। चटपटे और बनावटी स्वादु भोजन के विषय में भी यही कहा जा सकता है। हम खाना खाते हैं जीने के लिये, न कि जीते हैं खाने के लिये। भोजन तो इसलिये किया जाता है कि शरीर स्वस्थ, सुडौल और हृष्ट-पुष्ट बना रहे ताकि मनुष्य पुरुषाथ कर अपने जीवन को सफल बना सके। अतः उचित तो यह है कि शरीर को पुष्ट और निरोग रखनेवाला भोजन करना चाहिये। यह प्राकृतिक रूप में पाये जानेवाले भोजन में ही सम्भव है। परन्तु यदि मनुष्य जीभ के क्षणिक आनन्द के लिये बनावटी चटपटे भोजन की ओर झुक जाय तो शरीर की पुष्टि और वृद्धि तो दूर रही, वह अपनी हालत को सम्भाल भी नहीं सकता। क्षणिक आनन्द के लोभ में मनुष्य ऐसे भोजन को पसन्द कर लेते हैं जो उनके लिये घृणित रूप से हानिकारक साबित होते हैं। आवेश में उनसे होनेवाली हानियों का वे कुछ भी ख्याल नहीं करते और अपने को बरबादी की ओर ले जाने में सहायक होते हैं पर यह उनकी महान भूल होती है।

दिन में सोने की आदत तो बहुत ही बुरी बीमारी है। ईश्वरने पुरुष को पुरुषार्थ करने के लिये रचा है। साथ ही उनकी जिन्दगी भी बहुत छोटी होती है। इस छोटी जिन्दगी के गिने-गिनाये दिनों को सोकर बरबाद कर डालना कभी वांछनीय नहीं है। उसे तो पुरुषार्थ कर मानव जीवन धन्य बनाने का उद्योग करना

चाहिये। परिश्रम करते-करते जब मनुष्य थक जाता है तो उसे आराम की भी आवश्यकता होती है। ईश्वर की इस अनूठी सृष्टि में उसका उचित प्रबन्ध पाया जाता है। दिन की रचना की गई है ताकि मनुष्य दिनभर परिश्रम कर अपनी जीविका उपार्जन, परोपकार और भगवत् चिंतन करे। रात की रचना इसलिये की गई है कि परिश्रम करते-करते थक जाने के बाद फिर पुरुषार्थ करने योग्य शक्ति प्राप्त करने के लिये रात में मनुष्य या जीवमात्र आराम करें और नई स्फूर्ति और ताकत प्राप्त करें। फिर दिन मे सोकर अपने जीवन के अनमोल समय को बरबाद कर शरीर को आलसी, शक्ति हीन और अकर्मण्य बनाना मूर्खता ही होगी।

अब अति स्त्री-प्रसंग जैसे भयंकर दुर्व्यसन को लीजिये। इसे दुर्व्यसनों का सरदार या राजा कहा जा सकता है। जैसा आगे बताया है। ईश्वर ने स्त्री-पुरुष की रचना सृष्टि को कायम रखते हुए इसे आगे बढ़ाने के उच्च उद्देश्य से की है। अतः सन्तानोत्पत्ति के लिये स्त्री-प्रसंग आवश्यक और उचित भी है। हमारे ऋषि-मुनि भी इसी प्रकार की उत्तम शिक्षा दे गये हैं। अगर व्यसन के रूप में नहीं वरन् सन्तानोत्पत्ति के लिये स्त्री-प्रसंग किया जाय तो वह स्त्री और पुरुष दोनों के लिये लाभदायक होगा और इस प्रकार जो सन्तान पैदा होगी वह शूर-वीर, पराक्रमी, यशस्वी होकर सुखमय जीवन व्यतीत करेगी। पर हमारी उपस्थित हालत तो कुछ दूसरी ही हो गई है। स्त्री-प्रसंग के पवित्र

उद्देश्य को भूलकर हमने उसे व्यसन का घृणित रूप दे डाला है। समय असमय, उचित अनुचित, लाभ-हानि, आदि को भूलकर हमलोग उसके पीछे कीड़े की तरह लग गये हैं। हम उसके पीछे इस तरह पागल हो गये हैं कि उससे होनेवाली हानियों को जानकर भी उसमें लिप्त हो रहे हैं। यही कारण है कि हम दिनों-दिन कमजोर होते जा रहे हैं। हमारी सन्तान पीढ़ी दर पीढ़ी निकम्मी, कद में छोटी, कायर और पुरुषार्थहीन होती जा रही है। नाना प्रकार की बीमारियों का शिकार बनकर हम असमय में ही काल के कराल गाल में पड़ जाते हैं। अतः इसे व्यसन का रूप न देकर पवित्र उद्देश्य से ही व्यवहार में लाया जाय और उसके उच्च फल को प्राप्त किया जाय।

जैसा आगे बताया जा चुका है, दुर्व्यसन कोई भी हो उससे सर्व प्रथम शारीरिक, फिर मानसिक और अन्त में नैतिक पतन होता है। ईश्वर ने संसार में नाना प्रकार की चीजों की सृष्टि इसलिये की है कि हम उसका उचित व्यवहार कर सच्चा आनन्द प्राप्त करें। कई बार जन्म लेने और मरने के बाद, कितनी यातनाओं का सामना करने के पश्चात् यह मानव शरीर मिलता है। इसकी प्राप्ति अति कठिन है। फिर इस अमूल्य मानव शरीर को सस्ते मूल्य पर खो देना अपने पैर में अपने से कुल्हाड़ी मारना है। पंचतत्वों का बना यह मानव शरीर कोई लोहा तो है नहीं फिर लोहे का भी ह्रास होता है। अतः दुर्व्यसन का शिकार बन जाने से मानव शरीर बिगड़ जाता है, उसकी शारीरिक शक्ति

क्षीण हो जाती है और नाना प्रकार से पीड़ित होकर मानव दुःख-मय जीवन व्यतीत करता है। शारीरिक शक्ति के नाश के साथ ही साथ मानसिक शक्ति का भी विनाश हो जाता है (क्योंकि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का वास हो सकता है)। अतः मानव अपने विचार, विवेक बुद्धि आदि को खो बैठता है। यह मानव शरीर निरर्थक हो जाता है। यह तो इस नाशवान् मानव शरीर की बात रही। पर हमारा विनाश यहीं तक सीमित नहीं रहता वह और भी आगे बढ़ता है। नाशवान मानव शरीर आज नहीं तो कल नष्ट होगा ही। पर इस नाशवान शरीर के अन्दर एक अमर ज्योति वास करती है—आत्मा जो, कभी नष्ट होनेवाली नहीं है। वह अखण्ड और अमर है। पर शारी-रिक मानसिक शक्ति के ह्रास हो जाने पर आत्मा पर भी इसका बुरा और भयङ्कर प्रभाव पड़ता है। उसकी शक्ति और ज्योति क्षीण होती जाती है अर्थात् जब आत्मा पर अज्ञान का आवरण (विक्षेप) पड़ जाता है तब उसकी ज्योति क्षीण हो जाती है। ज्ञान की प्राप्ति होने पर अज्ञान का आवरण हट जाता है और ज्योति प्रखर होती है। अनन्त कठिनाइयों के बाद प्राप्त यह मानव शरीर मिलता है। यहाँ इसका दुर्व्यवहार होने से आत्मा पुन-र्जन्म में आगे की ओर न बढ़कर पीछे पड़ जाती है और फिर मनुष्य को नीची योनि में जाकर नाना प्रकार की यातनाओं का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार पूर्व जन्म की अनमोल कमाई क्षण में बरबाद हो जाती है। साथ ही सबसे बड़ी हानि

तो यह होती है कि मोक्ष बहुत दूर पड़ जाता है। अगर मनुष्य नियमानुसार उचित कार्य कर शारीरिक और मानसिक शक्ति का संचय करे तो आत्मा की शक्ति बढ़ जाय उसकी ज्योति प्रखर हो जाय और फिर आगे जन्म में वह उच्च योनि में जा सके। अगर उन्नति का यह क्रम जारी रहा तो समय पाकर आत्मा परमात्मा से मिल जाय, मनुष्य के मानव-जीवन का श्रेष्ठ फल मोक्ष मिल जाय। फिर तो आवागमन के बन्धन से छुट्टी मिल जाय। अतः इस अखण्ड और अनमोल आत्मा की रक्षा हर प्रकार से की जानी चाहिये। पर आत्मा के रहने का शरीर-रूपी घर ही ध्वंस्त हो जाय तो फिर उसकी उन्नति का क्या सवाल हो सकता ह। अतः शरीर की रक्षा हर उचित उपाय से करनी चाहिये—

"धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमुत्तमम्"

मानव शरीर नाशवान है। इसके नाश का साधन इसके साथ ही लगा है। वह है हमारी इन्द्रियों का दुरुपयोग जिसके चलते हम दुर्व्यसन और षट्-विकार के शिकार बनते हैं। स्वभावतः इन्द्रियों की नीची प्रवृत्ति होती है। वे हमें पतन को ओर ले जाना चाहती हैं। ऋषि मुनियों ने इन्द्रियों को वश में रखना बतलाया है। मानव ज्ञानवान प्राणी है। ज्ञान के द्वारा इनको जानकर उनपर शासन करे यही उसको शोभा देता है। वे ज्ञानरूपी अंकुश से इन इन्द्रियों को सदा नियन्त्रण में रखें। शरीर रूपी मन्दिर में अखंड आत्मारूपी प्रकाश वर्तमान है पर व्यसनरूपी शत्रु इसकी ज्योति को क्षीण करने का प्रयास करते हैं। मनुष्य को

चाहिये कि ज्ञानरूपी दीपक से इस अन्धकार को दूर कर अपनी आत्मा को प्रखर और शक्तिशाली बनावें, ताकि यह जन्म सफल हो आगे जन्म में भी वे आगे बढ़ सकें। इस अन्धकार को दूर करने के लिये समय-समय पर धर्म पुस्तक का अध्ययन, सत्संगति आदि का अवलम्बन करना चाहिये।

इन दुर्व्यसनों का शिकार हम बाल्यावस्था में अज्ञानतावश या बुरी संगति में पड़कर हो जाते हैं, अनजान में हम क्षणिक आनन्द के लिये किसी बुरी आदत को डाल लेते हैं जिसका परिणाम पीछे चलकर हमारे लिये बहुत हानिकारक होता है। बुरी संगति में पड़कर हम अपने को बिगाड़ देते हैं। हमें इससे बचने का हर प्रकार उचित प्रबन्ध करना चाहिये। प्रधानतया यह उत्तरदायित्व माता-पिता का है। उन्हें अपने बच्चों की पूरी निगरानी रखनी चाहिये ताकि बचपन में वे कोई बुरी आदत न डाल लें या किसी बुरी संगति में पड़कर अपने को बिगाड़ न डालें, उन्हें ध्यान रखना चाहिये कि उनके बच्चे ठीक नियमित रूप से उचित कार्य करते हैं तथा आत्मा को उन्नत बनाने योग्य हर कार्य करते हैं। साथ ही यह भार उन बच्चों पर भी आता है जब वे बड़े होकर अपना होश सम्हाल कर खड़े होते हैं। उन्हें काफी मजबूती से काम लेना चाहिये और अपने शत्रुओं को वश में रखने का प्रयत्न करना चाहिये। यहाँ असफल हो जाने से वे जीवन में भी असफल हो जायँ, इसकी भयङ्कर सम्भावना रहती है। अतः वे भी अपने उत्तरदायित्व को समझकर अपनी रक्षा करते हुए

अपनी आत्मा की अमर ज्योति को प्रखर और तेजोमय बनाने की कोशिश करें इसीमें अपना, समाज का और संसार का कल्याण है।

पुरुषार्थ

पुरुषार्थ शब्द पुरुष शब्द से ही बना है। अतः पुरुषार्थ पुरुष के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जिस मनुष्य में पुरुषार्थ नहीं है उसका पुरुष नाम हो ही नहीं सकता। ईश्वरीय प्रकृति की देन कैसी सुन्दर है। मानव के अतिरिक्त और सभी प्राणियों के लिये सारे आवश्यक पदार्थ प्रकृति माता ही बनाती हैं।

एक मानव जाति ही ऐसी है जिसे अपने भोगके सारे पदार्थ अपने पुरुषार्थ से ही पृथ्वी माता से उपार्जन करने पड़ते हैं। परमात्मा ने मानव जाति को पुरुषार्थ के लिये ही बनाया है। बिना पुरुषार्थ के मानव जाति के लिये कोई भी वस्तु प्राप्य नहीं है। मानव जाति को अन्य प्राणियों की तरह बनी बनाई चीजें लेनी नहीं है। उसे अपने पुरुषार्थ पर ही निर्भर कर उन्नति करना है। पुरुषार्थ हीन मनुष्य पशु तुल्य ही है, मनुष्य को ज्ञान सहित पुरुषार्थ करना चाहिये। पुरुषार्थ से ही पुरुषार्थ बढ़ता है। अनमोल समय को आलस्य में नहीं खोना चाहिये। पुरुषार्थ के साथ हमेशा ही सत्कर्म करना और मन, कर्म वचन से प्राणिमात्र का हित करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है।

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ६ में भाग्य और पुरुषार्थ का निम्नलिखित प्रकरण है—

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
दैवे पुरुषकारे च किंस्विच्छ्रेष्ठतरं भवेत्॥

युधिष्ठिर ने भीष्मपितामहजी से पूछा कि—हे पितामह आप बड़े विद्वान् और सारे शास्त्रों के ज्ञाता हैं कृपया बताइये कि भाग्य और पुरुषार्थ इन दोनों में कौन बड़ा है।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वशिष्ठस्य च संवादं ब्रह्मणश्च युधिष्ठिर॥

भीष्म ने कहा कि हे युधिष्ठिर इस सम्बन्ध में वशिष्ठ और ब्रह्मा का संवाद उल्लेखनीय है। वशिष्ठ के ऐसे ही प्रश्न पर ब्रह्माजी ने उत्तर में कहा था।

ब्रह्मोवाच

नाबीजं जायते किंचिन्न बीजेन विना फलम्।
बीजाद्बीजं प्रभवति बीजादेव फलं स्मृतम्॥

बिना बीज के कुछ नहीं पैदा होता है बीज के बिना फल भी नहीं होता। बीज से ही बीज और बीज से ही फल होता है ?

यादृशं वपते बीजं क्षेत्रमासाद्य कर्षकः।
सुकृते दुष्कृते वापि तादृशं लभते फलम्॥

किसान खेत में पुण्य या पाप रूपी जैसा भी बीज बोता है वैसा ही फल पाता है।

यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम्।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति॥

जैसे बिना खेत के बोया हुआ बीज निष्फल हो जाता है उसी प्रकार पुरुषार्थ के बिना दैव (भाग्य) नहीं सिद्ध होता है।

क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम्।
क्षेत्रबीजसमायोगात्ततः सस्यं समृद्ध्यते॥

पुरुषार्थ खेत है और भाग्य मानो बीज है। खेत और बीज के मिलने से ही फसल होती है।

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित्॥

शुभ कर्म से सुख, पाप कर्म से दुःख प्राप्त होता है। सब जगह किये कर्म का ही फल प्राप्त होता है। विना किये का भोग नहीं होता।

तपसा रूपसौभाग्यं रत्नानि विविधानि च।
प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना॥

सुन्दर रूप, सौभाग्य, नाना प्रकार के रत्न आदि तपस्या रूप पुरुषार्थ से ही प्राप्त होते हैं। अकर्मण्य मनुष्य केवल भाग्य से यह सब कदापि नहीं पाते।

अर्था वा मित्रवर्गा वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितम्।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः॥

धनधान्य, मित्रादि, ऐश्वर्य, उत्तम कुल में जन्म और लक्ष्मी भी विना उत्तम कर्म किये हुए कोई भोग नहीं कर सकता।

नादातारं भजन्त्यर्था न क्लीवं नापि निष्क्रियम्।
नाकर्मशीलं नाशूरं तथा नैवातपस्विनम्॥

जो दानशील नहीं हैं एवं जो क्लीव, आलसी और अकर्मण्य हैं तथा जो शूर नहीं और तपस्वी (जो सत्कर्म के अनुष्ठान में

कितने भी विघ्न-बाधाएँ किंवा कष्ट प्राप्त क्यों न हों अपने व्रत से न डिगें) भी नहीं, उन्हें अर्थ प्राप्त नहीं होते ।

कृतःपुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते ।
न दैवमकृते किंचित् कस्यचिद्दातुमर्हति ॥

पुरुषार्थ से ही दैव (भाग्य) बनता है। दैव किसी को भी बिना किये कर्म के कुछ भी नहीं दे सकता है। (पूर्व में किये हुए कर्मों का फल जो दैव देगा उस फल की प्राप्ति के लिये भी कर्म करने ही होंगे। अतएव मनुष्यों को सदैव सत्कर्म में लगा रहना चाहिये)।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
आत्मैव ह्यात्मनःसाक्षी कृतस्याप्यकृतस्य च ॥

मनुष्य आप ही अपना मित्र है और अपना शत्रु भी आप ही है। आप ही अपने शुभ अशुभ कर्मों का साक्षी भी है।

दूसरा कोई हमारी सहायता करेगा तभी हमारी उन्नति होगी ऐसा कदापि नहीं सोचना चाहिये। हम अपने कर्मों से ही बड़े होते हैं। उसी प्रकार यह भी ध्रुव सत्य है कि अन्य कोई हमें गिरा भी नहीं सकता है। हमारा पतन हमारे अपने अशुभ कर्मों से ही होता है। ऐसा हमलोगों को हर समय ध्यान रखना चाहिये कि हमारा उत्थान अथवा पतन हमारे ही कर्मों पर निर्भर है।

यथाग्निः पवनोद्धूतः सुसूक्ष्मोपि महान् भवेत् ।
तथा कर्मसमायुक्तं दैवं साधु विवर्धते ॥

जिस प्रकार बहुत सूक्ष्म अग्नि भी वायु के संयोग से प्रबल हो जाती है उसी प्रकार कर्म के द्वारा भाग्य भी प्रबल होता है।

यथा तैलक्षयाद्दीपः प्रह्रासमुपगच्छति।
तथा कर्मक्षयाद्दैवं प्रह्रासमुपगच्छति॥

जैसे तेल समाप्त होने से दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार भोगोपरान्त कर्म की समाप्ति पर भाग्य की भी समाप्ति हो जाती है।

विपुलमपि धनौघं प्राप्य भोगान् स्त्रियो वा
पुरुष इह न शक्तः कर्महीनो हि भोक्तुम्।
सुनिहितमपि चार्थं दैवतै रक्ष्यमाणम्
पुरुष इह महात्मा प्राप्नुते नित्ययुक्तः॥

आलसी अकर्मण्य मनुष्य बड़ी धनराशि, स्त्री अथवा नाना प्रकार के भोग के साधनों को प्राप्त भी कर जाय तो भी उसको नहीं भोग सकता है। उद्यमशील पुरुषार्थी मनुष्य इस लोक में सब प्रकार के भोगों की प्राप्ति करता है और उसकी सहायता देव-गण भी करते हैं।

व्ययगुणमपि साधुं कर्मणा संश्रयन्ते
भवति मनुजलोकाद्देवलोको विशिष्टः।
बहुतरसुसमृध्या मानुषाणां गृहाणि
पितृवनभवनाभं दृश्यते चामराणाम्॥

सदाचारी एवं कर्मशील मनुष्य यदि निर्धन भी हो जाय और निर्धन हो जाने के कारण साधारण मनुष्य उसके यहां आना-जाना छोड़ दें तो भी देवतागण उसके घर में ही आश्रय लेते हैं।

धनधान्य से युक्त धनी पुरुषों के घर में यदि कर्मशीलता और सदाचार नहीं है तो देवताओं को प्रिय नहीं होते।

न च फलति विकर्मा जीवलोके न दैवं
व्यपनयति विमार्गं नास्ति दैवे प्रभुत्वं।
गुरुमिव कृतमर्ध्यं कर्म संयाति दैवं
नयति पुरुषकारः संचितस्तत्र तत्र॥

पुरुषार्थ विहीन मनुष्य इस लोक में कदापि नहीं फूलता फलता है। दैव उसको कुमार्ग से पृथक् नहीं कर सकता। दैव कर्म का उसी प्रकार अनुगमन करता है जैसे शिष्य गुरु का। संचित शुभ कर्म ही मनुष्य को उन्नत बनाता है।

मनुष्य को उचित है कि यह सब समय सत्कर्म करता रहे। पुरुषार्थ करने से ही ज्ञान और अनुभव की वृद्धि होती है, उसीसे सुख की प्राप्ति होती है। सत्कर्म करनेवाले पुरुषार्थी मनुष्यों का ईश्वर सदा साथ देता है।

पुरुषार्थ करते रहने से ही आलस्य का नाश होता है। आलस्य ही मानवता का महान शत्रु है। जैसे शास्त्रकार लिखते हैं।

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्य महान् रिपुः।
नास्त्युद्यम समोबन्धुः कृत्वायं सुखमाव्रजेत्॥

ऐतरेय ब्राह्मण में महाराज हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहिताश्व को इन्द्रने बड़ा सुन्दर उपदेश दिया है जो यों है—

नाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जनः। इन्द्र इच्चरतः सखा।
चरैवेति चरैवेति चरैवेति ॥१॥

इन्द्र कहते हैं—रोहित, वृद्धों और ज्ञानी पुरुषोंसे हम सुनते हैं कि बिना कठिन परिश्रम के, लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती। बेकार आलसी बैठा हुआ मनुष्य पापी होता है। परमात्मा, जो परम ऐश्वर्यशाली है बराबर चलते रहनेवाले अर्थात् सदा उद्योग करते रहनेवाले मनुष्य का ही मित्र है। अतएव मनुष्य को सदा कर्म करते रहना चाहिये। कभी निठल्ला नहीं बैठना चाहिये।

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति॥

परिश्रमी पुरुष के पाँव धन्य हैं, उसकी आत्मा सब प्रकार से विभूषित होती है। वह सारे शुभ फलों को प्राप्त कर उनका उपभोग करता है। उसके सारे दुर्गुण परिश्रमशीलता रूप अग्निमें जलकर नष्ट हो जाते हैं। अतएव चलते-चलो—सदा पुरुषार्थ करते रहो, कभी निठल्ले न बैठो।

अङ्गरेजी में एक कहावत है कि आलसी मनुष्य का मन शैतान का कारखाना है। यह अक्षरशः सत्य है। जो मनुष्य कोई काम करता होता है उसके हाथ-पाँव आदि इन्द्रियाँ उस

काम में लगी होती हैं, और मन के सहयोग के बिना इन्द्रियाँ कार्य कर ही नहीं सकतीं इसलिये मन उन इन्द्रियों को सहयोग देने में व्यस्त रहता है। आलसी मनुष्य की कर्मेन्द्रियाँ तो बेकार बैठी ही रहती हैं पर मन कभी भी बेकार नहीं रह सकता, वहसदा ही सक्रिय रहता है। यही उसका स्वभाव है। जब उसके सामने हम कोई शुभ कार्य का प्रयोग नहीं रखेंगे तो वह अपने आप कुछ न कुछ सोचेगा ही। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयोमें बड़ा आकर्षण है। उन्हीं के चिन्तन में मन लग जाता है। देखा भी जाता है कि अकर्मण्य लोग ही संसार में सारे अनर्थ करते हैं। व्यर्थ इधर उधर की बातें, परनिन्दा, हिंसा आदि वे ही करते हैं। काममें लगे हुए लोगोंको इन बातोंके लिये अवकाश ही कहां है?

आस्ते भग आसीनस्योर्द्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य। चराति चरतो भगः॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति॥

बैठे हुए मनुष्य का ऐश्वर्य (भाग्य) बैठा हुआ रहता है, खड़े हुए का खड़ा रहता और सोये हुए का सो जाता है। अतएव बराबर पुरुषार्थ करता रहे, कभी कर्महीन न होवे।

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति। कृतं सम्पद्यते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति॥

सोये हुए का नाम कलि है। अङ्गड़ाई लेता हुआ द्वापर है। उठकर खड़ा त्रेता है। चलता हुआ सत्ययुग है। अतएव चलते-चलो, आगे बढ़ो, आलस्य को छोड़ो।

लोगों की ऐसी धारणा है सत्ययुग में धर्म के चारों चरण थे, त्रेता में तीन चरण, द्वापर में दो चरण (अर्थात् आधा पुण्य आधा पाप) तथा कलियुगमें धर्म का एक चरण ही शेष रहा है। पापके तीन चरण हो गये हैं, अधर्म का प्राबल्य हो गया है। यथार्थ में ऐसा कोई समय नहीं होता। अच्छे और बुरे लोग सब समय में होते हैं। जिस युग में प्रह्लाद पैदा हुआ उसी युग में हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष भी हुए। राम के युग में ही लङ्का में रावण आदि राक्षसों का बाहुल्य था जिससे पृथिवी पर हाहाकार मचा हुआ था। आज हम कहीं भी किसी को बुरा काम करते देखते हैं तो कहने लगते हैं कि यह कलियुग का प्रभाव है, कलियुग में ऐसा होगा ही। ऐसा समझने से धर्म के आचरण में बाधा होती है। लोगोंके मन में हो जाता है कि धर्म कोई कलियुग में कर ही कैसे सकता है, जो हो रहा है वह अनिवार्य है, दैवी इच्छा है। यह बात नहीं है। आज भी जहां बुरे लोग हैं वहां बड़े-बड़े महापुरुष भी तो हैं। एक देश की अवस्था अवनत है तो दूसरे देशों में सुखसमृद्धि की भरमार है। यथार्थ में ऊपर लिखा हुआ ब्राह्मण वाक्य कलि आदि का अर्थ बतला रहा है। कर्मशील, उद्यमी पुरुषार्थी लोग इस कलियुग में भी सत्ययुग का निर्माण कर सकते हैं। अकर्मण्य मनुष्य ही कलियुग के अवतार हैं।

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति॥

चलती हुई ही 'मधुमक्खियाँ मधु' प्राप्त करती हैं। पक्षिगण चलते हुए (उद्यमशीलता के द्वारा) ही सुन्दर स्वादिष्ट फल अपने भोजन के लिये प्राप्त करते हैं। सूर्य कभी आलस्य न कर नियमित रूप से जाड़ा, गर्मी, बरसात में अपने समय से निकल कर और आकाश में विचरण कर प्राणिमात्र को जीवन प्रदान करता है। उसी प्रकार कर्मपरायण निरालस्य मनुष्य संसार में मधु आदि सुन्दर भोग्य पदार्थ प्राप्त करते हैं, संसार के प्राणिमात्र का उपकार करने में समर्थ होते हैं। अतएव हमें पुरुषार्थ कभी न त्यागना चाहिये, सदा अविश्रान्तभाव से परिश्रम करते रहना चाहिये।

यज्ञ रूप प्रभु हमारे, भाव उज्ज्वल कीजिये।
छोड़ देवें छल कपट को, मानसिक बल दीजिये॥
वेद की बोलें ऋचाएँ, सत्य को धारण करें।
हर्ष में हों मग्न सारे, शोक सागर से तरें॥
अश्वमेध आदिक रचनाएँ, यज्ञपर उपकारको।
धर्म मर्यादा चलाकर, लाभ दें संसार को॥
नित्य श्रद्धा-भक्तिसे, यज्ञादि हम करते रहें।
रोग पीड़ित विश्वके, सन्ताप सब हरते रहें॥
कामना मिट जाय मनसे, पाप अत्याचारकी।
भावनाएँ पूर्ण होवे, यज्ञ से नर नारि की॥
लाभकारी हो हवन, हर जीवधारी के लिये।
वायु जल सर्वत्र हों, शुभ गंधको धारण किये॥

स्वार्थ भाव मिटे हमारा, प्रेम पथ विस्तार हो।
इदं न मम का सार्थक प्रत्येक में व्यवहार हो ॥
हाथ जोड़ झुकाय मस्तक, वन्दना हम कर रहे।
नाथ करुणारूप करुणा आपकी सब पर रहे ॥

कृषि (खेती) यज्ञ

कृषि-यज्ञ सर्वयज्ञों से महान् यज्ञ है। इसी यज्ञ से प्राणियों की उत्पत्ति व निर्वाह होता है क्योंकि अन्न के बिना प्राणी जीवित नहीं रह सकता।

सृष्टि का आधार भी कृषि ही है। देखिये भारतवर्ष में महान् सम्राट् राजा जनक स्वयम् खेती करते थे तथा हल जोतते थे। उनकी प्रजा में कोई भी मनुष्य आलसी व निकम्मा न था, सभी उद्योगी पुरुष थे। जिनका जीवन सरल व स्वच्छ था। बुद्धि अनन्त व अपार थी क्योंकि बुद्धि का विकास मधु-रस-युक्त अन्न में ही है। वे ऋतु ऋतु काल में परिश्रम द्वारा दुग्ध युक्त अन्न पैदा करते थे तथा अपने बाल-बच्चों को कृषि द्वारा स्वावलम्बी बनने की शिक्षा देते थे।

पृथु राजाने भी स्वयं कृषि-कर्म द्वारा मधुर-रसवाले अन्न पैदा किये तथा अपनी प्रजा को यथेष्ट खिलाया ताकि उनकी प्रजा सुखी एवं बलिष्ठ रहे।

महामहिम महर्षि वशिष्ठजी भी कृषि करते थे तथा उससे यथेष्ट फल प्राप्त करते थे। पृथ्वी माता को कामधेनु नन्दिनी नाम से पुकारते थे क्योंकि हमारी पृथ्वी यथेष्ट फल देनेवाली है। अतः कामधेनु (पृथ्वी) सम्पूर्ण धन देनेवाली है। इससे वसुन्धरा नामसे पुकारी जाती है किन्तु वह धन उद्योग द्वारा प्राप्त होता है।

महर्षि कण्व की पुत्री शकुन्तला अपनी सखियों सहित कृषि-कर्म करती थीं। अपने पेड़ पौधों को भ्रातृवत् स्नेह कर रक्षा करती थी। जितना प्रेम अपने पिता कण्व में न था उतना स्नेह पेड़-पौधों में था।

देखिये कृषि-कर्म का कितना प्रभाव था। नन्दजी भी खेती ही करते थे जिनका सम्पूर्ण जीवन इसी में आश्रित था तथा खेती द्वारा गोरस (अन्न) प्राप्त करते थे।

आज के सौ-दोसौ वर्ष पहले सभी गृहस्थ खेती करते थे तथा प्राकृतिक आहार उनको मिलता था। वे याचना किसी से भी नहीं करते थे। इस समय कृषि से विमुख होने से मनुष्यों की यह दशा हुई है कि वे उदर पूर्ति में भी पराधीन हो गये हैं तथा आगे क्या होगी भगवान् ही जाने।

इस यज्ञमें यजमान बीजवपन करने वाला होता है। जो कि हल चलाता है।

यजमान पहिले पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पांचों तत्वों का आवाहन करता है, जैसे—

हे ! पृथ्वि ! त्वं स्थिरा भवाहं त्वयि बीजंवपामि ।

हे पृथ्वी ! तुम सावधान हो जिससे मैं बीजवपन करूं ।

हे जल । सहस्र धाराभिः वर्षतु येन बीजोत्पत्तिः स्यात् ।

हे जल ! तुम सहस्र धाराओं से वर्षो जिससे बीजोत्पत्ति हो ।

हे वायो ! त्वमत्रागच्छ मदीयेऽन्ने प्राणंदेहि यतस्त्वं प्राण दातासि ।

हे वायु ! तुम यहां आवो और मेरे अन्नको प्राण दो क्योंकि तुम प्राण देनेवाली हो ।

हे तेजः ! त्वमपि प्रकाशं कुरु येनान्नस्यवर्धनं सम्यक् तथा संभवेत् ।

हे तेज ! तुम प्रकाश करो जिससे मेरा अन्न बढ़ सके ।

इस प्रकार आवाहन कर यजमान अपने बैलों से बीजोंका वपन करता है । बीजों के बोने से ही अन्न की उत्पत्ति होती है तथा पांचों तत्व उसकी रक्षा करते हैं । अन्न से ही सम्पूर्ण सृष्टि की रचना एवं पालन-पोषण होता है । जैसे—

श्रीमद्भगवत्गीतामें लिखते हैं :—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न संभवः,
यज्ञाद्भवन्ति पर्जन्यो यज्ञ कर्म समुद्भवः ।
कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम् ।
तस्मात् सर्व गतं ब्रह्म नित्य यज्ञं प्रतिष्ठितम् ॥

अन्न से प्राणियों की उत्पत्ति होती है। अन्न वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ निमित्त होती है। यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। कर्म ब्रह्म से उत्पन्न होता है इसलिये सर्वगत ब्रह्म यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है। अतः कृषियज्ञ हमको ऋतु-ऋतु कालमें जरूर करना चाहिये। जिसके आश्रय से पशु-पक्षी कीट पतङ्गादि का निर्वाह हो।

हम को भी मिष्ट प्राकृतिक आहार मिल सके तथा हम सुगमता से स्वावलम्बी बन इह लौकिक तथा पारलौकिक क्रियाओं की पूर्ति करते हुए सुख पूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें क्योंकि कृषि सर्ववर्णों का सामान्य धर्म है। वृद्धहारीत संहितायां चतुर्थोऽध्याय।

कृषिस्तु सर्व वर्णानां सामान्यो धर्म उच्यते।

सभी वर्णों के लिये खेती करना समान धर्म कहा गया है। चारों वर्णों के लिये पृथक् पृथक् जो धर्म बताये गये हैं वे विशेष धर्म हैं। खेती करना तो मनुष्य मात्रका कर्त्तव्य है। आगे भी कहते हैं:—

कृषि र्वृत्तिः पशु पाल्यं सर्वेषां न निषिध्यते।
स्तेय परस्त्री हरणं हिंसा कुहक कौशिके॥

खेती करके अपना भरण-पोषण करना और पशुओं को (निःस्वार्थ भावसे) पालना मनुष्य मात्र के लिये निषिद्ध नहीं है। माया (कामादि) के वशीभूत हो के चोरी करना, (दूसरे का द्रव्य हरण करना अथवा दूसरे के द्रव्य पर मन चलाना और

दूसरे का हक लेना) पर स्त्री हरण करना अथवा परायी स्त्री पर मन चलाना, हिंसा प्राणिमात्र पर आघात करना अथवा प्राणि मात्रकी आत्मा दुखाना मनुष्य मात्र के लिये निषिद्ध है। ऐसे कर्मों का परिणाम अहितकर (नाशकारी) है।

शुक्ल यजुर्वेद २६।३५

उपाव सृजत्मन्या समञ्जन् देवानां पाथऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥

हे होत ! त्मन्या आत्मन्या हवींषि ऋतुथा ऋतौ ऋतौ यज्ञकाले त्वमुपावसृज देहि। किंकुर्वन् देवानां पाथ हविः मधुना रसेन घृतेन अन्नेन समञ्जन् संभ्रक्षयन्। देवानामित्युक्तं तानाह वनस्पति-र्यूपः समिता देवः अग्निः एते त्रयो हव्यं होत्रा संसृज्य दत्तं स्वदन्तु भक्षयन्तु। आत्मन् शब्दस्य विभक्तेर्यादेशे मन्त्रेष्वाऽऽदे रात्म न्निति आकार लोपः।

हे होतः ! देवताओं के हवि को मधुरस से युक्त करते हुए हमको ऋतु ऋतुकाल में मधुर रसवाला अन्न प्रदान करो। तथा अग्नि समिता वनस्पति तुम तीनों ही होतासे दिये हुए अन्नको भक्षण करो।

अश्वमेध यज्ञ, गोमेध यज्ञ भी कृषियज्ञ के ही पर्यायवाची नाम है। अश्व शब्द और गो-शब्द व्यापक शब्द हैं।

आहार

मानव शरीररूपी यन्त्र पञ्चकोशात्मक (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय) है।

सबसे प्रथम कोश अन्नमय है। इसको ठीक रखनेसे अग्रिम चार कोश ठीक रह सकते हैं। मानव संस्कृतिका विकास अन्नमय कोश पर निर्भर है।

तै० उ०—"अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्" "अन्नाद्ध्येवखल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति" अन्न ही ब्रह्म है, अन्नसे ही प्राणियों की उत्पत्ति अन्न पर ही जीवन और आखिर अन्नमें सब समा जाते हैं।

अदन क्रियासे अन्न शब्द निकलता है। भक्ष्य, चर्व्य, लेह्य, पेय, चोष्य—ये सब अदन क्रियासे आते हैं। 'अन्नं ब्रह्मेति' का तात्पर्य मनुष्य-जीवन के लिये जो परम पुरुषार्थ गम्य ब्रह्मज्ञान (मोक्ष) है वह अन्न पर निर्भर है। यतः छान्दोग्य उपनिषद् में आता है:—

अन्नमशितं त्रेधाविधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं यो अणिष्ठस्तन्मनः—अन्न भोजन करने पर पेटमें जाकर परिपक्व होता है। उस अन्नका स्थूल अंश मलमूत्र द्वारा निकलता है। मध्यम भागका मांस

रुधिर बनता है। सूक्ष्म अंश जो अन्न में है उससे मन या मन की स्फुरणा बनती है। जीवन का सारा खेल मन की क्रिया पर निर्भर है।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'

मनुष्य का मन ही दुःख और सुख में रखनेवाला है। वेदों में आया है—"मनसैवेदमाप्तव्यम्" यह भगवान् मन से ही मिलेगा। सौन्दर्य्य लहरीमें आया है—"मृदितमलमायेन मनसा" जिन महानुभावोंके मनके मैल दूर हो गये होते हैं वे भगवानको देख सकते हैं। यजुमें आया "तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु" मेरे मनमें कल्याणके सङ्कल्प हों। इतने से सरलतासे समझा जा सकता है—"जैसा अन्न वैसा मन" जिस प्रकारके अन्न मनुष्य भक्षण करेगा वैसा ही उसका मन होगा। मनुष्यताका सौभाग्य प्राप्त करनेके लिये मनको निर्मलता आधेय है। सृष्टिमें सब वस्तु हैं; यह मनुष्यकी बुद्धिमता है कि उनमेंसे अपने उपयोग को वस्तुओंको चुन-चुनकर इकट्ठी कर ले। आहार-विहार-इन्द्रियों के द्वारा जो रूप रस आदि बाह्य शक्ति ग्रहणकी जाती है, उसे आहार कहते हैं। इन्द्रियों द्वारा भोगात्मक रूपसे भीतरी शक्तिको किसी इन्द्रिय द्वारा बाहर फेकनेको विहार कहते हैं। आहार कितना है और विहार कितना होना चाहिये, इस तत्त्वको जाननेसे मनुष्य अपने जीवनका क्रम ठीक बना सकता है। विहार अधिक होनेसे अल्पायु निर्बल; आहार विहारकी समता सुख। गीतामें इस मार्मिक अंशको इस प्रकार कहा है—"युक्ताहारविहारस्य

योगी भवति दुःखहा ॥" आहार-विहारकी समतासे दुःखसे छुटकारा होकर भगवानसे मिलनेका योग हो जाता है।

"कलावन्नगताः प्राणः" कलियुगमें जीवन-मरण अन्नपर ही निर्भर हैं। कृतयुगमें अस्थिमें प्राण रहते थे तदनन्तर मांस-रुधिरमें। कलियुगमें प्राण अन्नमें हैं। इसलिये दीर्घायु प्राप्त करने वालोंको सबसे प्रथम खाने योग्य कौन सा अन्न है, इसपर गम्भीर विचार करना चाहिये।

यदन्नः पुरुषो लोके, तदन्ना तस्य देवता।

जैसा अन्न मनुष्य खाता है उसके देवता को भी वैसा ही अन्न मिलता है। अर्थात् मनुष्यमें दैवी शक्तिका उदय भी अन्नसे ही होता है। और (दैव भाग्यको भी कहते हैं भाग्यशक्तिका विकास भी अन्नपर निर्भर है।) शुद्ध पथ्य हित अन्न भी भाव-दुष्ट संस्कार-दुष्ट होनेसे अशुद्ध, अपथ्य, अहितकारी हो जाता है। भाव दुष्ट जिस अन्नमें दुष्ट भावनाएं याने (बनानेवाले या देखनेवाले की भावना शुद्ध रहनी चाहिये) तथा संसर्ग दुष्ट—जिस अन्न का संसर्ग जिसके साथ होना अनुचित है उसके साथ मिलने से वह दुष्ट हो जाता है। जैसे पापी दुराचारी-रजस्वलादि स्त्रियोंके संसर्गसे या अशौचसे। क्रिया दुष्ट—जिस विधिसे अन्न पकाना है उस विधिसे न पकाना—उसको क्रिया दुष्ट कहते हैं, इसलिये आनन्दता दोष आरोग्यता की आकांक्षा रखनेवालेको भोजनमें सब प्रकारकी सावधानी रखनी चाहिये।

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतः"

इस जीवात्माको कर्मानुसार अनेक योनियोंमें भोग भोगनेके अनन्तर ही मनुष्य शरीर प्राप्त होता है। अतः ऐसे दुर्लभ मनुष्य शरीर की रक्षा करना तथा सार्थक बनाना हमारा कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य प्रधानतः आहार पर ही अवलम्बित है। क्योंकि आहार की शुद्धिसे मन (ज्ञान) की शुद्धि होती है और ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

शरीरमूलमन्नं हि धर्म्ममूलमिदं वपुः।
चित्तशुद्धौ विशेषेण धर्म्म एव हि कारणम्॥
भक्तिर्ज्ञानं च वैराग्यं शुद्धचित्तस्य जायते।
सर्वार्थसाधनं तस्मात् शरीरमिदमुच्यते॥
पुनर्ग्रामं पुनर्वित्तं पुनः क्षत्रं पुनर्गृहम्।
पुनः शुभाशुभं कर्म न शरीरं पुनः पुनः॥
शरीररक्षणायासः कर्त्तव्यः सर्वथा बुधैः।
न हीच्छन्ति तनुत्यागमपि कुष्ठादिरोगिणः॥
तद् गोपितं स्याद् धर्मार्थं धर्मो ज्ञानार्थमेव च।
ज्ञानं तु ध्यानयोगार्थमचिरात्तेन मुच्यते॥

—शरीरकी रक्षाके लिये अन्न ही प्रधान है। धर्मकी रक्षाके लिये शरीर की आवश्यकता है। धर्मसे मन शुद्ध होता है। शुद्ध मनसे भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति होती है। अतः सम्पूर्ण अर्थ नीरोग शरीर से ही प्राप्त होते हैं और वह नीरोगता शुद्ध आहार पर ही अवलम्बित है।

उजड़ा हुआ गांव फिर बसाया जा सकता है, गये हुए धन क्षेत्र और धाम भी फिरसे प्राप्त हो सकते हैं। शरीरसे शुभाशुभ कर्म तो होते ही रहते हैं परन्तु यह मनुष्य-शरीर बार-बार प्राप्त होना दुर्लभ है। कुष्ठादि रोगों से पीड़ित मनुष्य भी शरीर छोडने की इच्छा नहीं करता। ऐसे दुर्लभ मनुष्य-शरीर को व्यसनों द्वारा बर्बाद करना महान् अज्ञान है। पुरुषार्थ एवं ज्ञान सहित उसे सत्कर्मों द्वारा) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करके) सार्थक बनाना हमारा प्रधान कर्त्तव्य है। ज्ञान-युक्त मन ही ध्यान और योग में सम्यक् प्रकार से प्रविष्ट होने का अधिकारी है। ज्ञान प्राप्त होने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है। जैसा कि श्रुति कहती है—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"—ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता। मानव जीवन की सार्थकता मोक्ष की प्राप्ति में ही है। उपरोक्त प्रमाणोंसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी प्राप्ति प्रधानतः शुद्ध आहार पर निर्भर है।

गीता के १७ वें अध्याय में आहारके तीन विभाग-सात्त्विक, राजस और तामस भेद से किये गये हैं। उन श्लोकों एवं उनके अर्थों पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर तदनुकूल अपनी भोजन-व्यवस्था बनाने से मनुष्य मात्र का बड़ा हित होगा, इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं। सात्त्विक, राजस और तामस आहार विभेद भगवान् श्रीकृष्ण यों बताते हैं :—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

कट्वम्ल-लवणात्युष्ण-तीक्ष्ण-रूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

रस्याः—मधुर, कषाय, तिक्त, कटु, अम्ल और लवण—ये छः रस हैं। इनमें तीन—कटु, अम्ल और लवण राजस आहारमें कहे गये हैं। शेष तीन-मधुर, कषाय और तिक्त सात्त्विक आहार में लिये जाते हैं। यहां इन तीनों रसोंका ग्रहण 'रस्याः' शब्दसे होता है। इन तीनों रसोंसे युक्त प्राकृतिक आहार ही सात्त्विक है। तिक्त रस प्रधान पदार्थ आहार में कम ही पाये जाते हैं। इस रस का अधिक व्यवहार औषध में ही होता है। चना, मोठ, अरहर आदि दलहन पदार्थ कषाय रस युक्त होते हैं और इनमें "टैनिक" एसिड होती है। कषाय रस युक्त वस्तुओं में स्निग्धता कम होती है। इसलिये ये अंशतः वातवर्द्धक होते हैं। कषाय रस वाली वस्तुओं का उपयोग मधुर रसके संयोगसे होता है। अकेले इनका उपयोग प्राय: कम होता है। कषाय और तिक्त रस मधुर रसके सहयोगी हैं। उपरोक्त तीनों रसोंमें मधुर रस ही प्रधान हैं, कारण मधुर रस में पौष्टिक शक्ति विशेष है।

चावल, गेहूं, बाजरा, मक्का, ज्वार आदि अन्न तथा सकर-कन्द, आलू, जिमिकन्द, खजूर, दाख, बादाम, पिस्ता, नारियल, अखरोट, नौजा, मुंगफली, ऊख, अनार, आम आदि कन्द-मूल फल-मेवा-तेलहन प्रकृतिसे मधुर रसयुक्त पदार्थ अपने लिये हित-

कर हैं। मधुर रस प्रधान द्रव्योंका उपयोग अन्य रसोंके बिना भी होता है।

स्निग्धाः—प्राकृतिक स्नेहयुक्त मधुर रस प्रधान आहार पदार्थ-जैसे, जब, गेहूं खेतमें पककर तैयार होता है उस समय उसमें प्राकृतिक स्नेह, मधुर रस, स्वाद कोमलता और जीवन-शक्ति पूर्ण रूपमें रहती है। इसके पश्चात् जैसे-जैसे समय व्यतीत होता जायगा वैसे-वैसे रुक्षता बढ़ती जायगी। वही गेहूं स्नेह कम होने से वातवर्द्धक हो जायगा। तदन्तर संवत्सरातीत होने पर रस हीन हो जायगा और स्वाद भी कम हो जायगा। ऐसी अवस्थामें गया हुआ आहार हमारे लिये अहितकर है। इसी तरह प्रकृति देवीने सम्पूर्ण प्राकृतिक आहार पदार्थों की व्यवस्था प्रायः समान ही बनायी है। आहार पदार्थ—कन्द, मूल, फल, अन्न और तेलहन, जो स्नेह युक्त हैं, जैसे—चावल, गेहूं, जो, मक्का, ज्वार, बाजरा आदि अन्नोंमें सफेद दूध तथा स्नेह है, पौष्टिक शक्ति एवं स्वाद है। चना, मूंग, अरहर आदि दलहन पदार्थ कषाय रस युक्त पौष्टिक हैं। सकरकन्द, आलू, जिमिकन्द आदि कन्द एवं बादाम, पिस्ता, नौजा, अखरोट, नारियल, मुगफली आदि तेलहन पदार्थ स्नेह युक्त हैं तथा पौष्टिक हैं। खजूर, दाख, आम आदि फल स्निग्ध एवं पौष्टिक हैं। उपरोक्त सभी पदार्थ जब खेतमें पककर तैयार होते हैं वही उनकी पूर्ण स्निग्ध अवस्था है। हमारा भारतवर्ष ही ऐसा देश है जहां पृथ्वी-माता से सभी ऋतुओंमें हमें स्निग्ध-आहार प्राप्त होता रहता है। जैसे

किसी समय में चावल, कभी गेहूं, कभी बाजरा-ज्वार आदि कभी फल, कभी मेवा आदि पदार्थ बराबर ताजा स्नेह युक्त मिलते रहते हैं। स्निग्ध आहार की बदौलत ही हमारा भारतवर्ष सम्पूर्ण देशों का शिरोमणि रहा है। परन्तु दुर्भाग्यवश थोड़े दिनों से हमने प्राकृतिक आहार को छोड़ कर कृत्रिम एवं अप्राकृतिक आहार को अपना लिया है, इसलिये हमारा भारतवर्ष अन्य देशों का अनुगामी बन गया है।

गांव में बसनेवालें एवं किसानों को यदि वे ज्ञानपूर्वक चेष्टा करते रहें तो स्निग्धाहार हरसमय प्राप्त होता रहेगा। स्निग्धाहारका व्यवहार करना उनके लिये सहज है। आवश्यकता केवल ज्ञान एवं उद्योगकी ह। स्निग्धाहारको कठिनाई नागरिकों के सामने अवश्य है पर वह भी ज्ञान एवं उद्योगसे हल हो सकती है। प्रत्येक नागरिक जब ध्यान देगा कि ऊपर बताये स्निग्ध एवं रस-युक्त आहार ही उसके व्यवहारकी चीज है, उससे ही उसका जीवन कार्यक्षम रह सकता है, तो तदर्थ वह चेष्टा करेगा। देश-कालके अनुसार नये अन्न एवं ताजे फल प्राप्त करनेका ध्यान रखनेसे वह उसे प्राप्त होता रहेगा। कृत्रिम एवं अप्राकृतिक आहारसे बचनेका सदा ध्यान रखना चाहिये। कृत्रिम एवं अप्राकृतिक आहार मनुष्यको अकाल मृत्युकी ओर ले जाता है; इसे सदा ध्यानमें रखना चाहिये।

राजनिघण्टु में जो द्रव्यों के गुण लिखे हैं यहां उनमें से कुछ द्रव्यों के गुण लिखे जाते हैं—

ब्रीहिर्गौरो मधुरशिशिरः पित्तहारी कषायः,
स्निग्धो वृष्यः कृमिकफहरस्तापरक्तापहश्च।
पुष्टिं दत्ते श्रमवमनकृद् वीर्यवृद्धिं विधत्ते,
रुच्योऽत्यन्तं जनयति मुदं वातकृत्सेचकोऽन्यः॥

—सफेद चावल, मधुर, कषाय, रस युक्त, शीतल, पित्तशमक स्निग्ध, वस्ति शोधक, कृमि एवं कफ-नाशक, रक्त की बढ़ी हुई गर्मीको शान्त करनेवाला, अत्यन्त रुचि पैदा करनेवाला और चित्त को प्रसन्नता देनेवाला पौष्टिक एवं थकावट दूर करनेवाला वीर्यवर्द्धक होता है। अन्य श्यामवर्ण (कृष्ण धारीदार) चावल वातवर्द्धक होता है।

आयुर्वेद के द्रव्यगुण शास्त्र में चावलों की अनेक जातियाँ बतायी गई हैं और गुण भी सबों के विशद रूपसे बताये गये हैं। भोजनमें चावलका व्यवहार मांडयुक्त किया जाय तो उसका सम्पूर्ण गुण हमें प्राप्त होगा। अतः भात बनाते समय माँड को नहीं निकालना चाहिये, केवल फेन (झाग) निकाल देना चाहिये। ऐसा होने से जिस भातका हम व्यवहार करेंगे वह सम्पूर्ण गुणों से युक्त होगा। मांड का गुण आयुर्वेद में इस प्रकार वर्णित है—

क्षुद्बोधनो वस्तिविशोधनश्च प्राणप्रदः शोणितवर्धनश्च।
ज्वरापहारी कफपित्तहन्ता वायुं जयेदष्टगुणो हि मण्डः॥

—भूख बढ़ाता, मूत्राधार को साफ करता, प्राणशक्ति देता, खून बढ़ाता, ज्वर को हटाता, बढ़े कफ पित्तको हटाता और वात-

दोषको शान्त करता है। इस प्रकार मांडमें आठ गुण हैं। चावल से मांड निकाल कर हमें उक्त गुणोंसे वञ्चित नहीं होना चाहिये।

गोधूमो बहुदुग्ध स्यादपूपो म्लेच्छभोजनः।
यवनो निस्तुषः क्षीरी रसालः सुमनश्च सः॥
गो धूमः स्निग्ध-मधुरो वातघ्नः पित्तदाहकृत्।
गुरुः श्लेष्मामदो बल्यो रुचिरो वीर्यवर्द्धनः॥

—गेहूंमें प्रकृति से ही बहुत दूध होता है. इसी लिये 'बहु दुग्ध' उसका एक नाम है। गेहू को पीसकर रोटी एवं दलकर दलिया बनाया जाता है। वह गेहूं तुष रहित है। दूध प्रविष्ट होनेसे जो दाना बनता है वह प्राकृत-दुग्ध युक्त 'खीर' है। वह कोमल, स्वादु, एवं पौष्टिक है। ऐसा आहार मनको प्रसन्न करनेवाला एवं सुखद है। [इस तरह जितने भी दूध एवं रस वाले पदार्थ हैं उनमें दूध प्रविष्ट होनेसे ही खीर बनती है। उसे ही 'क्षीरी' कहा गया है। उसी अवस्थावाली खीर ही सात्त्विक है।] हरेक अन्नकी क्षीरी अवस्था भरपूर जवानीकी अवस्था है। उसमें स्वाद, कोमलता, जीवनशक्ति पूर्णरूपसे व्याप्त रहती है, फलतः भोजन के लिये उसी अवस्था में हरेक पदार्थको काट लेना चाहिये, क्योंकि उसके बाद खेतमें खड़ा रहनेसे पृथ्वी रसको खींचने लगती है, और गुदा पकनेसे दाना कड़ा हो जाता है। स्वाद, कोमलता कम हो जाती है। अन्नकी यह अवस्था बीजके लिये ही उपयोगी है। जैसे—जब चावल पकाते हैं तो यह ध्यान

रखना पड़ता है कि चावल पका या नहीं। जब वह ठीक पक जाता है तब उसे अग्निपर से उसी वक्त हटालेते हैं। पकने के बाद अगर उन्हें अग्निपर और रहने दिया जायगा तो वह गुणहीन हो जायगा। इसी प्रकार सूर्य्य की अग्नि से पकनेवाले अन्न का भी ख्याल रखना होगा, कारण अन्न में (विशेष पकने से) स्वाद तथा गुण कम हो जाता है तथा कड़ा हो जाता है। काटने के बाद भी उसको पूरी सावधानी से रखना चाहिये। सावधानी रखनेपर स्निग्धता एवं स्वादुपन अधिक दिनों तक स्थिर रहेगा। खोली वालेको खोलीमें ही रखा जावे, टोपीवालेको टोपीमें, सीटेवालेको सीटेमें, फलीवालेको फलीमें, रखना चाहिये। जैसे-जैसे जरूरत हो वैसे-वैसे ही उसको निकालकर देश-कालके अनुसार पकाकर अथवा भिगोकर उपयोगमें लाना हमारे लिये श्रेयस्कर है।

गेहूं स्निग्ध, मधुर, वातनाशक, उष्णताप्रद, भारी (स्थिर रहनेवाला) कफ शमक, बलप्रद, स्वादु और वीर्य्यवर्द्धक हैं। गेहूं एवं चावलमें प्रकृतिसे पूर्ण पौष्टिक तत्त्व—विटामिन ए० बी० सी० डी० स्थित हैं। सफेद दूधवाले दूसरे अन्नों की वनिस्पत चावल एवं गेहूं में स्निग्धता तथा रस अधिक है, इसी लिये ही ये औरों को अपेक्षा अधिक पौष्टिक हैं।

दाहघ्नी मधुरास्रपित्तशमनी तृष्णार्तिदोषापहा,
शीता श्वासकफश्रमोदयहरा सन्तर्पणी पुष्टिदा।

वह्नेर्मान्द्यकरी गुरुर्विषहरा हृद्या च दत्ते बलं,
स्निग्धा वीर्यविवर्द्धनी च कथिता पिण्डाख्यखर्जूरिका ।।

—पिण्ड खजूर दाहको दूर करता, मधुर, अम्लपित्तनाशक, प्यास शान्त करनेवाला, ठण्डा, श्वास-कफ-थकावट दूर करता, तृप्तिकर, पौष्टिक, ज्यादा खानेसे अग्निमान्द्य उत्पन्न करनेवाला, भारी, (स्थिर) विष दोष शमक, हृदय के लिये हितकर, बलप्रद, स्निग्ध और वीर्य बढ़ानेवाला होता है।

शीता पित्तास्रदोषं दमयति मधुरा स्निग्धपाकातिरुच्या,
चक्षुष्या श्वासकास-श्रम-वमिशमनी शोषतृष्णाज्वरघ्नी ।
दाहाध्मानभ्रमादीनपनयति परा तर्पणी पक्वशुष्का,
द्राक्षा सुक्षीणवीर्यानपि मदनकला-केलिदक्षान् विधत्ते ।

—पककर सूखी हुई दाख शीतल, रक्तपित्त नाशक, मधुर, पाकमें चिकनी, अत्यन्त रुचिकर आंखोंको हितकर, श्वास-कास-थकावट को शान्त करनेवाली, सूजन. प्यास एवं ज्वरको शान्त करती, दाह, पेटके अफरा, चक्कर आदि को दूर भगाती, अत्यन्त तृप्तिकर और जिन पुरुषोंका शुक्र खत्म हो गया होता है उन्हें भी काम-क्षम बनाती है।

नारिकेलो गुरुः स्निग्धः शीतः पित्तविनाशनः ।
अर्द्धपक्वस्तृषाशोषशमनो दुर्जरः परः ।।

—नारियल भारी (स्थिर) चिकना, ठण्डा और पित्त-नाशक है। अध पके नारियल का जल प्यास एवं मूत्र प्रणाली-

वातशोषको हटाता है। पूरा पका नारियल बहुत देरसे हजम होता है।

मधुरं मधुनारिकेलमुक्तं शिशिरं दाहतृषार्तिपित्तहारि।
बलपुष्टिकरं च कान्तिसत्या कुरुते वीर्य्यविवर्द्धनं च रुच्यम्॥

मीठा नारियल (पूरा पका हुआ) मधुर, ठण्ढा, दाह, प्यास, पीड़ा एवं पित्तको शान्त करता, बलप्रद, पौष्टिक, उत्तम कान्ति को बढ़ाता, वीर्यवर्द्धक और रुचिवर्द्धक है।

अक्षोटो मधुरो बल्यः स्निग्धोष्णो वातपित्तजित्।
रक्तदोषप्रशमनः शीतलः कफकोपनः॥

—अखरोट मीठा, बलप्रद, चिकना, गर्म, वात-पित्त शमक, रक्त सम्बन्धी दोषोंका नाशक, ठण्ढा और कफको कुपित करता है।

स्थिराः—प्राकृतिक रस स्नेह युक्त जो उपरोक्त आहार द्रव्य पेटमें जाकर स्थिर रहते हैं, पुनः उनका रस, एवं रक्त बनकर धमनियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता हुआ पुष्टि करता है, वही स्थिर आहार है। जिन आहार द्रव्यों में स्नेह कम है, जलकी ही विशेषमात्रा है, वे पेट में जाकर स्थिर नहीं रहते,—जैसे-ककड़ी, तरबूज, खरबूजा, सफेद जामुन आदि फलों तथा विशेष जलीय मात्रा वाले शाकादिकों से पेट भरने पर भी पेट खाली ही रह जाता है। क्योंकि वे पेशाब मार्गसे शीघ्र ही निकल जाते हैं। उनसे शरीरको कोई लाभ नहीं होता—परिणाम में कुछ वायु पैदा करते हैं। अवशेष—सूखने पर

छिलका और बीज मात्र ही रहते हैं—स्नेह कम होने के कारण वे आहार के रूपमें न होकर पथ्य के रूपमें ही हैं।

हृद्याः—'रस्याः' 'स्निग्धा' 'स्थिरा' आहार के सेवन करने से हृदय को प्रसन्नता एवं शान्ति प्राप्त होती है। शान्ति प्राप्त होने पर आयु की वृद्धि; आयुकी वृद्धि होनेपर सत्त्व (ज्ञान) की वृद्धि, ज्ञानकी वृद्धि होने पर बल की वृद्धि; तथा बल प्राप्त होने पर आरोग्यता की वृद्धि एवं आरोग्यता प्राप्त होने पर सुखकी वृद्धि, सुख प्राप्त होनेपर प्राणियों में सद्भावना तथा परमात्मा से प्रीति होगी और परमात्मासे प्रेम होनेपर ही मोक्ष प्राप्त होगा। ये सभी गुण प्रधानतः प्राकृतिक रस्याः स्निग्धा स्थिरा आहार पर अवलम्बित हैं।

रुक्षाः—प्राकृतिक स्नेह समयानुसार जिन-जिन पदार्थों से जैसे-जैसे कम होता जाता है वैसे-वैसे ही वह पदार्थ रूक्ष हो जाता है। हरेक पदार्थमे जो स्नेह है, वह उस पदार्थ की जीवन शक्ति है। स्नेह की कमी से वे पदार्थ शनैः शनैः रुक्ष होते जाते हैं। रुक्ष हो जाने से वे वायुको पैदा करते हैं। इस तरह के पदार्थों का सेवन करनेवालोंको वातशमनार्थ स्नेह (तैल अथवा कटु, अम्ल, लवण, एवं तीक्ष्ण, उष्ण गुणवाले पदार्थोंकी भी आवश्यकता रहती है। अन्यथा वह भोजन पेटमें नाना प्रकार के वातज रोगों को उत्पन्न करता है। इसलिये रूक्ष आहार के साथ इनका देश, काल, ऋतु, अवस्था के अनुसार सेवन करना चाहिये।

जिन देशों में वर्षा अधिक होती है, वे देश भी वात प्रधान ही होते हैं। ऐसे देशोंमें रहने वालों को भी प्राकृतिक स्नेह रहित अन्न के साथ वातशमनार्थ स्नेह (तैल) सेवन करना चाहिये, तथा चर्म रोगोंसे रक्षा के लिये प्रतिदिन मालिश भी करना जरूरी है। कारण, हमेशा तैलके लगानेसे ऊपरी वायु रोम छिद्रों में प्रविष्ट नहीं हो सकती तथा भीतरी अशुद्ध वायु निकलती रहती है। खास तौर से तेल में उष्णता एवं स्नेह है। उसी उष्णता एवं स्निग्धता से वायु शमन होती है। तैलके विषय में हमारा आयुर्वेद भी यही कहता है—'तैलं वातहराणां श्रेष्ठम्' वातनाशक द्रव्यों में तैल प्रधान है। अन्यत्र कृशानां बृंहणायालं स्थूलानां कर्शनाय च। बद्धविट्कं कृमिघ्नं च संस्कारात्त्रयदोषजित्।' तैल में यह प्रधान गुण है कि वह स्थूल मनुष्यों को बढ़ी हुई चर्बी को नष्ट करके कृश बनाता है तथा कृश मनुष्यों के शरीर में सूक्ष्म चर्बी बनाकर पुष्ट करता है। पतले मलका बन्धन करने वाला उदर कृमियों को नष्ट करनेवाला तथा संस्कार करने से तीनों दोषों का शमन करनेवाला है।

कटु, अम्ल, लवण रसवाले एवं उष्ण-तीक्ष्ण गुण प्रधान द्रव्य रूक्षके सहयोगी हैं। रूक्षाहारके साथ इनका उपयोग करनेसे ये रूक्षगत दोषोंको दूर करते हैं।

उष्ण :—इसी प्रकार उष्ण गुणसे वायुका शमन तो होता ही है साथ ही उसमें यह भी विशेष शक्ति है कि वह जलके संयोगसे हरेक पदार्थके विकारको नष्ट करता है; जैसे दाल, चावल,

दलिया आदि अग्निपर पकाते समय, अग्निके उष्ण गुणसे ही उन पदार्थोंके विकारोंको फेन (झाग) के रूपमें बाहर निकालता है। जब तक उस पदार्थकी विकृति पूर्णतया बाहर नहीं निकलेगी, तबतक प्रकृतिदेवी उस विकारको निकालने के लिये बराबर उफान देती रहेगी। जब सम्पूर्ण विकार निकल जायेगा तब ऊफान स्वयं ही रुक जायगा। इससे यह स्पष्ट है, कि उसके अन्दर झाग रहना स्वास्थ्यके लिये हानिकारक है, अतः यह ध्यान रखना चाहिये कि हरेक पदार्थका पाक करते समय सम्पूर्ण झागोंको निकाल देना चाहिये। और भी जैसे चीनी साफ करते समय जब तक झाग आते हैं तबतक उनको निकालना मलको दूर करना है, सम्पूर्ण मैलके निकलने पर ही चीनी स्वच्छ होती है। इसी तरह सम्पूर्ण पदार्थ विकार (मैल) के निकलने पर ही स्वच्छ होते हैं। ऐसे पदार्थोंका सेवन अपने लिये लाभदायक है। जब तक मनुष्यकी युवावस्था रहती है, तब तक उसके शरीरमें रक्तकी उष्णता भी सम्यक प्रकारसे रहती है, अतः उसको ऊपरी उष्णताकी आवश्यकता नहीं रहती। प्रायः युवावस्था बीतनेपर वृद्धावस्थामें ही उष्णता कम होनेपर मकरध्वज बसन्त-मालती आदि दवाओंका सेवन करके उष्णता बनानी पड़ती है। इसी तरह अन्नमें जब तक प्राकृतिक उष्णता है तब तक ऊपरी रसोंको मिलानेकी कोई जरूरत नहीं क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंमें सभी रस प्रकृतिसे ही मिलाये हुए हैं। समय पाकर जब वह रुक्ष हो जायगा

तभी उसके साथ अन्य रसोंको मिलानेकी आवश्यकता होगी।

कटु मिर्चादि, अम्ल निम्बू आदि तथा लवणादि आवश्यकतानुसार द्रव पदार्थोंके साथ सेवन किया जा सकता है. क्योंकि ये भी वायुनाशक हैं। इनसे मिले पदार्थोंको समयानुसार जैसे उचित हो वैसे एक प्रहरके भीतर ही सेवन करना चाहिये। यदि किसी पदार्थको अधिक समय तक रखनेकी जरूरत हो तब (तीक्ष्ण) तिक्त रसवाले जैसे—मिर्च, राई, सोंठ आदिको मिलाने से वे अधिक समय तक विकृत नहीं हो सकते। यह तीक्ष्ण गुण भी वातनाशक है। और जितने भी जलीय मात्रावाले पदार्थ हैं और जिनको पहिले वातकारक बताया है उनमें भी तीक्ष्ण गुणके मिश्रणकी आवश्यकता है। और भी जैसे निम्बू, मिर्च, आचार आदि तीक्ष्ण रसके प्रभाव से ही अधिक काल पर्यन्त टिके रहते हैं। तिक्त रसमें जो तीक्ष्ण भाग है, वह राजसमें तथा मधुर भाग सात्त्विकमें लिया गया है। कितने ही पदार्थ पहिले तिक्त एवं अम्लावस्थामें रह कर फिर पकने से मधुर प्रधान हो जाते हैं, इसलिये तीक्ष्ण भाग रजोगुणी है और मधुर भाग सतोगुणी।

विदाहिनः रूक्ष आहार हृदयमें जलन तथा उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। इनसे चित्तमें अशान्ति बनी रहती है। अशांति रहनेसे दुःख, शोक, रोगकी वृद्धि होती है। अतः ऐसा आहार अपने लिये लाभदायक नहीं है।

राजस आहार मनुष्यके जीवन-निर्वाह मात्रके लिये है। बल, आयु सुख आदिकी प्राप्ति तो सात्त्विक आहार से ही होती है।

यातयामम्—प्राकृतिक रसवाले पदार्थोंका संवत्सरातीत होने पर रस जीर्ण हो जाता है।

गतरसम्—उपरोक्त आहार स्नेह क्षीण होनेसे रसहीन हो जाते हैं। रसहीन होनेसे स्वाद बदल जाता है।

पर्युषितम्—वासी हो जाता है।

उच्छिष्टम्—वासी होने पर जीव प्रविष्ट हो जाते हैं, और उनसे उच्छिष्ट हो जाता है।

पूति—तथा दुर्गन्ध पैदा हो जाती है। दुर्गन्ध युक्त जो आहार पदार्थ है वे हमारे लिये अहितकर हैं। प्राकृतिक रसवाले पदार्थ भी दुर्गन्ध युक्त होनेसे तामसी हो जाते हैं और जसे—प्याज, लहसुन मधुर स्निग्ध होनेपर भी अहितकर हैं। वैसे ही बादाम, पिस्ता, अन्न, फल आदि पदार्थ स्निग्ध होनेपर भी दुर्गन्ध पैदा होनेसे अहितकर हो जाते हैं। परस्परमें मिश्रण करके जो भोजन बनाया जाता है, वासी होनेसे उसमें दुर्गन्ध पैदा हो जाती है और दुर्गन्ध पदा होनेसे वह आहार भी अहितकर हो जाता है।

अमेध्यम्—यातयामं, गतरसं, पूति, पर्युषितं, उच्छिष्टम्—ऐसे उपरोक्त आहारके सेवन करनेसे हमारी बुद्धि अपवित्र हो जाती

है। क्योंकि इस तरहके आहारोंकी अवस्था तामसी बताई गई है।

अब हमें यह विचारना है कि उपरोक्त तीनों श्लोकों में जो भोजनका गुण वर्णन किया गया है, उसमें तामस भोजनके विषय में जो 'अमेध्य' शब्द आया है, उसमें हमारी बुद्धि ही हीन बताई है। आयु, बलका ह्रास नहीं बताया गया है, परन्तु हमारी पीढ़ी-दर पीढ़ीका बहुत समयसे आयु और बलका ह्रास हो रहा है। विशेष क्या? गत सौ वर्षों से हमारा आयु, बल बहुत ही गिर रहा है।

आयु, बल घटनेका प्रधान कारण अप्राकृतिक एवं कृत्रिम भोजनका विशेष रूपसे सेवन करना ही है। जैसे—यदि बच्चेका पालन माताके दूधसे होगा, तभी उस बच्चे की बुद्धि पवित्र रहेगी, क्योंकि कार्य कारणानुकूल ही होता है। बच्चेमें माताकी बुद्धि ही दूधके रूपमें अवतरित होती है और माताके दूधके अभावमें धाय (नौकरानी) के दूधसे जो बच्चा पाला जाता है उस बच्चेकी बुद्धि हीन होती है, क्योंकि धायकी बुद्धि न्यून होती है। वैसे तो माता का दूध भी मनुष्य का दूध है, और धायका दूध भी मनुष्यका ही दूध है, उससे बच्चेका आयु, बल नष्ट नहीं होता, बुद्धि ही हीन होती है। वैसे ही पृथ्वी माता का ही स्निग्ध अन्न है, और पृथ्वी माताका ही रस रहित अन्न है, अतः रस रहित अन्नके सेवन करनेसे बुद्धि ही कमजोर होती है—आयु, बलका ह्रास नहीं होता। अस्तु अप्राकृतिक

एवं कृत्रिम भोजनसे आयुका ह्रास कैसे होता है—इसपर विचार करना है।

मनुष्य शरीरके भीतर अवकाश (थोथ) परमात्माने बनाया है। उसके बने रहनेसे ही मनुष्यका जीवन है। अवकाश कम होना ही शनैः-शनैः मनुष्यके अकाल मृत्यु तकका कारण है। अतः अवकाश बनाये रखनेके लिये तथा प्राण रक्षाके लिये विकार रहित प्राकृतिक सादे भोजन करनेसे शरीरकी धमनियां, आमाशय, पक्वाशय, यकृत्, प्लीहादि स्वच्छ रहेंगे तथा उनकी क्रिया अच्छी तरहसे होती रहेगी। अवकाश भी सुरक्षित रहेगा, एवं पाचन क्रिया भी ठीक होती रहेगी। मनुष्य-शरीरका निर्वाह करनेके लिये प्रायः जितने अन्नकी उपयुक्त मात्रा अच्छी तरह पाचन होकर एवं उसका रस रक्त बनकर सम्पूर्ण शरीरको पुष्ट कर सके, इसलिये अवकाशकी पूर्ण आवश्यकता है। तभी मनुष्यके आयु, बलमें किसी प्रकारकी न्यूनता न होगी। व्यायाम, प्राणायाम, पुरुषार्थ आदिसे भी शरीरकी वायु शुद्ध होकर पाचन क्रिया अच्छी तरह होती रहती है, अतः अवकाश बनाये रखने के लिये यह भी आवश्यक है।

बच्चेका प्रारम्भिक अवस्थामें जो विकास होता है, वह अवकाश सुरक्षित रहनेपर ही अवलंबित है। बच्चेको प्रारम्भ में—माताका दूध, आवश्यकता होनेपर प्राकृतिक रस-स्नेह युक्त भोजन जैसे—पतला दलिया, खिचड़ी, मांडयुक्त भात, आटेकी बनाई हुई रावड़ी, गुड़ियानी आदि पतले द्रव्य और फलोंका रस इत्यादि

सेवन करानेसे ही उसका अवकाश सुरक्षित रहेगा। ऐसे भोजन से बच्चेको किसी भी प्रकारकी बीमारी नहीं होगी, और बच्चेका विकास पूर्ण होगा। किं बहुना—बच्चेके विकासपर ही मानव-समाजका विकास निर्भर है।

जब आटा घोल (दूध) कर पिलाया जाता था तब भारतमें द्रोण पुत्र अश्वत्थामा जैसे वीर एवं मानव-अमर उत्पन्न होते थे। अन्नका घोल छोड़कर जबसे हम पशु दुग्ध लेने लगे तबसे हमारी क्या शक्ति है, इसे सब लोग देख सकते हैं।

अवकाश विशेषतया स्थूल मेदा (चर्बी) बढ़ानेवाले आहार जैसे—घृत, घृतसे बने हुए पदार्थ, आमिष, पशु-दुग्ध, छेना, मावा इत्यादि गरिष्ठ पदार्थोंसे शनैः-शनैः अवरुद्ध होता है। क्योंकि स्थूल मेदा बढ़ानेवाले पदार्थोंके सेवन करनेसे शरीर प्रारम्भमें स्थूल हो जाता है। कुछ शक्ति-सी भी मालूम होती है, परन्तु वह शक्ति स्थायी नहीं होती, अतः मेदासे पुष्ट शरीर देखनेमें तो मोटा-ताजा लगता है; परन्तु कमजोर, सुस्त, ढीला और आलसी होता है।

बच्चेका शरीर छोटा, सुकुमार और कोमल होता है। अतः उपरोक्त आहार बच्चेके विकाशको तो रोकते ही हैं, इसके अतिरिक्त नाना प्रकारके उदररोग जैसे,—पेटका बढ़ना, पेटका निकलना, हाथ-पैरोंका पतला होना आदि उत्पन्न करके अन्ततोगत्वा मृत्यु तक भी कर देते हैं। आजकल भारतवर्षमें

बच्चोंकी अकाल मृत्यु विशेष रूपसे होती है। प्रधानतः उसका उपरोक्त ही कारण है।

अतः प्रत्येक माता-पितासे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि ऐसे अप्राकृतिक आहार बच्चेको कभी न खाने देवें। प्राकृतिक सादा आहार ही सेवन करावें। इससे उसका तथा अपना जीवन सुखमय रहेगा।

आयुर्वेदमें कहा गया है कि घीसे आयु बढ़ती है; परन्तु पशुके घीसे पशुकी आयु बढ़ती है, मनुष्यके घी (दूध) से मनुष्य की आयु बढ़ती है। बच्चोंको माताका दूध तीन साल तक पूर्ण प्राप्त होनेसे ही पूर्ण आयु प्राप्त होती है। माताके दूध पर ही आयु निर्भर है। मनुष्य वर्ग पृथक एवं पशु वर्ग पृथक है। पशु वर्गसे मनुष्य वर्ग श्रेष्ठ है। सांड़, बैल, घोड़े, ऊंट आदि पशुओंको घी पिलाने की मर्यादा प्राचीन काल से ही चली आती है। जब अधिक घी प्राप्त था तब अधिक मात्रामें सालमें दो तीन चार मनों घी पिलाया जाता था। इस जमानेमें घी कम मात्रामें प्राप्त होने पर भी पिलाया जाता है, क्योंकि उनका जीवन थोड़ा है, शरीरका अवकाश बड़ा है। फलतः उन्हें स्थूल चर्बीकी आवश्यकता रहती है, ताकि वे कार्यक्षम बने रहें। अस्वस्थ होने पर भी उनको घीकी नाल दी जाती है। उसीसे वे स्वस्थ होते हैं। पशुओं के लिये ही पशुका घी उपयोगी है, न कि मनुष्यके लिये। कारण मनुष्यकी आयु बड़ी है, शरीरका अवकाश छोटा है, अतः अवकाशकी रक्षाके लिये सूक्ष्म मेदा की ही आवश्यकता है।

सूक्ष्म चर्बी प्राकृतिक अन्नादि आहार से प्राप्त होती है। इसके विपरीत पशुके घी दूधसे स्थूल चर्बी प्राप्त होती है, जो मानव जीवनके, लिये हरेक अवस्थामें अहितकर है। पशु वर्गके, जो मनुष्य वर्गसे नीचा है, दूध, घी आदि लेकर अपनी शक्तिकी वृद्धि करना चाहते हैं, वह अपना अज्ञान है, क्योंकि धर्मशास्त्रों में पर वस्तु ग्रहणको पाप बतलाया गया है। नीचेसे जो चीज ली जायगी वह हमें नीचे ले जायगी। अपने से ऊँचे से जो वस्तु हम लगे वही हमें ऊंचा उठायेगी—पृथ्वी तेज आदिसे हम जो शक्ति प्राप्त करेंगे वही हमें ऊंचा उठायेगी। प्रकृति देवी से भी हमें यही स्पष्ट शिक्षा मिलती है। "मनुष्य पुरुषार्थ करके पृथ्वी माताले जो आहार प्राप्त करता है, वही उसका वास्तविक आहार है। और उसीसे वह उन्नत होता है।

सार वस्तुका नाम घृत है तथा घृत शब्द व्यापक अर्थमें प्रयोजनीय है। यथा—वेदोंमें विशेषतया घृत शब्द अन्न व जल का द्योतक है। तथा आकाश, पृथ्वी तेज, रेत आदि शब्दोंमें भी घृत शब्दका व्यवहार किया गया है।

शुक्ल यजुर्वेद में अध्याय ३४।४५

घृतवती भुवनानामभि श्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघ सुपेशसा।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मण विष्कभिते अजरेभूरिरेतसा ॥४५॥

जगती द्याव्यापृथिवी देवत्या। द्यावा पृथिवी द्यावा पृथिव्यौ वरुणस्यादित्यस्य धर्मणा धारणेन धारण शक्त्या विष्कभिते स्तम्भिते-स्कम्भ्नोतिदृढी करणार्थः वरुणेन स्वशक्त्या दृढीकृते

इत्यर्थः। किम्भूतेते घृतवती उदकवत्यौवृतमिति उदकनाम भुवनानां भूतजाता नामभिश्रिया आश्रयणीये कर्मणि क्विप् विभक्ते-राकारः। ऊर्वीऊर्व्यौ विस्तीर्णे पृथ्वी पृथ्वौ पृथुळे आयामविस्तारा-भ्याम् महत्त्वम् विशेषणद्वयेनाक्तम्। मधुदुघे मधुउदकं तस्य दोग्ध्र्यौ। सुपेशसा सुरूपे। अजरे जरारहिते। भूरिरेतसा भूरिरेतोययोस्ते भूरिरेतसौ वहुरेतस्के सर्वभूताना हि रेतांसि ताभ्यामेवोत्पद्यन्ते।

भावार्थ—आदित्यने (वरुण) पृथ्वीको प्राणियोंके आश्रयके लिये स्थिर किया तथा उससे (आकाश) मधुर-रस-युक्त उदक (जल) वृष्टि द्वारा पैदा किया क्योंकि जिस जलसे मनुष्य जरा रहित तथा वहुत पराक्रमवाले हो कारण जल से ही वीर्यकी उत्पत्ति है तथा सम्पूर्ण प्राणिमात्र को रचना है। (घृतंवैउदकम्)

शुक्ल यजुर्वेद सं० १७।८८

घृतं मिमिक्षे घृतमस्ययोनिर्घृते श्रितोघृतम्वस्य धाम।
अनुष्व धमावह मादयस्व स्वाहा कृतं वृषभवक्षि हव्यम् ॥८८॥

गृत्समदद्दृष्टा। अहं घृतं मिमिक्षे सेक्तुमिच्छामि अग्नि-मुखे मेढुमिच्छति मिमिक्षते मिहसेचने सनन्ताल्लट् उत्तमैक-वचनम्। यतोऽस्याग्नेघृतं योनिरुत्पत्ति स्थानम्। अग्निर्यस्यै-योनेरसृज्यततस्यैं घृतमुल्वमासी दितिश्रुतेः। गर्भाधारोदकमुल्वम्। योऽग्निघृतेश्रितः घृतमाश्रितः। अस्याग्नेघृतमेव धाम स्थानंतेज-स्करम्। वाउ अव धारणे। अतो हे !। अध्वर्यो ! अनुष्वधम् स्व-धामन्नमुपलक्ष्य तमग्निमावह पूर्व-मन्नमुपवलक्ष्य पश्चादाहूय आहूय

च स्वादयस्व तर्पय। तर्पयित्वा चैव ब्रूहि हे वृषभ! कामानाम सिवर्षक! स्वाहा कृतम् स्वाहा कारेण हुतं हव्यं त्वं वक्षि वह देवान् प्रापय। वहतेः शपि लुतेढ़त्वकत्वादौ कृते वक्षीति रूपम्। यद्वा यं प्रत्यहं मिमिक्षेयस्य घृतंयोनियौ घृतेश्रितः यस्य च घृतं धाम सत्वमनुष्वधं देवानावहमादय हव्यं च वक्षि इत्याग्नि प्रत्येवोक्तिः यतोवह्नेः कर्मद्वयं देवानामावाहनं हविर्दहनञ्च।

भावार्थः—घृत शब्द जलका ही है। मैं जलका सिञ्चन कर रहा हूं। जल ही इस अग्निका उत्पत्ति स्थान है। अग्नि जलमें ही आश्रित है। जल ही इसका स्थान है। स्वधाके अन्नको उपलक्षित करके अग्निका आवाहन कर तृप्त करो। हे वृषभ! स्वधाकारसे हुत जो अन्न है उससे देवताओंको तृप्त करो।

शुक्ल यजुर्वेद १७।८९

समुद्रादूर्मिर्मधुमांउदा २ ॥ उदारदुपांशुनासम मृतत्व मानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवनाममृतस्य नाभिः ॥८९॥

वामदेवदृष्टा। अत्रान्नाध्यासेन घृतम स्तूयतेप्राणाध्यासेनचाग्निः। समुद्रात घृतमयात् मधुमान् रसावानूर्मिः कल्लोल उदारत् उदगच्छत् ऋगतोच्छेरङ् ऋदृशोऽङिगुणः अक्षीणत्वात् घृतस्य समुद्रेणोपमानम् अन्न देवताभिप्रायम् वासाह्यक्षीणैव। उद्गत्यचऊर्मिः अंशुनाप्राणेन जगत् प्राणभूतेनाग्निना सं संगत्यैकीभूय अमृतत्वममरण धर्मित्वमुपानट्। उपव्याप्नोतुनश अदर्शनेलुङि-मन्त्रे घसेत्यादिनाच्लेलुक् हल्ङ्याविर्तितिलोपः विआङ्पसर्गाभ्यां-व्याप्त्यर्थः। प्राणश्चान्नं च एकीभूयामृतत्वं प्राप्नुतइत्यर्थः। तस्य

घृतस्य गुह्यमविज्ञातंनामाविद्वद्भिरज्ञातं श्रुतिमन्त्र पठितं यदस्ति तत्कथ्यत इतिशेषः।

किं तदाह देवानां जिह्वा अत्यभिलाषादेवानां जिह्वोत्थाननिमित्तम् अग्नेर्जिह्वासीत्युक्तेः। यद्वा वा एतदग्नौ जुह्वयथाग्निर्जिह्वा-इवोत्तिष्ठन्तीति श्रुतेः। यच्चसवप्रकाशं नाम तदप्युच्यते अमृतस्य नाभिः अमरणधर्मस्य न हनं बन्धनम् यो हि घृतमश्नाति सदीर्घायुर्भवति। यद्वाऋगर्धेन मन्त्रः स्तूयते अर्धेन घृतम्। समुद्रात्आग्निकाद्यजुः समुद्रादस्माद्यज्ञात् य, ऊर्मिः शब्द संघातोनामारव्यातोपसर्गनिपातरुप उपमोत् प्रेक्षारुप काव्यलंकाररूः मधुमान् रसवान् वाक्यार्थगुणैर्युक्त। उदारत् मुखादुदगात् स एव उपांशुना सवनेन क्रियमाणः सन्नमृतत्वमाप्नोत् तदेतद्यजुरुगार्थे श्वनिरुक्तमिति श्रुतेः। अतोऽग्निचिद्भिः स ऊर्मिः प्रकाशनीयः। घृतस्यगुह्यनाम यदस्ति तदपि देवानां जिह्वोत्थाननिमित्तं किं पुनरूर्मिः अथास्य घृतकीर्तिनाग्निःवैश्वानरो मुखादुज्जज्वालेतिश्रुतेः। अमृतस्य नाभिः नहनं यजमानानाममृतत्व प्रापकं घृतं यजनेनेत्यर्थः। अतोऽग्निचिद्भिः हुयते स्तूयते च घृतमिति।

भावार्थः—समुद्रसे रसवान् ऊर्मियोंने अपाम् उदारत यानी अन्नको प्राप्त किया। घृत शब्देन नीत अन्न अंशुना अर्थात् अग्निसे मिलकर अमृतत्वको प्राप्त किया। वही घृत यानी अन्न देवानाम् जिह्वा देवताओंके जिह्वोत्थान निमित्त है। अर्थात् जो अन्नको खाता है वही दीर्घायुः होता है।

शुक्ल यजुर्वेद सं० २।३४ मं०

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीललं परिस्रुतम्।
स्वधास्थ तर्पयत मे पितृन् ॥३४॥

ऊर्जमित्यपो निषञ्चतीति। अब्देवत्या विराट्। हे आपः! यूयं स्वधास्थ पितृयहविः स्वरूपाः भवथः। अतो मे पितृन् तर्पयत कथम्भूता आपः। परिस्रुतं वहन्तीः पुष्पेभ्यो निःसृतं सारं वहन्त्यः। तत्सारं त्रिविधम् ऊर्ज शब्देन घृत शब्देन पयः शब्देन चाभिधेयम् तत्रोर्ज शब्दोऽन्नगतं स्वादुत्वमभिधत्ते। घृतपयसी प्रसिद्धे। तत्त्रिविधरसपिकीदृशममृतं सर्वरोग विनाशकं मृत्युनाशकं च। नास्तिमृतं यस्मातत् पुनः की दृशं कीलालम् कील बन्धने कीलतं कीलोबन्धः। तमलतिवारयत ति कीलालम्। अलं वारणपर्य्याप्त्यो रितिधातुः। सर्वबन्ध निवर्तकम् ईदृशस्य त्रिविधस्य सारस्य वहनादपांपितृ तर्पकत्व मुपपन्नम्।

भावार्थ—हे आपः! तुम स्वधारूप हो अतः मेरे पित्रोंको तृप्त करो। जल कैसे हैं—परिस्रुतम् वहन्तीः पुष्पोसे निकले हुए रसको धारण करने वाले हैं। यहां जल ऊर्ज शब्द घृत शब्द पयः शब्द तीनोंका वाचक है। वह तीन प्रकारका होता हुआ भी कैसा है—अमृतम् यानी मृत्युका नाश करनेवाला है तथा कीलालम् बन्धनों से मुक्त करनेवाला है।

इसी लिये वेद भगवान् हमारे आहारके विषयमें उपदेश करते हैं—

ब्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ
मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च। (अथर्ववेद ६)

मनुष्यका स्वाभाविक भोजन क्या है, इस सम्बन्धमें प्रभुका उपदेश है कि हे मनुष्यो, तुम ब्रीहि अर्थात् चावल, यव (एवं गेहूं, मकई आदि)। माष-(उड़द, मूंग, मसूर, चना आदि दाल) एवं तिल (तेलहन जिनमें मेवे आदि भी सम्मिलित हैं) अर्थात् अन्न और फल—येही खाया करो। रमणीयताके लिये अर्थात् यदि तुम सुखपूर्वक रहना चाहते हो तो तुम्हारा भाग यही है। हे मनुष्यो, पशु-पक्षी आदि, जो तुम्हारे रक्षक और मान्य कर्त्ता हैं अर्थात् जिनके भरोसे से तुम्हारा जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है उनके लिये तुम्हारे दांत कदापि घातक न हों। पशु-पक्षी आदि मनुष्यके रक्षक एवं पालक हैं, अतएव शतपथ ब्राह्मण मे पशुओं को भी प्रजापति कहा गया है। यहांपर उन्हीं को पिता-माता कहा गया है।

उनकी हिंसाकर अपना पेट पालना अथवा उनके आहारस्वरूप उनकी माताओं का दूध अपने लिये लेकर उनकी शक्ति का ह्रास करना ही माता पिताकी हिंसा करना कहा गया है, जो मनुष्य मात्रके लिये परमात्मा की आज्ञाके विरुद्ध होनेसे सर्वथा त्याज्य है। चींटीसे लेकर हाथी तक—कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी आदि सभी हमारे रक्षक हैं। जिस गन्दगी को सूर्य शोषण नहीं कर सकता, वायु सुखा नहीं सकती, उस गन्दगीको नष्ट करनेके लिये

प्रकृति देवीने नाना प्रकारके मच्छड़, कीट, पतङ्ग, चींटी, बिच्छू आदि बनाये हैं। पृथ्वीपर से मैल हटनेके पश्चात् जो बदबू रह जाती है, उसे नष्ट करनेके लिये खटकीड़े बने हैं। आगे इनका परस्पर भक्ष्य-भक्षकका सम्बन्ध बना हुआ है। मच्छड़ आदिको खाने के लिये छिपकली, मेढ़क आदि हैं। तथा छिपकली, मेढ़क आदि को बिल्ली आदि। ऐसे ही गीदड़, कूकर, सूकर, सिंह, व्याघ्र आदि। मैलको नष्ट करनेके लिये प्रकृति देवीने एकसे एकका सम्बन्ध जोड़ रखा है। सभी पक्षीगण ऊपरी दूषित वायुको खा लेते हैं, जो वायु हमारे लिये हानिप्रद है। जो वायु हमारे लिये हानिप्रद है वह उनका आहार है। यह प्रकृति नियम बना हुआ है। मगर, मछली आदि जलके मैलको एवं जलके मैल—कीटाणुओं को खाकर उसे स्वच्छ बनाते हैं। वह हमारे लिये हितकर हो जाता है। सुअर, कूकर आदि जमीनके मैलको साफ करते रहते हैं। बकरा, बकरी आदि पृथ्वीपर जो विषवाले आक धतूर आदि पदार्थ हैं, उनको खाते हैं और इनके घरमें रहने से राजयक्ष्मा के कीटाणुओंका प्रसार नहीं होने पाता। बैल खेती बारीमें हमारे सहायक हैं। उनके बिना खेती-बारीका काम नहीं चल सकता। ऊँट, घोड़े, हाथी आदि हमारी सवारी, सामान ढोना, एवं हमारे शहरों की रक्षा करनेमें सहायता पहुंचाते हैं। घोड़े हाथी आदि हमारे मांगलिक कामोंमें मदद देते हैं। सभी पशु-पक्षी एवं कीट पतङ्गादि हमारे रक्षक हैं। ऊपर बताये हुओं की रक्षा तथा पालन करना हमारा प्रधान कर्त्तव्य है, जिससे

सृष्टिका नियम सुचारु रूपसे चलता रहे। अभी हमलोग अज्ञान-वश रक्षकके भक्षक बनकर पतनकी ओर जा रहे हैं। एक तो मांसादिसे मानव शरीरकी पुष्टि होगी, यह धारणा ही निर्मूल है। मांस तो बिलकुल ही निःसार पदार्थ एवं मैल है।

मैलको नष्ट करनेके लिये प्रकृतिने मांसाहारी पशु पक्षी और जलचर बनाये हैं। इनमें परस्पर भक्ष्य-भक्षकका सम्बन्ध बनाकर सृष्टिको सुचारु रूपसे चलानेके लिये विधान बनाया है। मनुष्यके लिये,प्रकृतिने नाना प्रकार के कन्द, मूल, फल, अन्न और तेलहन उत्पन्न किये हैं, जिसका उपदेश वेद भगवान् उक्त मन्त्र द्वारा हमें करते हैं। पशु-पक्षिओंके मांस एवं उनके शक्तिस्वरूप दूध, घीसे मनुष्यको कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। कहा जाता है—जैसा अन्न वैसा मन। उक्त वस्तुओंके उपयोगसे हममें पशुत्व, पाशवी शक्ति एवं पशु-बुद्धि आयेगी, जो अन्तमें हमें मानवतासे भी च्युत कर देगी। आधुनिक विज्ञान तो वनस्पतियों को ही शक्तिका आधार बतला रहा है। एक क्षणके लिये यदि मान भी ल कि दूसरेके मांससे अपनी पुष्टि हो सकती है तो भी क्या यह कर्त्तव्य हो सकता है? केवल अपनी पुष्टि का ही लक्ष्य रखा जाय तो कुकर्म द्वारा परद्रव्य हरणसे भी शरीर की पुष्टि होनेके कारण उसके करने की भी शिक्षा प्रचलित हो सकती है जिससे कोई भी धर्मकी मर्यादा नहीं बन सकेगी। अतएव दूसरेको मारकर या कमजोर बनाकर अपनेको

पालनेका अभिप्राय मनमें कदापि न लाना चाहिये। रक्षक की रक्षा करनेसे ही हमारा कल्याण होगा।

मनुष्य का मांस भक्षण क्या है? हंस की चाल छोड़ कर काक की गति अपनाना है। मनुष्य ने व्याघ्र-सिंह का बल और उनका भोजन मांस देखकर सोचा—मांस से ताकत बढ़ती है; इसलिये वह मांस खाने लगा। यह तो हमारा अज्ञान है। निरामिष आहार से जीवन यापन करके हमारे पूर्वज १०-१० हजार हाथियों का बल रखते थे। उनका अस्त्र बन्दूक नहीं था बड़े-बड़े गाछ और शिला चट्टान थे। अपने बलसे वे अपने अरियों को चूर्ण विचूर्ण कर देते थे। बल के चलते वे अपने बाण को कई योजन तक फेंकते थे। भगवान् श्री रामने बक्सर (बिहार) से बाण पर चढ़ाकर मारीचको लंकामें फेंक दिया था। यह सब निरामिष आहारका परिणाम था।

भोजन क्यों करते हैं?

इसलिये कि दैनिक क्रियाओंके करनेसे शक्तिका जितना ह्रास होता है उतना पुनः संचित कर लिया जाय। अतः श्रमशील जीवन एवं मननशील जीवनवालोंके भोजनकी मात्रामें अन्तर है। जहां शारीरिक परिश्रम कम हो वहां अधिक भोजन अहितकर है। महाभारतमें लिखा है—'आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति" अर्थात् ब्राह्मण—मननशील जीवनवालों को आलसी स्व-

भाव एवं अन्न दोष मार डालता है। इसलिये कल्याण चाहने-वालोंको भोजन की मात्रा पर विचार करना चाहिये।

अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्या द्विगुणोऽरण्यचारिणः।
द्वात्रिंशत् तु गृहस्थस्य यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम् ॥

एक जगह बैठकर कार्यों की व्यवस्था करनेवाले, भजन करने-वाले या विचार करनेवाले अर्थात् धारा सभाके व्यवस्थापकों को आठ ग्रास अन्न खाना चाहिये। तपस्वी, जज और वैधानिक कार्य्य करनेवाले मुनियों की श्रेणीमें हैं।

अरण्यचारी, वाणप्रस्थ या जिन्हें बाहर घूमना-फिरना पड़ता है उनका भोजन १६ ग्रास है। गृहस्थ किंवा संसारका भोग करनेवालों को ३२ ग्रास खाना चाहिये। ब्रह्मचारियों अर्थात् परिश्रम करने-वालों को यथेष्ट भोजन करना चाहिये।

भोजनकी वस्तुओंका यथास्थान उल्लेख विशद रूपसे महात्मा गांधीके आदर्शपर, जो शास्त्र सम्मत है, किया गया है। महात्मा गांधी सादा, प्राकृतिक एव पौष्टिक अन्न, ताजे फल, कन्द, मूलके भोजनकी सलाह हमें देते थे एवं वे स्वयं उन्हीं वस्तुओंका व्यव-हार करते थे। सत्य अहिंसा उनके जीवनके अङ्ग थे। आज हम उनके पथ पर चलने का दम भरते हैं। हमारी सरकार उनके पंथपर चलनेको हमसे बराबर कहती है। पर हमारी दशा क्या है ? हमने अपने आहारको कृत्रिम एवं अप्राकृतिक बना लिया है। आर्य सभ्यतामें चींटीसे लेकर ब्रह्मा तकका अपना स्थान था।

एक दूसरे का सहकारी था, स्वामी नहीं। आर्य भूमिमें जबसे हमने पुरुषः प्रधानं, तस्योपकरणमन्यत् सर्वम् बनालिया! स्वार्थ वश पशुओंकी स्वच्छन्दता हमने छीन ली। उनका दूध उनके बच्चोंको न देकर हम अपने उपयोगमें लेने लगे। पशु पक्षियों को मारकर खाने लगे। मछलियों का, जो जल साफकर उसे अमृत तुल्य बनाती है, शिकार करने लगे। आज स्वतन्त्र भारतमें भी मछलियोंका व्यापार बढ़ाने की चर्चा सुन रहे हैं। यह तो अनार्यों का ही पथानुगमन है। सत्य अहिंसाके प्रकाशमें छल-कपट, भ्रष्टाचार, पशुहिंसाके लिये स्थान नहीं होना चाहिये। हम सृष्टिके तमाम पदार्थोंका उलटा उपयोग कर रहे हैं। जिन पञ्च तत्वोंसे हमारा जीवन आनन्द पूर्वक चलता था उनका हम सृष्टि संहारमें उपयोग कर रहे हैं। जिस विज्ञानका आविष्कार मनीषियोंने सृष्टिको सुखद बनानेके लिये किया था वेही आज प्राणिसंहारक बन रहे हैं! वस्तुतः संसारमें तो प्राणियों का प्रश्न ही नहीं है। प्रश्न तो केवल पुरुषों का है। पुरुष इतना स्वार्थी बन गया है कि वह सिर्फ अपने को देखता है अपने निकटस्थ वातावरण का भी ख्याल नहीं करता। बारम्बार युद्ध छिड़ते हैं। लाखों मनुष्यों का हनन होता है। इस समय सभ्यता संस्कृति सभी राक्षसी हो रही है।

स्वतन्त्र भारतको हमें अब पहले जैसा पवित्र बनाना है। अब हमें ज्ञानपूर्वक हिंसा एवं असत्यको नष्ट कर उनकी जगह अहिंसा एवं सत्यको प्रतिष्ठित करना है। अब राष्ट्रका कर्त्तव्य

हो जाता है कि कानूनके जरिये अप्राकृतिक आहार, जैसे—आमिष, दूध, घी, मावा, छेना आदिको बन्द करें, जिससे मानव, जो अकाल मृत्युके गालमें ढकेला जा रहा है, कल्याण तो होगा ही साथ ही पशु-हिंसासे भी वञ्चित होगा। इससे पशु-पक्षी तथा मानव—दोनोंका कल्याण सिद्ध होगा। हिंसा को नष्ट कर अपने रक्षकों—चींटीसे हाथी तक—की रक्षा करने से हमारा भारतवष पवित्र होगा और हमारी रक्षा होगी। पवित्र भारतमें हम महान् होंगे एवं आगे की पीढ़ियोंमे महान् आत्माएं अवतरित होंगी।

अहिंसा की प्रतिष्ठाके लिये भीष्मपितामहने अपने भाइयोंको जलकर मर जाने तकका आदेश दिया था। चित्राङ्ग एवं विचित्र-वीर्यने व्यासजीके प्रति मानस हिंसा की थी। अहिंसाकी प्रतिष्ठाके प्रसंगमें पितामहने अपने वंश की स्थिति तक का विचार नहीं किया। यह हमारे प्राचीन भारतका महत्व था। आज उससे हम बहुत दूर हो गये हैं। कहीं मानवोंका शोषण होता है, कहीं पशुओं पर आरे चलाये जाते हैं, कहीं मछलियों एवं पक्षियोंको फँसानेके लिये जाल फैलाये जा रहे हैं! सब जगह छल कपटका साम्राज्य है। असत्य एवं हिंसाके प्रसारसे भारतभूमि अपवित्र हो गयी है। हमारी आत्माएं संकुचित हो गयीं और होती जा रही हैं। इससे हमें बचना है। इसलिये आज भारतके मनीषियों, ब्राह्मणों, साधुओं, संन्यासियों, सद्गृहस्थों उदार चेताओं, नेताओं, एवं सभी महानुभावोंसे निवेदन है कि

अपने-अपने प्रयत्नसे असत्य एवं हिंसा को हटाकर भारतको पवित्र बनावें, हमारी आत्माके संकोचको दूरकर उसे महान् बनाव हमारा स्तर ऊंचा उठावें और रामराज्य की स्थापना करें, जिसे महात्मा गांधी चाहते थे।

तत्त्व

मनुष्य का शरीर पाँच तत्त्वों से बना हुआ है यथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। सारे पदार्थ आकाश में स्थित हैं। पृथ्वी सब को धारण कर रही है, जल प्राणियों का प्राण है, तेज आत्मा है और वायु संचालन करनेवाला है।

संसार में जितने पदार्थ हम देखते हैं सभी तत्त्व से बने हुए हैं। तत्त्वों के बिना संसार का काम एक क्षण भी नहीं चल सकता।

मनुष्य जितना ही प्रकृति के नजदीक रहेगा उतना ही उसका प्राण गहरा रहेगा और जितनी कृत्रिमता में लिप्त रहेगा उतना ही उसका प्राण छिछला होगा। जैसे सतयुग में सभी चीजें प्राकृतिक व्यवहार में आती थीं, तब ही उस समय अस्थिगत प्राण थे लेकिन आजकल कृत्रिमता के कारण कलियुग में प्राण अन्नगत हो गये हैं। कलियुग के पहले जब तत्त्वों का ज्ञान, उनका सेवन और पूजन होता था तो मानव शरीर वज्र के समान शक्तिशाली था। उसमें पर्वत तक उठाने की शक्ति थी। लेकिन कलियुग के आगमन के साथ ज्यों-ज्यों कृत्रिमता बढ़ती गई, तत्त्वों का ज्ञान, सेवन, पूजन कम होता गया वैसे ही हमलोगों की शक्ति का ह्रास होता गया। पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों से हमलोग घोर कृत्रिमता में लिप्त हो गये हैं। इसी सौ-डेढ़ सौ वर्षों मे हमारी शक्ति का भी जोरों से ह्रास हुआ एवं हो रहा है। जितना तत्त्वों का सेवन

होगा उतनी ही हमारी शक्ति बढ़ेगी। जितने ही कृत्रिमता में लिप्त होंगे उतने ही हम कमजोर होंगे।

वायु सबका सञ्चालन करनेवाला है। श्वास के लिये वायु की बड़ी आवश्यकता है। शरीर में जितने ही रोम छिद्र हैं वे शरीर के द्वार हैं। उनको जितनी मात्रा में शुद्ध वायु प्राप्त होगा उतना ही शरीर स्वस्थ और सबल होगा। पाचन शक्ति दीप्त होगी। इसलिये मनुष्य को वस्त्र उतना ही पहनना चाहिये जितने से रोम छिद्रों को पर्याप्त वायु मिलने में बाधा न हो। वस्त्र शृङ्गार या सजावट के लिये नहीं है। यह शरीर ढकने के लिये ही है। हम चुस्त कपड़े न पहनें। थोड़े और ढीले कपड़े ही पहनने चाहिये।

आजकल का विज्ञान भी सब तत्त्वों की शक्ति पर काम कर रहा है। बिजली के द्वारा जो इतने चमत्कारपूर्ण कार्य हो रहे हैं उस बिजली में अग्नि तत्त्व की ही तो शक्ति है। अग्नि के साथ जल का संयोग होने से स्टीम बनती है इस स्टीम के बल पर रेल, जहाज, कल-कारखाने इत्यादि चल रहे हैं। मशीन के कम्प्रेसर में पवनदेव की लीला दृष्टिगोचर होती है। आकाश तत्त्व के बल पर देशदेशान्तर के समाचार रेडियो द्वारा क्षणभर में जाने जाते हैं।

जब ये सारे तत्त्व इतने शक्तिशाली हैं तो इनका उचित रीति से सेवन कर हम स्वयं ही शक्तिशाली क्यों न बनें? इस कृत्रिमता में फँसकर मशीन आदि द्वारा उन तत्त्वों से लाभ उठाने का

अनिष्टकर प्रयत्न क्यों करें ? क्यों नहीं हम तत्त्वों से अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ें ? हमारी बनाई मशीनें जब तत्त्वों के सहारे आश्चर्यजनक कार्य कर सकती हैं तो परमपिता परमात्मा की रची हमारी यह शरीररूपी अद्भुत मशीन तत्त्वों की उपासना से क्या नहीं कर सकती ?

हमारे पूर्वजों ने इन तत्त्वों के सेवन से जो दिव्य शक्ति प्राप्त की थी उसे सुनकर हम अपनी वर्तमान कमजोरी के कारण उस पर विश्वास भी नहीं करते। परन्तु हमारे पूर्वजों के पराक्रम की कथाएँ अक्षरशः सत्य हैं। हमें आज तोप, बन्दूक और गोलों पर बड़ा अभिमान है। हम समझते हैं—इनके बल पर हम विश्व विजय कर लेंगे। परन्तु याद रखना चाहिये कि तोप गोलों पर निर्भर रहनेवाले मनुष्य वास्तव में भीरु और कमजोर होते हैं। जब तक उनके हाथ में बन्दूक है और उसे चलाने का अवसर उन्हें प्राप्त है तब तक उनकी बहादुरी है। बन्दूक हाथ से छिन जाते ही वे शत्रु के प्रहार से अपनेको बचाने में अक्षम हो जाते हैं। हमारे पूर्वज—महावीर, भीम आदि को तोप गोलों के बिना ही सारी शक्ति प्राप्त थी जो समय-कुसमय उन्हें शत्रु से बचा सकती थी। वृक्ष उखाड़ कर, पहाड़ के चट्टान तोड़कर वे शत्रुओं का संहार करने और आर्तजनों की रक्षा करने में समर्थ थे। मुष्टिका प्रहार मात्र से आततायियों का कचूमर निकाल सकते थे।

योगदर्शन में लिखा है कि उदान वायु को अपने अनुकूल कर लेने से हमारी अव्याहत गति हो जाती है। हम जहाँ भी इच्छा कर, जा सकते हैं, जहाँ चाहें चल सकते हैं।

'उदानजयाज्जलपङ्ककंटकादिष्वसँग उत्क्रान्तिश्च'

उदान के जय से हम चाहें जल, पङ्क और कांटों पर चल सकते हैं। उनपर चलते हुए हमारे पांवों में जल, पङ्क और कांटों का स्पर्श तक नहीं हो सकता। हम जल पर चलें पांव नहीं भीगेंगे, कांटों पर चलें पांवों में कांटे नहीं गड़ेंगे। हम चाहें, बिना हवाई जहाज के आकास में स्वच्छन्द विचरण कर सकते हैं।

आज हम कृत्रिम रेडियो यन्त्र पर गर्व करते हैं। हम समझते हैं आकाश पर हमारी विजय हो गई। परन्तु हृदय के आकाश को निर्मल बनाकर योगी जन अपनी अन्तरात्मा में ही आँख, कान आदि बाहरी इन्द्रियों को बन्दकर भूत, भविष्य, वर्तमान के सारे दृश्य देखा करते थे। उनके हृदय में ही आकाश-वाणी हुआ करती थी।

राम रावण का युद्ध क्या है? वास्तव में यह प्राकृतिक तत्त्वों और कृत्रिमता का युद्ध है। रावण कृत्रिमता का अवतार था। उसके पास हवाई जहाज और बिजली के यन्त्र आदि थे। राम प्राकृतिक तेज के अवतार थे। उनके पास न तो थे विमान और न थीं मशीनें। सीता माता पृथ्वी माता थीं। कहा भी जाता है—वह पृथ्वी से निकलीं पृथ्वी में ही समा गईं। राम से रावण की पराजय कृत्रिमता का प्राकृतिकता से पराजय का द्योतक है।

ज्यों-ज्यों कृत्रिमता का बढ़ाव हो रहा है त्यों-त्यों तत्त्वों की शक्ति घट रही है। इनकी शक्ति घटने के साथ-साथ प्राणिमात्र की एवं खाद्य पदार्थों की शक्ति भी घट रही है।

आज कृत्रिम साधनों से जो अन्न पैदा किया जा रहा है उसी का बुरा परिणाम प्रत्यक्ष देखने में आ रहा है। अब अन्न में उतनी ताकत नहीं रह गई है जितनी आज से सौ वर्ष पहले थी। वही हालत कृत्रिमता से तैयार किये हुए जल की है। हमारे शरीर को स्वस्थ और सबल बनाये रखने की जो शक्ति प्राकृतिक झरनों एवं (हमारी कृत्रिम गन्दगी से अदूषित) नदियों के जल में है वह शक्ति शहरों की नलों से आनेवाले जल में नहीं है। कल-कारखानों के कारण नगरों का वायु इतना जहरीला हो रहा है कि नगरनिवासियों की आयु और शक्ति का दिन-प्रतिदिन ह्रास हो रहा है।

कृत्रिमता के कारण आज रात को भी दिन बनाया जा रहा है। उसमें अग्नितत्त्व का बिजली आदि के रूप में अति अधिक मात्रा में उपयोग होता है। इससे अग्नितत्त्व का ह्रास हो रहा है। जैसे बैटरी में जितना चार्ज दिया जाता है उसका उचित मात्रामें उपयोग करने से वह अधिक समय तक काम करती रहेगी, परन्तु यदि उसका अधिक मात्रा में व्यय किया जायगा तो वह शीघ्र ही समाप्त हो जायगी। वैज्ञानिक कहते हैं कि सूर्य का ताप घट रहा है। इसका कारण अग्नितत्त्व का कृत्रिमता के द्वारा अधिक उप-

योग ही हो सकता है। यदि यही क्रम जारी रहा तो इसका परिणाम भविष्य में हमारे लिये हितकर नहीं होगा।

तत्त्वों का अपव्यय करके जो नाना प्रकार के आविष्कार किये जाते हैं उनसे हमारी तृष्णा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और उससे अशान्ति की भी वृद्धि हो रही है। इन आविष्कारों के कारण हमारी शरीररूपी मशीन पुरुषार्थ करने से भी वञ्चित की जा रही है। इससे हमारी शक्ति का ह्रास हो रहा है।

प्राचीन ऋषि-मुनियों को भविष्य का ज्ञान था और इस कृत्रिमता के बुरे परिणाम को जानते हुए ही उन्होंने इसको नहीं अपनाया था। कृत्रिमता के बढ़ाव एवं तत्त्वों की शक्ति के ह्रास पर मेधावी पुरुषों को ध्यान देकर कृत्रिमता के बढ़ाव को रोकने एवं बढ़ी हुई कृत्रिमता को जड़ से नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये। तभी हमारा कल्याण होगा।

अतएव हमें सर्दी, गर्मी, हवा, वर्षा को सहन करने का अभ्यास रखना चाहिये। हमें तेज, वायु जल आदि के सेवन से जो शक्ति प्राप्त हो सकती है उसे शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। हमें तत्त्वों का सर्वदा भोजन, भजन व सेवन करना चाहिये।

"तत्त्वमसि"

इस ब्रह्माण्ड की रचना तत्त्वों द्वारा ही हुई है। तत्त्व ही महान् अच्छेद्य, अनन्त व अविनाशी है। जिनके लक्षणोंका वर्णन शास्त्रकारोंने इस प्रकार किया है।

ईश्वर को जव सृष्टि रचने की इच्छा हुई तो पहिले महतत्व की उत्पत्ति की तथा महतत्व से त्रिविध अहङ्कार उत्पन्न हुआ। अहङ्कार से आकाश की उत्पत्ति हुई।

आकाश का गुण श्रीमद्भागवतानुसार :—

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टुर्लिंगत्व मेवच।
तन्मात्रत्वंच नभसो लक्षणं कवयो विदुः॥
भूतानां छिद्रदातृत्वं वहिरंतर मेवच।
प्राणेन्द्रियात्म धिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम्॥

अर्थात् आकाश शब्द गुणवाला तथा प्राणियों को बाहर एवं भीतर अवकाश देनेवाला प्राणेन्द्रियों को स्थिर रखनेवाला है।

वायुके लक्षण यथा :—

चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः।
सर्वेन्द्रियाणां आत्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम्॥

अर्थात वृक्ष-शाखादिकों का चालन, तृणादिकों का संयोग, गन्धादिकों का संयोग, सम्पूर्ण इन्द्रियों का बल ये वायुके लक्षण हैं।

जलके लक्षण यथा :—

क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणानाप्यायनोन्दनम् ।
तापापनोदो भूयस्त्वं अम्भसो वृत्तियस्त्विमा ॥

अर्थात् आर्द्र करना, मिट्टी आदिका पिण्ड बनाना, तृप्ति करनेवाला, प्राणदाता, प्यास आदि की निवृत्ति, कोमल बनाना इत्यादि जलके लक्षण हैं। (तेज-स्वरूप)

अग्निके लक्षण :—

द्योतनं पचनं पानमदनं हिम मदनम् ।
तेजसो वृत्तयस्त्वेता शोषणं क्षुतृडेवच ॥

अर्थात् प्रकाश देना, अन्नादिकों का पकाना, जलका पीना अन्न का खाना, हिमका पिघलना, शोषण करना, भूख तथा प्यासका जागृत होना आदि अग्निके लक्षण हैं। (तेज स्वरूप)

पृथ्वीके लक्षण यथा :—

भावनं ब्रह्मणस्थानं धारणं सद्विशेषणम् ।
सर्वसत्व गुणोद्भेद पृथ्वी वृत्ति लक्षणम् ॥

अर्थात् ब्रह्मकी प्रतिमादि रूपसे साकारता बनाना जलादिकी स्थिति तथा धारणा आदि सम्पूर्ण प्राणियोंके गुणोंको प्रगट करना, गन्धका धारण करना इत्यादि पृथ्वी के लक्षण हैं। (तेज स्वरूप)

हमारे महामहिम महर्षियोंने इन पांचों तत्त्वोंका गुण इस प्रकार वर्णन किया है। जबतक ये पांचों अलग २ रहते हैं तब तक अचेतन हैं तथा एकीभूत होनेपर चेतन होकर सृष्टि की

रचना करते हैं यथा—हिमालय पर्वत। हिम (बर्फ) जलतत्व है। जब तक पाँचों तत्वोंका समिश्रण नहीं होता अचेतन (जड़) है। अकेला तत्व कोई भी कार्य्य करने में सक्षम नहीं है। अब आप तत्वोंके समिश्रण का प्रत्यक्ष फल देखिये। हिम (बर्फ) जड़ है। परन्तु सूर्य्य (तेज) की किरण हिमपर पड़ते ही हिम पिघली तथा वायु द्वारा गतिमान् होकर पृथ्वीपर आई। और नदी-नाले-कूप रूप होकर प्राणिमात्रको जीवन (प्राण) दे दिया। अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी शस्यादि से हरी-भरी हो गई। तात्पर्य्य यह हुआ कि जबतक जलतत्व अकेला था, सृष्टिकार्य्य में असमर्थ था। पांचोंका गठन हुआ तब सृष्टि कार्य्यमें सक्षम हुआ इससे निर्विवाद सिद्ध हुआ कि चेतन यही है तथा अचेतन (जड़) भी यही है।

इन्हीं महान् तत्वोंके स्मरण तथा सेवन से हमारे पूर्वज ऋषि महर्षि बलिष्ठ एवं दीर्घायु तथा त्रिकालज्ञ होते थे। आज हमारी अवनति व अल्पायुका भी यही कारण है कि हम तत्वोंकी महानता को अज्ञानतावश भूल गये हैं। हमारी अज्ञानता तो इस अवनतिका मूल कारण रही ही है पर देशकी पराधीनता अर्थात् विदेशियों का इस पुण्यभूमि आर्य्यावर्त पर आधिपत्य भी प्रमुख कारणोंमें से एक है। जो हो यह हमारा दुर्भाग्य रहा कि हम अपनी निजी चीज को भूल गये और पाश्चात्य देशों के चकाचौंधमें आकर महर्षियोंके बतलाये हुए सत्मार्ग से विमुख हो गये हैं। जहाँ इतर धर्मावलम्बी या अन्य देशीय लोगोंने विज्ञानादि (कृत्रिम)

विषयों में गवेषणा की, पर हमारे तत्वज्ञोंने केवल ब्रह्मकी खोजमें लाखों वर्ष व्यतीत किये। पर हम उस वास्तविकताको छोड़ आधुनिक कृत्रिमता में फँस गये और धीरे २ उससे इतने विरत हो गये कि प्रायः इस चीजको छोड़-से बैठे। यहाँ तक कि तत्वोंके मनन, स्मरणके आदर्श तकको भी भूल गये हैं।

मानव शरीरको उन्नत बनानेके लिये इन तत्वोंका अवलम्बन अनिवार्य है। हम लोग जो अनादि कालसे भगवन्नाम स्मरण करते हैं वह भी तत्वोंसे ही सम्बन्धित है।

अब आप तत्वोंके नाम स्मरण की ओर ध्यान दीजिये तथा विवेकवती बुद्धिको इतनी गहराई तक ले जाइये कि जिससे आपको स्पष्टरूपेण भान होने लगेगा कि वास्तवमें हमारे पूर्वजोंने इन नामों में कितना आदर्श देखा है। भगवन्नाम स्मरणका वास्तविक-स्वरूप है तत्वोंका भजन, स्मरण तथा यहाँ तक कि आत्माका भोजन भी वही है। जिससे इस पाञ्चभौतिक शरीरको उन्नत एवं मुक्त होनेमें सहायता मिले।

आप इस रहस्यको पूरे मनोयोगसे समझना चाहें तो विदित होगा कि हमलोग जो रात-दिन ईश्वरके नामों का उच्चारण करते हैं उनमें कितना गूढ़-रहस्य छिपा हुआ है एवं वह नाम या स्मरण किसका है जैसे सीताराम, राधेश्याम आदि।

सीता—जगज्जननी है अर्थात् पृथ्वी स्वरूपा हैं। कारण पृथ्वी से ही सीताकी उत्पत्ति है तथा प्राणिमात्र का भरण-पोषण भी पृथ्वी से ही होता है। अतः सीता पृथ्वी-तत्व है।

पृथ्वी अनन्त और महान् है। वेदोंमें पृथ्वीका विस्तार "पञ्चाशतकोटि योजन विस्तीर्णेति: पृथ्वी" अर्थात् चार अरब मील में है। यह प्रमाण आपको निरुक्तनिघण्टु—प्रथम अध्याय: पृष्ठ १३ में मिलेगा।

आधुनिक कालके भूगोलों में पृथ्वीका व्यास आठ हजार मील तथा विस्तार चौबीस हजार मीलका बताया है। यह जो विस्तार है वह एक खण्ड का है जो हमें दृष्टिगोचर होता है। परन्तु पृथ्वी पर ऐसे कितने ही खण्ड तथा कितने ही समुद्र गरमजल व ठण्डेजलके एवं अग्नि व वर्फके पर्वत हैं। जहाँ न कोई पैदा होता है न पहुंच सकता है। कितनी जगह हमे गर्मजलके श्रोत देखनेको मिलते हैं जिनसे ज्ञान होता है कि पृथ्वी पर गरम जलके समुद्र भी हैं। ऐसा शास्त्रों से भी ज्ञान होता है कि समुद्र अनेक हैं तथा खण्ड भी।

राम—सूर्य्य (तेज) है। जिस प्रकार सूर्य्य अपने तेजसे अन्धकारका नाश करता हुआ संसारकी रचना कर प्राणियोंको जीवन (प्राण) देता है उसी प्रकार तेज स्वरूप राम भी तमाम प्राणिमात्र का कल्याण करते हैं। सूर्य्य और राममें कोई अन्तर नहीं है। उदाहरणार्थ—सूर्य्य अन्धकार को नाशकर सब चीजों को निर्मल बनाता है, शस्यादिकों का पाचन करता है, प्राणियोंको जीवन देता है, मान-मर्यादा पर दृढ़ रखता तथा आरोग्यता प्रदान करता है—उसी प्रकार अज्ञानांधकारमें पड़े हुए प्राणियोंको

आरोग्यादि प्रदानकर ज्ञान मार्गसे मर्य्यादामें स्थापित करना रामकी विशेषता है। अतः राम तेज तत्व हैं।

सीताराम—राम सूर्य्य—सीता पृथ्वी है। सूर्य्य और पृथ्वीका घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूर्य्यका प्रकाश होते ही पृथ्वीमें (गर्मी) व्याप्त हो जाती है। सूर्य्यकी किरण पहिले पृथ्वीपर पड़ती है और हममें गर्मी उसीसे प्राप्त होती है। ऐसे त्रिविधतापोप शमनार्थ अर्थात् विश्वकल्याणार्थ सूर्य्य और पृथ्वी तत्वसे सम्बन्धित सीताराम का स्मरण परम मङ्गल जनक है।

श्याम—श्याम और नारायण जलका नाम है। जैसे मनुस्मृति में लिखा है :—

आपोनारा इतिप्रोक्ता आपोवैनर सूनवः।
तायदस्यायनं पूवतेन नारायण स्मृतः॥

अर्थात् श्याम जल तत्व है तथा चन्द्रस्वरूप है। हमारे यहां वृन्दावनमें श्रावण मासमें जो उत्सव मनाया जाता है वह भी इस बातका द्योतक है कि श्रावण में पृथ्वी सस्यादिसे परिपूर्ण एवं हरी-भरी हो जाती है तथा सूर्य्य-पुत्री यमुना भी जलसे परिप्लावित रहती है। इससे सिद्ध हुआ कि जो उत्सव मनाया जाता है वह जल तत्व का ही है। श्यामके पर्य्याय वाची नाम :—नाथके नथैया, वंशीके बजैया, टेढ़े चलया, गिरवरके उठैया, काली-दहमें कूद पड़ा आदि उनका भी वास्तविक अथ जलतत्व ही है। जो कि आपको बद्रीनारायणजी के मार्गमें प्रत्यक्षभान होगा। अर्थात् इस मार्गमें भगवती गंगा कहीं भी सीधी नहीं है। सब

जगह टेढ़ी ही टेढ़ी हैं तथा रात-दिन बराबर वंशीकी आवाज या यों कहिए कि कलकल निनाद हो रहा है। जब घनघोर वृष्टि होती है तब सब नदी नाले कूदते-फांदते समुद्रमें जा गिरते हैं वहाँ उनको मर्य्यादा में बांध लिया जाता है। सब पृथ्वी पर्वतादि शेष भगवान् पर ही आश्रित हैं याने सब जलपर ही स्थित हैं।

गोविन्द, गोपाल भी श्याम भगवान् के ही नाम हैं। गोनाम पृथ्वी का है। पृथ्वीका पालन करने से ही श्यामका नाम गोपाल हुआ। गोविन्द भी संसार का पालनेवाला ही है।
यह सब श्याम का ही गुणगान है। श्याम की ही लीला है तथा श्याम की ही माया है।

यथा– "अपएव ससर्जादो" भगवान् ने शुरूमें जलकी रचना की। जलसे ही सृष्टिकी रचना है। जल ही सर्वव्यापक तथा सर्वत्र चलायमान है। पत्तोंमे, पेड़से, पौधोंमें, जलचरोंमें, पशु-पक्षियोंमें, मनुष्योंमें, सम्पूर्ण प्राणियोंमे, पृथ्वीमें, समुद्रोंमें, एवं वायुमें सब जगह नियमानुसार जलकी ही गति है। ज्वार-भाटा जो आता है वह निश्चित समयानुसार आता है अर्थात् जल ही चलायमान है।

शुक्ल यजुर्वेद २७।२५

आपो ह यद्बृहतीर्विश्वमायन् गर्भंदधानाजनयन्ती रग्निम्।
ततो देवानाᳪसमवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषाविधेम ॥

हे प्रजापति देवत्ये त्रिष्टुभौ हिरण्यहष्टे प्रथमा द्व्यधिका। आपो ह इदमग्रे सलिलं मेवासेति [११, १, ६, १] इति ब्राह्मण मेतयोः

कण्डिकयोर्निदान भूतं वोध्यम्। इ प्रसिद्धौ यत्र यदा पुरा आपो जलानि विश्वमायन् प्राप्तः। को इस्य आपः बृहतीः बृहत्यो महत्य. वहुलाः। तथा गर्भं हिरण्य गर्भ लक्षणं दधानाः धारयन्त्यः अत-एवाग्नि जनयन्त्यः उत्पादयिष्यन्त्यः। ततो देवानामसुः प्राणरूप। आत्मा लिङ्ग शरीररूपा हिरण्यगर्भः समवर्तत। कस्मै प्रजापति देवाय हविर्देयः।

भावार्थ—पहिले संसारमें महान् रूपसे जल पैदा हुआ जल ऐसा है कि हिरण्य-गर्भ लक्षण अग्निका उत्पन्न करनेवाला है। अग्नि ही देवताओंके प्राण हैं। क्योंकि इसी अग्नि देवको हम हवि प्रदान करते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद ४।२

आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नोघृतप्वः पुनन्तु।
विश्वर्ठंहिरिप्रं प्रवहन्ति देवीः। उदिदाभ्य शुचिरापूत एमि।
दीक्षा तपसोस्तनूरसि तां त्वा शिवार्थ शग्मांपरिदधे
भद्रं वर्णं पुष्यन् ॥२॥

आपो अस्मानित्यस्यात्येति। मातरः जगन्निर्मात्र्यो मातृव-त्पालयित्र्योऽस्मान् छृतक्षीरान् शुन्धयन्तु शुन्धशुद्धौ शोधयन्तु किञ्च घृतप्व. घृक्षरणे जिघर्ति क्षरतिघृतंतेन क्षरित जलेननोऽस्मान् पुनन्तु शुद्धान् कुर्वन्तु। किञ्च। देवीः द्योतमाना आपो विश्वं हिं। सर्वमेवरिप्रं पापंप्रवहन्ति प्रकर्षेणा नयन्तु। अहमाभ्योऽद्भ्यः उद्गच्छामि निर्गच्छामि। किम्भूतोऽहम शुचिः शुद्धः स्नानेन।

तथा आपूतः समन्ताद्भावेनान्त रपि शुद्ध आचमनेन शुचिरापूत इति शब्दाभ्यां स्नानाचमनाभ्यां बहिरन्तश्च शुद्धिरुक्ता।

का [७, २ ; १६-१६] क्षौमंवस्तेनिष्पेष्टवैन्न् यादहतं विचित-केशं प्रसारितदशं दीक्षातपसोरिति। वासोदेवता। हे क्षौमवस्त्र। त्वं दीक्षातपसो स्तनूरसि। दीक्षा दीक्षणीयेष्टि। तप उपसंदिष्टिः दीक्षाभिमानि देवताया स्तपोभिमानि देवतायाश्चत्वं शरीरवत् प्रियमसि। तद्देवताद्वय शरीर भूतां त्वामहं परिदधे धारयामि किम्भूतांत्वां शिवांशग्मा मत्यन्तसुखरूपा कोमलत्वात्। किम्भू-तोऽहम। भद्रं वर्णंपुष्यन् कल्याणीं कान्तिं पुष्यन्।

भावार्थ—जल मातृ-पितृ स्वरूप है कारण जगन्नियन्ता है। जल से ही मानवके शरीरकी स्नानसे तथा अन्तरात्मा को आच-मनसे शुद्धि है। वही जल हमें पवित्र करे। विश्वकी कान्ति भी जल से ही है। सम्पूर्ण पाप भी जल से ही नष्ट होते है। हे क्षौमवस्त्र! मैं कल्याण कारिणी कान्तिको प्राप्त करता हुआ तेरेको धारण करता हू। कारण कि तुम दीक्षा और तप दोनों का शरीर है।

राधे—जल की धारा को विलोम याने उलटकर पढ़नेसे राधा शब्द बनता है। वास्तवमें राधा याने धारा है। धारा अनेक है। इससे राधे! यह सम्बोधन हुआ। जलकी गति वायुसे है तथा वायुका शीतल स्वभाव है। अतः राधा वायु तत्व है।

राधे श्याम—राधे=वायु। श्याम=जल। जलका और वायुका अभिन्न सम्बन्ध है। वायुसे जल अलग नहीं है और जलसे वायु भिन्न नहीं है अर्थात् जलका धारासे नित्य-सम्बन्ध है। राधे श्याम का जो सम्बन्ध ऋषियोंने वर्णन किया है वह राधे और श्याम के नित्य सम्बन्ध का गुणगान है।

समुद्रमें जो भँवर उठते हैं वे वायु द्वारा ही उठते हैं। अर्थात् जलकी गति वायु द्वारा ही है। स्पष्ट रूपसे समझने के लिये प्रत्यक्ष देखिये। जब वर्षा आती है तब पहिले वायु आती है फिर जल आता है। वर्षा से पहिले ही वायुमें ठण्ढक हो जाती है। जिससे यह ज्ञान होता है कि वायु और जलका सम्बन्ध है। वायु तथा जलका एक ही स्वभाव है। वायु शीतल है और जल भी।

जय—जय इति जया। जया नाम दुर्गाका है। दुर्गा तत्वों की जननी है। जैसे—"त्वंहि दुर्गादश प्रहरण धारिणीम्" अर्थात् दश भुजावाली दुर्गा यानी दश दिशाओंका आकाश। आकाशके आधार से ही सब तत्व सृष्टिकी रचना करते हैं। आकाश सबसे महान् तत्व है। कारण आकाशमें ही सबका सन्निवेश है। भिन्न २ भी सब तत्वोंके साथ आकाश है अर्थात् सर्व व्यापकत्व आकाश में ही हैं। जैसे—जय सीता, जय राम, जय सीताराम, जय राधे, जय श्याम, जय राधेश्याम. जय सीताराम, राधेश्याम। यह जो गुणानुवाद हमारे त्रिकालज्ञ महर्षियोंने किया है वह विश्वकल्याणार्थ ही किया

गया है। अतः मानवमात्र का यह धर्म हो जाता है कि भगवन्नाम स्मरण इन तत्वोंकी भावनाओं से ही किया करें जिससे राष्ट्र उन्नत एवं सबल बनकर, सबका कल्याण हो।

उपरोक्त निवेदन से आपको विदित हुआ होगा कि नित्य जिन नामोंका हम स्मरण करते हैं वह वास्तवमें तत्वोंका ही है। विशेष सुगमता से समझने के लिये कतिपय नित्यके हमारे व्यवहार में आनेवाले भगवन्नामोंका असली रहस्य भी इन तत्वोंसे ही सम्बन्धित है। जैसे—दशरथ के चारों भैय्या! दो श्यामवर्ण दो गौरवर्ण अर्थात् राम=सूर्य्य (तेज) भरत=पृथ्वी तत्व। लक्ष्मण=जल तत्व। शत्रुघ्न=वायु तत्व। रामके विषयमें तो विशद रूपसे लिख ही चुके हैं। अब भरत=भरण-पोषण करनेवाले का नाम है। अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिमात्र का भरण-पोषण पृथ्वी से ही होता है। निष्कर्ष यह हुआ कि भरत पृथ्वी तत्व हैं। भरतका और रामका श्याम वर्ण है।

दो गौरवर्ण—लक्ष्मण और शत्रुघ्न। लक्ष्मण शेषावतार है शेष भगवान पर ही सम्पूर्ण भूमण्डल स्थित है। अर्थात् जल से ही सम्पूर्ण विश्वकी स्थिति है। इससे स्पष्ट हुआ कि लक्ष्मण जल तत्व है तथा गौरवर्ण है! शत्रुघ्न=शत्रुओंके नाश करनेवाले का नाम शत्रुघ्न है। शत्रु क्या है? इस शरीर का शत्रु गन्दगी (मैल, विकार, विकृति,) ही है। मानसिक कायिक और वाचिक त्रिविध विकार जन्य दोषोंका शमन वायु द्वारा होता है। शत्रुघ्न वायु तत्व

है। गौरवर्ण है। जलका और वायुका घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों ही गौरवर्ण हैं।

जहाँ सूर्य्यकी किरणें सीधी पृथ्वीपर (विषुवत रेखा पर) पड़ती हैं वहाँ गर्मी अधिक पड़ती है और वहांके निवासी श्याम रङ्गके ही होते हैं। जैसे—अफ्रिका आदि के निवासी।

जहां शीतका प्राबल्य होता है अर्थात् जहां जलका विशेष सम्पर्क है, वहां के निवासी गौरवर्ण होते हैं। जैसे—यूरोप आदि शीत प्रधान देशोंमें। अपने यहाँ भारतवर्षमें शीत भी अधिक नहीं है और गर्मी भी अधिक नहीं है। अतः यहां के निवासी गेहूं-वर्ण होते हैं। यह सब तत्वोंकी ही माया है।

दशरथ अर्थात् दश दिशावाला आकाश। आकाश महान् है, उसीसे सब तत्वोंकी उत्पत्ति है तथा उसीमें सबका सन्निवेश है।

श्रीराम लक्ष्मण जानकी, जय बोलो हनुमानकी। राम लक्ष्मण जानकी इनकी व्याख्या तो विशद रूपसे ऊपर कर चुके हैं। श्री का अर्थ है 'दुर्गा' अर्थात् आकाश तत्व।

हनुमान=वायुपुत्र। अर्थात् यह वायु तत्व है। हनुमान का काम है शत्रुओं (राक्षसों) का नाश करना। शत्रुकी व्याख्या ऊपर बता ही चुके हैं।

अब आप आकाश तत्वके महत्वको समझिये। आकाश ही शक्तिरूपा है। यह जो ऋषियों द्वारा विशद विवेचन किया गया है उसे प्रत्यक्ष अनुभव कीजिये। जिस देश या स्थान का आकाश स्वच्छ (निर्मल) रहता है, वहां की सब चीजें मजबूत व बलिष्ठ

होती है जैसे पञ्जाव, मध्यदेश और राजपूताना आदि में आकाश स्वच्छ रहनेसे वहां की सब चीजें और प्राणि, मजबूत और बलिष्ट होते हैं। वैसे ही बङ्गाल, आसाम आदि देशोंमें आकाश मेघाच्छन्न रहने के कारण यहां के निवासी व पशु और अन्नादि सभी कमजोर देखे जाते हैं। इन प्रान्तों का आकाश वैसाख से आश्विन तक मेघाच्छादित रहता है। जितना भी आकाश स्वच्छ और निर्मल रहेगा उसी देशके अनाज, फल, पशु मनुष्यादि सभी बलिष्ठ होंगे। उसी प्रकार बड़े २ शहर और छोटे गांववालोंमें अन्तर मिलेगा तथा छोटे गांववालों और जङ्गल वालोंमें भी—तदनुसार भिन्नता रहेगी। जैसे २ जिसे आकाश स्वच्छ मिलेगा वह उतनाही सबल होगा। खुले आकाशमें वायु तथा तेजको गन्दगी नाश करनेका विशेष अवसर मिलता है। जहां आकाश निर्मल (खुला) नहीं रहता वहां वायु गन्दगी को पूर्णरूपसे नाश नहीं कर सकती। ऐसा ही शरीर पर भी है। जितना शरीरमें अवकाश रहेगा उतना ही शरीर बलिष्ठ रहेगा। (यह आपको आहारके प्रसंगमें मिलेगा) प्रायः सभी देशोंमें कार्तिक से चैत्र तक आकाश निर्मल रहता है। अतः कार्तिक से चैत्र तक की ऋतु सभी जगह अच्छी व आरोग्यप्रद समझी जाती है। इसलिये यह स्पष्ट हुआ कि आकाश ही शक्तिरूपा है।

सदा भवानी दाहिनी सन्मुख रहे गणेश।
पांचदेव रक्षा करें ब्रह्मा विष्णु महेश॥

भवानी—आकाश तत्व। सदा सबके लिये मङ्गल जनक है।

गणेश :—पृथ्वी का अधिष्ठातृ-देव हैं। सदा ही शुभ रहता है, विघ्न नाशक हैं। अतः पृथ्वी तत्व है।

ब्रह्मा-विष्णु-महेश :—हे तेज ! हे जल ! हे वायु ! आप मेरी सर्वदा रक्षा करते रहो।

रक्षा किससे ? अर्थात् शत्रुओं से। शत्रु कौन ? गन्दगी, जल, वायु और तेज सदा ही गन्दगी को नाश करते रहते हैं। यही इनका स्वभाविक धर्म याने गुण है।

इस मानव शरीर की जो रचना है वह ब्रह्माण्डके अनुरूप है। शिवपञ्चवक्त्रत्रिनेत्र—कटिपर्यन्त भाग लिङ्ग है। लिङ्ग भागपर पांचों तत्वोंके पञ्चचक्र हैं अर्थात् नाभिचक्र पृथ्वी, हृदयस्थान अग्नितत्व (सूर्य) मस्तकमें चन्द्रमा, ब्रह्मरन्ध्र में वायुका स्थान तथा आकाश सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त है। त्रिनेत्र=दो चक्षु सम्पूर्ण विषयोंके देखने के लिये हैं तथा तीसरा ज्ञाननेत्र जिससे तत्वोंका ज्ञान होता है। तत्वों के ज्ञान और व्यवहार होनेसे ही मानव को सुख एवं कल्याणकी प्राप्ति होती है। यही शिवरूप है।

राम नाम सब कोई भजे, दशरथ भजे न कोय।
एक बार दशरथ भजे, कोटि यज्ञ फल होय॥

जैसे महान्को भजनेसे महान् और छोटेको भजने से छोटा होता है। मनुष्य तत्वोंके सामने तुच्छ है। कारण तत्व महान् हैं। मनुष्यतत्वों का पहिला पुत्र है। मनुष्य ज्ञान शील प्राणी है। अतः वह ज्ञानके द्वारा अथवा योगाभ्यास द्वारा ब्रह्मलोक पहुंच सकता है। यह मौका केवल मनुष्य योनि में ही प्राप्त होता

है। ऐसे अवसर को छोड़ना अज्ञानता है। यह अभ्यास मानव को बचपनसे ही करना चाहिये। तत्वों के प्राकृतिक आहार तथा तत्वों के सेवन मननसे ही हम पुरुषार्थ द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति कर सकेंगे। पांचों तत्व अपने २ नियमानुसार सृष्टिकी रचना करते हैं। असंख्य प्राणी रोज तत्वों से पैदा होते हैं और असंख्य ही लीन होते हैं। परन्तु उनकी शक्तिमें किसी प्रकारका ह्रास नहीं होता। अर्थात् वे तो महान् के महान् ही रहते है।

हमारे पूज्य महर्षियों ने इन तत्वों का जितना विशद वर्णन किया है उन महर्षियोंको हमारा कोटिशः प्रणाम है। उन्होंने तत्वोंका ज्ञान सहित गुणगान किया था। उन तत्वों के अज्ञानता के कारण ही आज हमारी यह दशा है।

तत्वों से हमारा जितना सीधा सम्बन्ध रहेगा उतना ही हमारा उत्थान होगा। वायु, जल, तेज इनका सेवन एवं पृथ्वीसे उत्पन्न प्राकृतिक आहार तथा तत्वोंका भजन। अनुकरण बड़ोंका, शास्त्रोंका, अवतारोंका तथा ऋषि-महर्षियोका होना चाहिये। भोजन, भजन, सेवन सीधा तत्वों से ही सम्बन्धित होना चाहिये। जैसे-हे आकाश! हे आकाश!! हे आकाश!!! हे वायु! हे वायु!! हे वायु!!! हे चन्द्र! हे चन्द्र!! हे चन्द्र!!! हे सूर्य! हे सूर्य!! हे सूर्य!!! हे पृथ्वी! हे पृथ्वी!! हे पृथ्वी!!! यही तत्वों का सीधा स्मरण है। हम चाहे इन्हें सीधे भजे अथवा उपरोक्त

महर्षियों द्वारा वर्णित नामोंसे भजें परन्तु भावना हमारी महान-तत्वोंके भजने की ही होनी चाहिये।

तत्वोंका स्मरण भी समयकालानुसार होना चाहिये। जैसे—राजपूत (क्षत्रिय) जब रणाङ्गणमें जाता है तब उसको शक्तिकी आवश्यकता होती है उस वक्त भगवती दुर्गाका स्मरण ही श्रेयस्कर है। इसी तरह शीत-ऋतुमें भगवान् सूर्यका स्मरण ही हितकर है। वैसेतो सर्वदा पांचों तत्वोंका स्मरण ही करना चाहिये परन्तु जैसे २ जिसको जिस २ तत्वकी आवश्यकता हो समयानुसार उसका स्मरण विशेष उपयोगी होगा कारण उस तत्वकी पूर्णता हो जायगी।

पांचों तत्व सत्यके अवलम्बन से ही नियमानुसार सृष्टि की रचना करते हैं। भगवान् का पूर्णरूप सत्य ही है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"। अर्थात् सत्यस्वरूप भगवान् ही सृष्टिके रचयिता हैं।

बुद्धि अनन्त है। आकाश रूपिणी है। सत्यस्वरूपा होने से ही आकाश रुपिणी हैं। सत्यकी कमी से ही बुद्धिपर (छल-कपट रूपी बादल) आवरण आ जाते हैं।

अतः हमें चाहिये कि सर्व प्रथम हम सत्यका अवलम्बन करें। सत्यके अवलम्बन से ही हमारी सद्बुद्धि होगी जिसके द्वारा सत्य स्वभाव और सत्य आचरण होंगे। सत्य आचरण व सत्य व्यवहार से ही हम ध्रुव, हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर, आदि की तरह ब्रह्म लोक पहुंचेंगे।

सत्यकी महिमा

"सत्यमेव जयते नानृतम्"

धर्मैकतानाः पुरुषा यदासन् सत्यवादिनः।
तदा न व्यवहारोऽभून्न द्वेषो नापि मत्सरः॥
नष्टे धर्मे मनुष्याणां व्यवहारः प्रवर्तते।
द्रष्टाऽत्र व्यवहाराणां राजा दण्डधरः स्मृतः॥

व्याख्या :—तत्र धर्म्मः श्रुतिस्मृत्युदितः शिष्टाचारलक्षणश्च। धर्म एकस्तानो येषा ते धर्म्मैकतानाः। तनशब्दोऽत्र बलवाचो तेन धर्मैकबला धर्मैकप्रधानाश्च पुरुषा यदा आसन्निति यदा अभवन् तदा न व्यवहारोऽभून्न द्वेषो नापि मत्सरः। तस्मिन् काले एषां त्रयाणामसम्भवहेतुरयमेव प्रथमः। धर्मस्य व्यवहार-द्वेषमत्सरैः सह छायातपयोरिव विरोधः यत्रातपस्तत्र न छाया यत्र छाया तत्र नातपः। यदा धर्मस्तदा न व्यवहारद्वेषमत्सराः। यदा पुनरिमे तदा न धर्म इत्येतदर्थमेवेदमभिहितं भगवन्नारदेन 'धर्म्मैकतानाः… …' इत्यादि।

धर्मका प्रधान रूप सत्य है। सत्य ब्रह्मका अन्यतम रूप है। श्रुति कहती है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' धर्म, सत्य और ब्रह्म एक ही वस्तु हैं। जबतक मनुष्य धर्मपरायण था, सत्यवादी एवं सत्यव्यवहर्ता था तब तक उसे कानून की आव-

श्यकता नहीं थी। वह महान् था। उसके व्यवहार महान् थे। उसका शरीर, मन, आत्मा, बल, आयु, पुरुषार्थ आदि सभी महान् थे। द्वेष एवं मत्सरकी उत्पत्ति अधर्म-असत्यसे होती है। अधर्मका आश्रय पकड़ने पर ही हमें अपनी रक्षाके लिये कानूनकी शरण जाना पड़ता है धर्म केवल सत्य वचनमें नहीं सत्य व्यवहारमें भी है। अगर कोई अपना पावना हमसे मांगता है तो उस समय अपनी जेबमें रुपये नहीं रहते, किन्तु बक्समें रुपयोंकी मौजूदगीमें भी यह कह कर कि हमारे पास रुपये नहीं हैं, हम समझ लेते हैं कि हमने असत्य नहीं कहा। पर यहां हम सत्यका व्यवहार नहीं करते। यह तो वाक्छल है। बच्चेको फुसलानेके लिये झूठ बोलते समय हम ऐसा समझते हैं कि इससे हानि- लाभ कुछ नहीं, परन्तु हमारा यह ख्याल गलत है। इससे झूठ बोलनेकी अपनी आदत बढ़ती है, और बच्चेको एवं दूसरोंको झूठ बोलनेकी शिक्षा मिलती है। झूठ छोटा हो या बड़ा, हर हालतमें हमें उसे झूठ ही समझना चाहिये। यदि प्रमादवश ऐसा कभी हो जाय तो उसके लिये पश्चाताप करना चाहिये। क्योंकि धर्म व्यवहारमें वाक्छल नहीं होता। धर्मके व्यवहारमें वाणी एवं अर्थ समान होता है। छलकपट—नीतिका आश्रय तो तब लिया जाता है जब हम वास्तविक धर्मसे मुख मोड़ लेते हैं। महाभारतमें हम देखते हैं—दिनभर कौरव-पांडव लड़ते हैं और रातमें सब एक साथ बैठते बातें करते और भोजन आदि तक करते हैं। उसी प्रसङ्गमें भीष्मपितामहसे पूछा गया—देव, आप

कैसे मरंगे ?, पितामहने कहा—"तुम्हारे पक्षसे लड़नेवाले शिखण्डीको, जो पूर्व जन्मका स्त्री है, मेरे सामने करदो। मैं उसपर प्रहार नहीं करूंगा।

पितामह जानते थे—इस सत्य भाषणका परिणाम दुर्योधन पक्षका, जिसके यह एक सेनानी थे, हार और अपनी मृत्यु थी, फिर भी उन्होंने सत्य धर्मसे मुख नहीं मोड़ा इसलिये कि वे महान् थे। हार-जीत, जीवन-मृत्यु तो संसारके खेल हैं। इनसे जो वस्तु बड़ी है वह धर्म है, सत्य है। जब तक हम धर्मप्रधान थे तब तक हमारे बीच मामले-मुकदमें नहीं चलते थे। द्वेष-मत्सर का कहीं नामोंनिशान भी नहीं था। जबसे हमने धर्माचरण छोड़ा तबसे मामले-मुकदमे चलने लगे और द्वेष-मत्सरके हम शिकार बने। व्यवहार—मामले-मुकदमे, द्वेष एवं मत्सर—ये अधर्म हैं। सत्यसे विमुख होनेपर इनका बढ़ना आवश्यक है। जब तक हम आर्य स्वशासित थे, हमारे बीच मानवादि धर्म-शास्त्रोंका व्यवहार था। हम प्रमादवश फिसल जानेपर उसका दण्ड राजासे स्वयं मांगने जाते थे। हम समझते थे—कृता-पराधका दण्ड यदि राजा से इहलोकमें हम प्राप्त नहीं कर लेते तो उसके लिये हमें नरक जाना होगा।

सत्यव्रतं सत्यपरं निधानम् सत्यस्ययोनीं निहितं च सत्ये।

सत्यस्य सत्यं ऋत सत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना ॥

अर्थात्—सत्य प्रतिज्ञ, सत्य में ही स्थित, सत्य का कारण, सत्य का भी सत्य ऐसे सत्यात्मरूप प्रभु को हम शरण में हैं।

अर्थात् सत्य प्रतिज्ञ (व्रत) पुरुष को ही भगवान् की प्राप्ति होती है।

धारणं सर्ववेदानां सर्वतीर्थावगाहनम्।
सत्यं च ब्रुवतो नित्यं समं वा स्यान्न वा समम्॥

चारों वेदों का पाण्डित्य एवं सब तीर्थों में स्नान ये भी सत्य बोलने की समता में आ सकते हैं इसमें सन्देह नहीं है।

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

तराजू के पलड़ों पर यदि एक ओर रख एक हजार अश्वमेध यज्ञ और दूसरी ओर रखें सत्य को तो सत्य का ही वजन अधिक होगा (अर्थात् मन, वचन, एवं कर्म से सदा सत्य का पालन करनेवाला व्यक्ति एक हजार अश्वमेध यज्ञ करनेवाले से बड़ा है)।

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते।
सत्येन मरुतो वान्ति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

सत्य से ही सूर्य तपता है, सत्य से ही अग्नि जलती है, सत्य से ही वायु बहती है। सब कुछ सत्य में ही प्रतिष्ठित है।

सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणस्तथा।
सत्यमाहुः परो धर्मस्तस्मान् सत्यं न लंघयेत्॥

सत्य से ही देवता, पितर और ब्राह्मणों की प्रीति होती है। सत्य को ही परम धर्म कहा गया है। अतएव सत्य का कदापि उल्लंघन न करे।

मुनयः सत्यनिरता मुनयः सत्यविक्रमाः ।
मुनयः सत्यपथास्तस्मात्सत्यं विशिष्यते ॥

सर्वदा सत्य में निरत रहनेवाले, सत्य के लिये ही पुरुषार्थ और पराक्रम करनेवाले एवं सत्य से कभी भी न डिगनेवाले मनुष्य मुनि हैं एवं बड़ी उच्चकोटि के हैं। अतः सत्य ही सबसे बढ़कर है।

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन अपने लिये तथा पराये के लिये खेल (क्रीड़ा) और हँसी दिल्लगी मेंझूठ नहीं बोलते, वे ही सुखी है।

वृत्यर्थं धर्महेतोर्वा कामकारात्तथैव च।
अनृतं ये न भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन जीविका एवं धर्म के लिये और इच्छा की पूर्ति के लिये कभी भी झूठ नहीं बोलते, वे ही सुखी हैं।

सत्यधर्मरताः सन्तः सर्वलिङ्गविवर्जिताः।
धर्मलब्धार्थभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो मनुष्य सत्य धर्म में सदा ही रत रहते हैं, किसी प्रकार का बाहरी आडम्बर नहीं रखते और सम्पूर्ण कुलक्षणों एवं दुर्व्यसनों से विरत रहते हैं और धर्मपूर्वक उपार्जित धन का उपभोग करते हैं, वे सुखी हैं। अर्थात् स्वर्गगामी हैं। धर्म में सत्य सबसे बड़ा है। वह भगवान्का अन्यतम रूप है। यदि केवल सत्य की साधनाकी जाय तो सब वस्तु अपने आप प्राप्त हो जाय।

॥ सत्यं शिवं सुन्दरम् ॥

निर्भयता

निर्भयता सारे सत्कर्मों का मूल है। निर्भीक पुरुष ही सत्य बोलने और सत्य आचरण करनेवाले होते हैं। वे ही धर्म और कर्त्तव्य के मार्ग पर अटल रह सकते हैं। संसार में जितने भी महापुरुष हो गये हैं वा अभी हैं वे निर्भयता के कारण ही धर्म परायण वा कर्त्तव्यशील हो सके हैं।

इस निर्भयता की प्राप्ति ज्ञान, पवित्र आचरण, प्राणी मात्र के हितचिन्तन और सर्वोपरि ईश्वर भक्ति से हो सकती है। हम दिन में जहां निर्भय विचरण कर सकते हैं रात्रि होते ही वहां जाने में कुछ संशय उत्पन्न हो जाता है। हमें अन्धकार में भय और प्रकाश में निर्भयता होती है। कारण यह है कि प्रकाश में सारी चीजें हमें स्पष्ट दीखती हैं। अन्धकार में हम जान नहीं पाते कि वहां पर क्या है, क्या नहीं; इसलिये भय की भावना उत्पन्न हो जाती है अतएव अज्ञान भयदायक ज्ञान निर्भयता देनेवाला है।

अशुभ कर्मों के अनुष्ठान से भी भय होता है। शायद भेद न खुल जाय, यह डर लगा रहता है। अमुक व्यक्ति हमारी दुर्बलता जानता है, वह रुष्ट हो जाय तो भेद खोल देगा। शुभ कर्मों के करनेवाले मनुष्य को सब जगह ही निर्भयता है। वह सर्वत्रस्वतन्त्र निर्भय विचरण करता है।

प्राणीमात्र के हितचिन्तन की भावना मनुष्य को पूर्णरूप से निर्भय बना देती है। हम सबका हित करें तो हमारा कौन अहित कर सकता है? योगशास्त्र में लिखा है कि जो मनुष्य मन, वचन एवं कर्म से अहिंसा का व्रती हो जाता है उसे हिंसक पशु तक वैर त्यागकर उसके मित्र हो जाते हैं। यहां तक कि उसकी अहिंसा के प्रभाव से पशु अन्य पशुओं से भी वैर भाव छोड़ देते हैं। ऋषि-मुनियों के आश्रमों में बाघ और हरिण, सर्प और नेवले भी एक साथ खेलते थे। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम मन, वचन और कर्म से दूसरे का कल्याण ही सोचें और करें। इसी से हम निर्भय हो सकते हैं एवं स्वयं कल्याण के भागी हो सकते हैं।

ईश्वर भक्ति द्वारा ईश्वर का शरणागत होना निर्भयता प्राप्ति का सबसे बड़ा साधन है। यह कहावत प्रसिद्ध है कि अपने मालिक की डेवढ़ी पर कुत्ते भी बलवान् होते हैं। माता की गोद में छोटा-सा बच्चा भी पूर्ण रूप से निर्भय होता है। हम अपने सर्व शक्तिमान सर्वेश्वर सर्व व्यापक स्वामी के दरबार में रहकर निर्भय क्यों नहीं होंगे, अपनी जगज्जननी जगदम्बा की गोद में हमें किसका भय हो सकता है?

अतएव मनुष्य मात्र का कर्तव्य है कि वे सदा सत्कर्म करते रहें और सब कर्म ईश्वरार्पण करें। अहंभाव मनमें कदापि न लावें। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि "करो कोई लाख करैइया कोई और है।" इसीसे हमारी सर्वदा उन्नति होगी। जब

मनमें जरा भी भय उत्पन्न हो, तो ईश्वर का चिन्तन करना चाहिये। ईश्वर की ओर मन लगाने से मन की अशान्ति दूर हो जायगी। निर्भय रहने से शान्ति की वृद्धि होगी और ईश्वर हमें सद्बुद्धि देंगे एवं सदा ही हमारे संगी रहेंगे।

माता-पिता को उचित है कि वे बच्चों को सदा निर्भयता का ही उपदेश दें। भय देनेवाली कसी भी चर्चा उनके सामने कदापि न करें। वीर रस की बात एवं महापुरुषों का इतिहास आदि उन्हें सुनाया करें। निर्भयता से ही ध्रुव, प्रह्लाद आदि महापुरुषों के नाम सदा ही अमर हैं। निर्भयता और सत्कर्मों के कारण उनका ईश्वर सहायक रहा है।

मन और इन्द्रियां

इस शरीर रूपी रथ पर रथ का स्वामी आत्मा सवार है। इस रथ में इन्द्रिय रूपी घोड़े जुते हुए हैं। मन (बुद्धि) सारथि है। इन्द्रियों के विषय—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—इन घोड़ों को लुभानेवाली और रास्ते से गिरानेवाली घास है जो रास्ते के बगल में गड्ढे में लगी हुई हैं। घोड़ों का दिल उस घास को देखकर ललचाता है। वे उसे खाने के लिये गड्ढे में उतरना चाहते हैं। उस समय यदि सारथि लगाम को ढीला छोड़े तो घोड़े गड्ढे में चले जायगे। वे इस शरीर रूपी गाड़ीको भी साथ ले जायगे। गाड़ी गड्ढे में गिरकर चकनाचूर हो

जायगी उस पर सवार आत्मा, जो अपने गन्तव्य स्थान को जाना चाहता था, गड्ढे में गिरकर दुघटना का शिकार हो जायगा, अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकेगा। इससे स्पष्ट होता है कि मन के ऊपर कितना अधिक उत्तरदायित्व है। सारी ज्ञाने-न्द्रियां—यथा, आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा एवं कम-न्द्रियां—हाथ, पांव, मुख, पायु (गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) इस मनके अधीन हैं और इसकी सहायता से ही अपने-अपने कार्य करते हैं। इसलिये आवश्यक है कि मनसे सदा ज्ञान के सहित काम लिया जाय। मन जैसा होगा वैसे ही हम बनगे इसलिये मनको सदाही ऊँचा रखना चाहिये। कहा भी है कि 'मनके हारे हार है मनके जीते जीत।'

सिंह और हाथी के युद्ध में सिंह की ही विजय होती है, इसका कारण यह है कि सिंह के मन में निर्भयता है, उसे आत्मविश्वास है। इसी कारण अपने से सबल हाथीके ऊपर भी वह विजय प्राप्त करता है।

शास्त्र में कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयोः

अर्थात् मन ही मनुष्यों के वन्धन और मुक्ति का कारण है।

मन के सम्बन्ध में निम्नलिखित वेद मन्त्र विशेष मनन के योग्य हैं—

शिव संकल्प मन्त्र

यजुर्वेद अध्याय ३४ मंत्र १ से ६

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

यह मन जाग्रत अवस्था में दूर-दूर जाता है। सुप्त अवस्था में भी वैसे ही जाता है। यह अत्यन्त वेगवान और सारी ज्योतिओं का भी ज्योति रूप है। यह दिव्य शक्ति से युक्त मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

इस मन के द्वारा ही पुरुषार्थी, बुद्धिमान् एवं संयमी लोग यज्ञ (सत्कर्म, परोपकारादि) एवं युद्ध कार्य भी सफलतापूर्वक कर सकते हैं। यह मनुष्यों के बीच अपूर्ण शक्तिवाला है। वह मेरा मन शिव संकल्प अर्थात् पवित्र कल्याणकारी निश्चयवाला होवे।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरंतरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जिस मन के द्वारा ही ज्ञान-विज्ञान (एवं ब्रह्मज्ञान) चिन्तन शक्ति एवं धीरता की प्राप्ति होती है, जो मनुष्य में ज्योति रूप एवं अमृत रूप है, जिस मन के बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता वह मेरा मन उत्तम विचारवाला हो।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् के सारे व्यापार मन से ही ग्रहण किये जाते हैं (वास्तव में इस मन के मल आवरण और विक्षेप से रहित होने पर हम क्रान्तदर्शी बन सकते हैं, परमात्मा तकके दर्शन कर सकते हैं।) पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा अहंकार और बुद्धि इन सात होताओं द्वारा जो यह हमारा जीवनयज्ञ चल रहा है उस यज्ञका अधिष्ठाता मन ही है। वह मेरा मन शुभ संकल्प-वाला हो।

यस्मिन्नृचः सामयजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जिस मनमें पद्य, गद्य एवं गतिमय सारे वेद रथचक्र में आरों के समान प्रतिष्ठित हैं। जिसके द्वारा ही सारे चिन्तन और मनन हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि आदि सृष्टि में भी परमात्मा ने जो ऋषियों को वेदों का ज्ञान दिया उस वेदज्ञान को उन हमारे पूर्वज ऋषियों ने मन के द्वारा ही ग्रहण किया। आज भी जो वेद शास्त्रादि के ज्ञाता हो सकते हैं वे भी उनको मन द्वारा ही ग्रहण और धारण कर सकते हैं)। वह मेरा मन शिव संकल्पवाला हो।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

रथ का सारथि जिस प्रकार घोड़ों को चलाता है उसी प्रकार मन इन्द्रियरूपी घोड़ों को चलाता हुआ हमारे शरीररूपी रथ का सारथि है। यह हृदय में स्थित सबसे अधिक वेगवान् एवं कभी बूढ़ा नहीं होनेवाला है। वह मेरा मन शुभसंकल्पवाला हो क्योंकि इसी से हमारा कल्याण हो सकता है।

मेरुदण्ड सीधा रहे

प्रत्येक मनुष्य को ध्यान में रखना चाहिये कि अपनी रीढ़ (मेरुदण्ड) सदा सीधा रहे। जप, पूजा, ध्यान के समय तो वह सीधी रहनी ही चाहिये। बैठते, चलते और सोते समय भी रीढ़ को सीधा ही रखना चाहिये। रीढ़ सीधी रहना आयु और स्वास्थ्य के लिये बहुत ही लाभदायक है। रीढ़ सीधी रहने से चित्त में सदा प्रसन्नता रहती है। रीढ़ रूपी यह दण्ड (मेरु दण्ड) यदि बराबर सीधा रहे तो वृद्ध अवस्था में सहारे के लिये लकड़ी के दण्ड (लाठी) की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

गो-सेवा

गौ को रक्षा करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। रक्षा उसकी शक्ति की ही करनी चाहिये। जिस वृक्ष से पुष्ट और सुमधुर फल लेने की हम आशा रखते हैं, उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करके उसको मजबूत बनाने से ही हमारी आशा पूरी होती है, न कि उसकी जड़ काटने से। गोवंश की रक्षा भी तभी हो सकती है जब उसकी शक्ति की रक्षा की जाय। स्तन्यपायी प्राणिमात्र शैशव काल में माता के दूध से ही पलते हैं तथा शक्ति प्राप्त करते हैं। उस समय यदि उन्हें माता के दूध से वंचित कर दिया जाय तो वे कदापि पुष्ट, सबल और दीर्घजीवी नहीं हो सकेंगे। गौ के फलस्वरूप उनके बछड़े या बैल हैं। जैसे वृक्ष के फल मनुष्य के लिये उपयोगी हैं उसी तरह बैल की आवश्यकता मनुष्य मात्र के लिये है। उसके बिना मनुष्य की खेती-बारी बिल्कुल ही नहीं चल सकती। बैल जितने ही अधिक शक्तिशाली होंगे उतनी ही हमारे कृषिकार्य की उन्नति होगी और हमें अन्न प्राप्त होगा। इसलिये आवश्यक है कि बैलों को शक्तिशाली बनाने के लिये हम उन्हें उनकी माताओंके दूध से वंचित न करें और उनकी शक्ति की बराबर रक्षा करें। पूर्ण रूप से गौ की रक्षा होने से ही अपना कल्याण होगा। प्राचीन कालमें बैलो के पराक्रम की उपमा हाथी

और सिह के पराक्रम से दी जाती थी। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को स्थान-स्थान पर नरपुंगव के नाम से सम्बोधन करते हैं। पुंगव का अर्थ बैल (सांढ़) होता है। मनुष्यों में श्रेष्ठ को नरपुंगव कहा जाता था। कारण बैल पुरुषार्थ सात्त्विकता एवं धीरता के प्रतीक होते हैं। वह पराक्रम बैलों को उनकी माता के दूध से ही प्राप्त था। प्राणिमात्र की शक्ति का आधार अपनी माता का दूध ही है।

महाभारत आदि पर्व अध्याय: तृतीय: श्लोक ३२ से ४६

आयौदधौम्य एक ऋषि रहा करते थे। उनके पास उपमन्यु नामक एक शिष्य विद्याध्ययन के लिये आया। तब महर्षि ने गो-सेवा सर्वप्रथम विद्या बतलाकर गोसेवार्थ गौओं को चराने के लिये उपमन्यु को भेज दिया वहाँ का वर्णन निम्न प्रकार है।

तं चोपाध्याय: प्रेषयामास वत्सोपमन्यो! गा रक्षस्वेति।

स उपाध्याय वचनादरक्षद्गा: सचाहनि गा रक्षित्वा दिवसक्षये गुरु गृह मागत्योपाध्यायस्याग्रत: स्थित्वा नमश्चक्रे।

तमुपाध्याय: पीवानमपश्यदुवाचैनं वत्सोपमन्योकेन वृत्ति कल्पयसि, पीवानसिदृढमिति।

स उपाध्यायम् प्रत्युवाच भो! भैक्ष्येण वृत्तिं कल्पयामिति तमुपाध्याय: प्रत्युवाच।

मय्यनिवेद्य भैक्ष्यम् नापयोक्त व्यमिति। सतथेत्युक्तो भैक्ष्यं चरित्वोपाध्यायान्यवेदयत्॥

स तस्मादुपाध्यायः सर्वमेव भैक्ष्यमगृह्णात्। स तथेत्युक्तः पुनर रक्षद्गाअहनि रक्षित्वा निशामुखे गुरुकुलमागत्य गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे।

तमुपाध्याय स्तथापि पीवानमेव दृष्टोवाच वत्सोपमन्यो सर्व-मशेषतस्ते भैक्ष्यं गृह्णामि केनेदानीं वृत्तिकल्पयसीति।

स एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच भगवते निवेद्य पूर्वमपरं चरामितेन वृत्तिं कल्पयामीति तमुपाध्यायः प्रत्युवाच।

नैषान्याय्या गुरुवृत्तिरन्येषामपि भैक्षतोपजीविनांवृत्त्युपरोधं करोषीत्येवं वर्तमानो लुब्धोऽसीति।

सतथोक्त्वा गा अरक्षद्रक्षित्वा च पुनरुपाध्याय गृहमागत्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे।

तमुपाध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वा पुनरुवाच वत्सोपम-न्योऽहंते सर्वं भैक्ष्यं गृह्णामि न चान्यच्चरसि पीवानसि भृशंकेन वृत्तिं कल्पयसीति।

आयोदधोम्यने कहा वत्स उपमन्यु भिक्षा भी नहीं लाता इस समय किससे वृत्ति चलाता है।

तब उपमन्यु अपने उपाध्यायको प्रत्युत्तर दे रहा है—

स एवमुक्तस्तमुपाध्यायं प्रत्युवाच भो एतासांगवां पयसा वृत्तिं कल्पयामीति। तमुवाचोपाध्यायो नैतन्न्याय्यं पय उपभोक्तुं भवतो मयानाभ्यनुज्ञातमिति।

भो! गुरो! मैं इस समय गौओंका कुछ दूध पीलेता हूं। जिससे वृत्ति कल्पित कर रहा हूं। तब ऋषिने कहा कि आपका

ऐसा करना ठीक नहीं है। कारण कि प्रकृतिमाताने गौओंके जो दूध बनाया है वह उनके वत्सोंके लिये है न कि मनुष्यों के लिये। फिर कभी भी दूध ग्रहण नहीं करना। ऐसा करना ठीक नहीं है।

स तथेति प्रतिज्ञाय गा रक्षित्वा पुनरुपाध्याय गृहमेत्य गुरोरग्रत: नमश्चक्रे।

सतथेति प्रतिज्ञा करके गौओं की रक्षा कर—उपाध्याय के घर आकर गुरुको नमस्कार किया।

तमुपाध्याय: पीवनमेव दृष्ट्वोवाच वत्सोपमन्यो भैक्ष्यम् नाश्नासिन चान्यच्चरसि पयोन पिवसि पीवनसि भृशं केनेदानीं वृत्ति कल्पयसीति।

भो! उपमन्यु। भिक्षा नहीं लाता है, गौओं का दूध भी नहीं ग्रहण करता फिर कैसे वृत्ति का निर्वाह करता है।

उपमन्यु कहता है—

सएवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच—भो! फेनं पिवामि यमिमे वत्सा मातृणां स्तनात्पिवन्त उद्गिरन्ति।

भो! उपाध्याय मैं फेन पीलेता हूं जिसको यह वत्स माताओं के स्तनसे पीते हुऐ गिरा देते हैं।

तमुपाध्याय: प्रत्युवाच एतेत्वदनुकम्पया गुणवन्तो वत्सा: प्रभूततरं फेनमुद्गिरन्ति तदेषामपि वत्सानां वृत्युपरोधं कराष्येवं वर्तमान: फेनमपि भवान्नपातुमर्हतीति। सतथेति प्रतिश्रुत्य पुनररक्षद्गा:।

उपाध्याय उपमन्यु को कहते हैं कि—भो ! उपमन्यु ! यह गौओं के वत्स तेरे लिये अनुकम्पा से अधिक फेन गिरा देंगे जिससे इन वेचारे वत्सों का वृत्युपरोध हो जायगा। इसलिये तुम फेन के भी अधिकारी नहीं हो। यहां पर जो शिक्षा है वह मनुष्य मात्रके लिये है।

वत्सं ददाति वै धेनुर्वृषभं कृषिकर्मणे।
कृष्या लोकाः प्ररोहन्ति तस्माद् गोमातृका नरः॥

गौ हमें खेती के लिये वैल रूप अपने बच्चे देती है। खेती से ही लोग जीते हैं। इस कारण मनुष्यों की माता गौ है, (न कि उसका दूध पीनेके कारण जैसी बहुत लोगोंकी भूल धारणा है)।

कथं हि वृषभाः क्षीणाः समर्थाः कृषिकर्मणे।
कथं वा सम्भवेदन्नं कथं वा लोकजीवितम्॥

कमजोर कृश शरीरवाले वैल कैसे खेती के काम के योग्य हो सकेंगे ? फिर अन्न कैसे उत्पन्न होगा ? लोग जीवित्त कैसे रह सकेंगे ? अतएव गो दुग्ध के ग्रहण करने से मनुष्य का जीना ही कठिन हो जायगा।

पशवः पक्षिणः सर्वे मातरः पितरश्च नः।
पालनीयाः प्रयत्नेन श्रुतिरेषा सनातनी॥

अनादि निधना भगवती श्रुति ने पशु-पक्षियों को माता-पिता कहा है और उनका बड़े यत्न से पालन-पोषण करने का आदेश किया है। उनकी हिंसा कदापि न करनी चाहिये।

वत्साथ विहितं दुग्धं नरो मोहात् पिबेद् यदि।
वत्सघातसमं पापं भवतीत्यनुशुश्रुम ॥

गौ आदि पशुओं का दूध उनके बछड़ों के लिये विहित हैं। उसको यदि कोई मनुष्य अज्ञानवश पी लेवे तो उसे बछड़े की हत्या का पाप होगा, ऐसा बुद्धिमानों का कहना है।

दुग्धं हृत्वा कृशं कृत्वा प्रापय्य यमसादनम्।
वत्सं, धेनोः पयोगृध्नुः कथं पापैर्न लिप्यते ॥

गौ का दूध हरण कर उसके बछड़े को दुर्बल बनाकर उसे मृत्युमुख में पहुंचानेवाला, दुग्धलोलुप मनुष्य कैसे पाप से अछूता रह सकता है ?

गोदुग्धं मानवैर्भुक्तं वत्साश्चाहारवर्जिताः।
खर्वाश्च वृषभा जाता दुर्बलाश्च कलौ युगे ॥

मनुष्य गाय का दूध पी गया, बछड़े अपने अहार से वञ्चित हो गये। वल छोटी कद के और कमजोर हो गये। ऐसी अवस्था कलियुग में हो गई।

वोढानड्वान् भवेद्राष्ट्रे इत्येवं वैदिकी श्रुतिः।
नरो हरति गोदुग्धं कथं स्यात् श्रुतिपालनम्।

यजुर्वेद की यह श्रुति है कि राष्ट्र में भार वहन करने में समर्थ अर्थात् खूब पुष्ट और सबल बैल होवें। मनुष्य यदि गाय का दूध हरण कर लेगा तो इस वेदाज्ञा का पालन कैसे हो सकेगा (क्योंकि बल तो सबल न रह सकेगे)।

(जिस वेद मन्त्र का प्रतीक ऊपर श्लोक में दिया गया है वह इसी पुस्तक में अन्यत्र वेदों की शिक्षा के वैदिक राष्ट्र के प्रकरण में उद्धृत हुआ है। वह मन्त्र "आब्रह्मन् ब्राह्मणो" इस प्रकार आरम्भ होता है।

मातृदुग्धं हि जीवानामस्थिनिर्मापकं परम्।
पशुदुग्धप्रपाणेन दुर्बलास्थिर्भवेन्नरः॥

माता के दूध से हड्डियां पनती हैं। अतएव पशुओं का दूध पीने से मनुष्य की हड्डियां कमजोर हो जाती हैं।

गोजाविमहिषाश्चैव येषां दुग्धे रुचिर्नृणाम्।
ते ह्यल्पजीविनः सर्वे चिरायुर्दुग्धपः कथम्॥

गौ, बकरी, भेड़ी एवं भैंस जिनके दूध मनुष्य बड़ी रुचि से पीते हैं, सभी अल्पजीवी हैं। इस कारण उनका दूध पीनेवाला मनुष्य दीर्घजीवी कैसे हो सकता है।

शिशोः कलेवरं मातुः शरीरेणैव जायते।
मातृदुग्धं ततस्तस्य भोजनं प्राकृतं विदुः॥

शिशु का शरीर माता के शरीर से ही बनता है। अतएव माता का दूध बच्चे का प्राकृतिक भोजन है।

हरिवर्षसमुद्भूताः शाकाहारप्रवर्तकाः।
दुग्धं मांससमं प्राहुर्जीर्णक्षेत्रस्य शिष्यकाः॥

युरोप महादेश में उत्पन्न शाकाहार के प्रवर्त्तक युरोप में वेजिटेरियन सोसाइटी नामक मांसाहार विरोधिनी एवं फलाहार और शाकाहार की प्रचारिका संस्थाके सभासद्) ओल्ड-

फिल्ड (जीर्ण क्षेत्र) के जो वेजिटेरियन सोसाइटी के प्रधान हैं, के अनुयायी दूध को मांस के समान ही बतलाते हैं।

वास्तविक गोपालन क्या है? निःस्वार्थभाव से गोवंश की सेवा करते हुए उसकी नस्ल की सर्वतोभावेन उन्नति करना ही गोपालन है। असल में उन्नति तभी हो सकेगी जब निष्काम (व्यक्तिगत स्वार्थ को छोड़कर) सेवा की जायगी। हमने जब गऊके दूध को अपने निजी स्वार्थ के लिये लेलिया और बदले में उसका ज्यादा से ज्यादा दूध प्राप्त हो, इस उद्देश्यसे उसका भरण-पोषण-पालन किया तो इसी को हमने गोसेवा कह डाला। यह वास्तविक गोसेवा नहीं यह तो व्यवहार है। मनुष्य का व्यवहार तो मनुष्य से होता है। मनुष्य और पशु के धर्म भिन्न २ हैं।

कई शताब्दियों से हमारे देशपर मांसाहारियों का शासन होने से हमने भी धीरे २ उनकी देखादेखी अपना आहार उनके अनुरूप बना लिया। अगर आप दूधके वैज्ञानिक विश्लेषणपर ध्यान देंगे तो आपको स्पष्ट विदित होगा कि दूधमें क्या २ पदार्थ मिलते हैं और जो पदार्थ मिलते हैं वे हमारे शाकाहारियों के खाने लायक नहीं हैं। वह तो मांसाहारियों का खाद्य है। हमारे यहाँ तो दूध का बेचना भी पाप माना है तब दूध लेना किस प्रकार न्यायसंगत हो सकता है।

आजकल तो गली २ में दूध तथा दूध से बने पदार्थों की दूकानें हैं। यह जो व्यवहार है वह गर्तमें ले जानेवाला है।

हमारा व्यवहार तो तत्त्वों से होना चाहिये जिससे हमारा उत्थान होगा।

प्रकृति देवीने दूध बच्चेके लिये बनाया है। उसे बच्चे को न देकर हमने अपने प्रयोग के लिये ले लिया। हमने अपना दूध तो दूसरे को नहीं दिया तब निरीह पशुका दुग्ध लेना कहाँ की बुद्धिमत्ता है। पशु दुग्ध से तो स्थूल मेदा बनता है उससे शरीर का अवकाश रुकता है जो कि हमारे लिये हितकर नहीं है। हम तो शाकाहारी (सूक्ष्म मेदावाले) हैं। जब हमने पशुदुग्ध ले लिया तो शाकाहारी किस प्रकार हुए। जैसे—

यथामांसं तथा दुग्धं, तयोर्भेदो न विद्यते।
रक्तेन निर्मितं दुग्धं, मांसं च भारतर्षभ ॥

जैसा मांस है वैसा ही दुग्ध है। उनमें भेद नहीं है क्योंकि दूध और मांस दोनों ही खून से बनते हैं। तथा दोनों का गुण भी एक ही है। अतः दूध वास्तविक शाकाहार नहीं है। हमारा आहार तो सात्त्विक (प्राकृतिक) होना चाहिये।

हमारे यहाँ तो आयोदधौम्यादि महिमांकित ऋषियों ने जब फेन (झाग) लेने तक को वृत्त्युपरोध माना है तब दूध लेना कहाँ तक न्यायोचित है। अपने यहां दूसरे का हक मारना महापाप माना है और वह भी अज्ञानी बच्चे का हक मारकर हम अपने को उच्च समझने का गर्व करते हैं! यह कहाँ तक उचित है इसे तो पाठकगण ही समझ सकते हैं।

गो-शब्देनोदिता पृथ्वी सा हि माता शरीरिणाम्।
शैशवे जननी माता पश्चात् पृथ्वी हि शस्यते ॥

अर्थात्—गा शब्द पृथ्वी का द्योतक है। देहधारियों की सबसे बड़ी माता पृथ्वी ही है। बचपन में अपनी माता दूध पिलाने के कारण माता है, पश्चात् जीवन पर्यन्त अन्नरूप दूध की टिकिया देकर पालन करनेवाली, आश्रय आदि देनेवाली होने के कारण प्रसिद्ध माता पृथ्वी ही है।

हे वसुन्धरा (पृथ्वी) आप हमारी रक्षा करो। हम अपनी रक्षा करने में असमर्थ हैं कारण हम तो पशु-व्यवहार में लिप्त हो गये हैं। अतः हमें सद्बुद्धि प्रदान कर दोनों का कल्याण करो। मेरा आप से यही नम्रनिवेदन है।

'गौ' शब्द से पृथ्वी, वाणी, इन्द्रिय, किरण, रत्न, स्वर्ग, माता आदिका ग्रहण होता है। तमाम मातृ-जाति 'गौ' शब्दके अन्तर्गत आती है जीवन में गाय का महत्वपूर्ण स्थान है। अतः निस्वार्थ भावसे उसकी रक्षा एवं सेवा करना मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है।

ब्राह्मण-सेवा

मनुष्य जन्म की सफलता के लिये ज्ञान-विज्ञान को उन्नति की आवश्यकता है। यह तभी हो सकता है जब ज्ञान-विज्ञान के भण्डार, गुरु ब्राह्मणों की सेवा की जाय और उनसे उपदेश प्राप्त किये जायँ और उनके उपदेशानुसार चलकर ज्ञान की प्राप्ति की जाय।

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १५१ में लिखा है—

ते हि लोकानिमान् सर्वान् धारयन्ति मनीषिणः।
ब्राह्मणाः सर्वलोकानां महान्तो धर्मसेतवः॥
धनत्यागाभिरामाश्च वाक्संयमरताश्च ये।
रमणीयाश्च भूतानां निधानं च धृतव्रताः॥

विद्वान् ब्राह्मण सभी लोकों को धारण करते हैं। (अर्थात् स्वयं मर्यादा में रहते हुए सदुपदेश द्वारा मनुष्यमात्र को मर्यादा में रखते हैं) वे संसार में महान् हैं और धर्म के तो सेतु हैं। धन के त्याग से वे सबके स्पृहणीय हैं। वे अपनी वाणी पर नियन्त्रण रखते हैं। लोकप्रिय हैं, प्राणिमात्र के सुख के आधार हैं ए सत्य, संयम आदि व्रतों पर दृढ़ रहनेवाले हैं।

साधु सेवा

गृहस्थाश्रम से निवृत्त होकर ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर जो साधना से रहते हुए प्राणिमात्र के कल्याण का चिन्तन करते हैं और परोपकार निरत रहते हैं उन्हें साधु कहते हैं। उनकी सदा यही भावना होती है कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःख भाग्भवेत्॥

सभी सुखी हों, सभी नीरोग रहें, सबका कल्याण हो. कोई दुःखी न रहे। ऐसे महानुभावों की सेवा करना और उनसे उपदेश ग्रहण कर तदनुसार आचरण करना, हम सबों का परम कर्त्तव्य है।

माता-पिता और वृद्धजनों की सेवा

माता-पिता की सेवा करना मानव का परम धर्म है। मां-बाप स्वयं आपदाओं को सहते हुए भी हमारी रक्षा करते हैं। तथा स्नेहमयी वाणी व सद्व्यवहार, ऐश्वर्यादि से परिपूर्ण कर हमारा पथ-प्रदर्शन करते हैं। सन्तान चाहे अयोग्य भी क्यों न हो परन्तु वे तो अन्तरात्मा से सन्तान के कल्याण की कामना ही करते हैं। उनकी भावना तो निरन्तर सन्तान के सुख-समृद्धि को देखने की ही होती है।

यह स्वाभाविक है कि मानव किसी को भी अपने से बढ़ा-चढ़ा नहीं देखना चाहता पर माँ-बाप ही ऐसे होते हैं जो अपनी सन्तान को अपने से भी सर्वाधिक सुखी व समृद्धशाली और यशस्वी देखने की अभिलाषा रखते हैं।

शुश्रूषते यः पितरं न चासूयेत् कदाचन।
मातरं भ्रातरं वापि गुरुमाचार्यमेव च॥
तस्य राजन् फलं विद्धि स्वर्लोके स्थानमर्चितम्।
न च पश्येत नरकं गुरुशुश्रूषयात्मवान्॥

भीष्मपितामह ने अनुशासन पर्वमें राजा युधिष्ठिर को उपदेश करते हुए कहा है कि जो मनुष्य पिता, माता, ज्येष्ठ भ्राता, गुरु, आचार्य आदि श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा करते हैं और उनकी

निन्दा या बुराई कदापि नहीं करते वे सब प्रकार के सुख और सम्मान के अधिकारी होते हैं। वे कभी दुःख शोक नहीं भोगते।

माता-पिता गुरु आदि पूजनीय व्यक्तियोंकी आत्मा जो सेवा से प्रसन्न होकर आशीर्वाद देती है उससे ही घर को सुख-समृद्धि प्राप्त होती है। वह घर सदा फलता-फूलता रहता है।

वृद्धजनों की सेवा करना भी हमारा आवश्यक कर्तव्य है। उन महानुभावों को भी अति उचित है कि गृहस्थाश्रम से निवृत्त होकर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश कर सभी वासनाओं एवं तृष्णा को त्यागकर सबको समभाव से देखते हुए, मन को उच्च रखते हुए, ईश्वर भजन और प्राणिमात्र का हित चिन्तन करते हुए अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनावें।

शास्त्रों ने विद्या, कर्म, बन्धुवर्ग और धन के साथ ही आयुको भी मान का कारण बतलाया है। इसी लिये अपने यहाँ की तो यह परिपाटी रही है कि विद्वानों या धनवानों के भी लड़के बड़े बूढ़े शूद्रों को भी चाचा, दादा, भाई आदि शब्दों से सम्बोधन करते हैं।

मनुजी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥

दूसरों से मिलने पर उन्हें अभिवादन (नमस्कार-प्रणाम आदि) करनेवाले एवं सदा वृद्धजनों की सेवा करनेवाले की आयु बड़ी होती है, उसकी विद्या बढ़ती, यश और बल भी बढ़ते हैं।

सचमुच वृद्धों की सेवा करने से, उन्हें प्रसन्न रखने से उनसे हमें उपदेश और आशीर्वाद प्राप्त होंगे। इससे हम सब प्रकारसे सुख समृद्धि प्राप्त करते रहेंगे। हमारा गार्हस्थ्य सम्पत्तिसे भरपूर होगा।

वृद्धों की सेवा क्यों करनी चाहिये, इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि किसी समय जब वे कार्य करने में समर्थ थे, उन्होंने हमारे लिये, जो कुछ कर सकते थे, किया है। अब हमारा कर्तव्य है कि उनकी वृद्धावस्था में उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये हम उनकी यथाशक्ति सेवा करें और उनके ऋण से मुक्त हों। दूसरा यह है कि अपनी बड़ी आयु के कारण उन्होंने संसार में उतार-चढ़ाव, जीवन के उत्थान-पतन की घड़ियाँ देखी हैं। उनका अनुभव बहुत अधिक है। यदि वे वयोवृद्ध होने के साथ ही विद्यावृद्ध और ज्ञानवृद्ध भी हैं तो उन्हें शास्त्र की विद्या और सत्यता के जीवन क्षेत्रमें साक्षात्कार करने का पर्याप्त अवसर मिला है। हमारी पुस्तक की विद्या केवल तोतारटन्त है। वृद्ध-जनों का ज्ञान अनुभवसिद्ध और प्रत्यक्ष है। अतः उन वृद्धों से जो ज्ञान हमें प्राप्त हो सकता है उसका मूल्य बहुत अधिक है। उनके उस ज्ञान और अनुभव को हम उनकी सेवा द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। किसी ने ठीक कहा है कि—

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।

विद्या प्राप्त करने का सबसे उत्तम तरीका गुरुकी सेवा है। इसलिये वृद्ध के अनुभव से लाभ उठाने के लिये भी वृद्धसेवा की परम आवश्यकता है।

अपने शास्त्रों और इतिहास-पुराणों से स्थान-स्थान पर हमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं जहां वृद्धसेवा करनेवाले को ही यथार्थ विद्वान् या ज्ञानी माना गया है।

रामायण (वाल्मीकीय) युद्ध काण्ड सर्ग १८ श्लोक ८ में रामचन्द्रजी सुग्रीव के सम्बन्ध मे कहते हैं—

अनधीत्य च शास्त्राणि वृद्धाननुपसेव्य च।
न शक्यमीदृशं वक्तुं यदुवाच हरीश्वरः॥

अर्थात् जिसने शास्त्र पढ़कर वृद्धो की सेवा नहीं की है वह ऐसा सुन्दर धर्मानुकूल नहीं बोल सकता जैसा सुग्रीव बोलते हैं

महाभारत सभापर्व मे भीष्मपितामह राजसूय यज्ञ में अग्र-पूजा के लिये कृष्णजी का प्रस्ताव करते हुए कहते हैं—

ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिताः।
तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान्॥

हे युधिष्ठिर, मैंने बहुत-से ज्ञानी वृद्धों की सेवा की है। उन सबों के मुख से मैंने श्रीकृष्ण के गुणो की प्रशंसा सुनी है।

उसी महाभारत के सभा पर्व में दुर्योधन अपने पिता धृतराष्ट्र से कहता है—

राजन् परिणतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः।
प्रतिपन्नान् स्वकार्येषु संमोहयसि नो भृशम्॥

हे राजन् आप परिपक्व ज्ञानवाले, जितेन्द्रिय और वृद्धसेवी हैं। धृतराष्ट्र युधिष्ठिर से उनकी प्रशंसा मे कहते हैं। (महा-भारत सभा पर्व)

वेत्थ त्वं तात धर्माणां गतिंसूक्ष्मां युधिष्ठिर।
विनीतोऽसि महाप्राज्ञ वृद्धानां पर्युपासिता ॥

हे तात, तुम विनयी और बड़े बुद्धिमान हो, तुम वृद्धजनों की सेवा करनेवाले हो, धर्म की बारीकियों को जानते हो।

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १६३ में भीष्मपितामह युधिष्ठिर से कहते हैं—

दानेन भोगी भवति मेधावी वृद्धसेवया।
अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः ॥

दान से मनुष्य भोग्य पदार्थों को प्राप्त करता है। वृद्धों की सेवा करने से मेधावी होता है और अहिंसा (मन, वचन और कर्म से प्राणिमात्र का हित साधन) से दीर्घायु की प्राप्ति करता है, ऐसा ज्ञानी बुद्धिमान पुरुष कहते हैं।

लक्ष्मीजी कहती हैं—मैं (वृद्धोपसेवानिरते च दान्ते) वृद्धों की सेवा करनेवाले जितेन्द्रिय मनुष्य के पास सदा रहती हूं। वृद्धजनों की सेवा और मदद द्वारा उनकी आत्मा को सब प्रकार से प्रसन्न रखना और शक्तिशाली बनाना हमारा परम धर्म है। जैसे किसान अपनी खेती के शेष भाग की उत्तम बीज के लिये रक्षा करता है जिससे आगे इन्हीं बीजों से पैदा हुए पौधे भी मजबूत हों। इसी तरह बीज रूपी आत्मा भी पहले जन्म में जितनी शक्तिशाली, ज्ञानसम्पन्न तेजस्वी होगी, पुनर्जन्म में भी वही शक्ति कायम रहेगी और वे शक्तिशाली आत्माएँ, ज्ञानी, तेजस्वी, तपस्वी, महापुरुषों के शरीर धारण कर हमारे भावी समाज को अत्यधिक समुन्नत और शक्ति-सम्पन्न बनायेगी।

पितृपूजा का तात्विक विवेचन

आत्मा का नाश नहीं होता है क्योंकि आत्मा अजर-अमर है। आत्मा के साथ भावना भी बराबर बनी ही रहती है। तत्त्वों से बना यह मानव शरीर अन्त में तत्त्वों में ही समा जाता है। अतः वह शरीर छोड़ने के पश्चात् भी तत्त्वरूप (पितृ) से हमारे कल्याण की कामना करते हैं। उनका हम से इतना गहरा सम्बन्ध हो जाता है कि तत्त्वरूप होकर भी उनकी भावना निरन्तर हमें फलता-फूलता देखने की ही रहती है। हम जो समय २ पर पित्रेश्वरों की पूजा श्राद्ध आदि करते हैं वह तत्त्वों की ही पूजा है। कारण मृत्यु पश्चात् मनुष्य तत्त्वरूप हो जाता है। जैसे—शास्त्रों में आया है। पिता—वसु (वायु) रूप, पितामह रुद्र (जल) रूप, प्रपितामह आदित्य (सूर्य) रूप है अर्थात् वायु, जल, सूर्य रूप होकर तत्त्वरूप पित्रेश्वर हमारी सर्वदा रक्षा करते रहते हैं तथा तत्वों की पूर्णता को प्राप्त होकर फिर हमारे घरमें पुत्रादि रूप में आ जाते हैं तथा गृहस्थ-रूपी फूलवाड़ी को हरीभरी कर देते है।

शुक्ल यजुर्वेद सं० १९।६७

येचेह पितरो येचनेह यांश्च विद्मयांर उचनं प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यतिते जातवेदः स्वधाभि र्यज्ञं सुकृतं जुषस्व॥

अर्थात् जो पितर इस लोकमें हैं तथा जो इस लोकमें नहीं

हैं। जिन पितरों को हम नहीं जानते हैं तथा जिन पितरों को हम जानते हैं। हे अग्निदेव। उनको तुम जानते हो। पितृ (तत्व) निमित्त जो अन्न-जल दिया जाता है ऐसे यज्ञ का तुम उपभोग (सेवन) करो।

शुक्ल यजुर्वेद १६।६०

ये अग्निष्वात्ता: ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिव:स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराडसुनीति मे तां यथा वशं तन्वं कल्पयाति॥

जो पितर अग्नि से दग्ध हुए हैं तथा जो अग्नि से दग्ध नहीं हुए हैं। वे सब स्वधान्न को भक्षण कर प्रसन्न होते हैं। उन पितरों के लिये यम चिरकाल जीवन पुनः प्रदान कर। इस तरह हम अपने पितरों का आवाहन करते हैं। जिससे पुनः संसार में जन्म लेकर हमारी रक्षा करते हैं तथा पुत्र, धन उत्पन्न करते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद १६।६६

त्वमग्नईडितः कव्यवाहनावाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधयाते अक्षन्नद्धि त्वंदेव प्रयताहवींषि॥

हे ऋषि-महर्षियों से स्तुत कव्यवाहन! तुम सुगन्धित अन्न को धारण कर हमारे पितरों को प्रसन्न करते हो। उस अन्नको तुम भी भक्षण करो।

आर्षग्रन्थ स्पष्ट आदेश देते हैं कि:—

हे वसु! रुद्रादित्यरूप मेपितः इदंअन्नं
इमा आपः इदं मधुगृहाण।

अर्थात् हे वसु ! हे रुद्र ! हे आदित्य रूप ! मेरे पित्रेश्वरो ! मेरे द्वारा दिया हुआ जल अन्न और मधु ग्रहण करो।

जो गृहस्थरूपी फूलवाड़ी है वह पित्रेश्वरोंकी ही देन है। उनकी दयामय पवित्र भावना से हम सुख सम्पत्ति का उपभोग करते हैं। इसलिये हमें अपने तत्वरूप माता-पिता की स्मृति सदा जीवित (बनी) रखने के लिये श्राद्ध-तर्पण, वलवैश्वदेवादि हमेशा शास्त्रोक्त नियमानुसार वार्षिक एवं पर्वादि तिथियों में यथा विधि करना चाहिये। जिससे हमारा कल्याण हो।

मां-बापका सन्तानके प्रति कर्त्तव्य

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के भिन्न २ अङ्गों के प्रति मानव के भी भिन्न २ कर्त्तव्य होते हैं। इन्हीं के अन्तर्गत प्रधान कर्त्तव्य, सन्तान का लालन-पालन, चरित्र निर्माण, शिक्षा-दीक्षा, तथा सर्वतोभावेन सुयोग्य एवं सम्पन्न बनाना है। विशेषतया इस चरित्र शिक्षादि का निर्माण माता पर निर्भर है। जिसका वर्णन हमारे शास्त्र विशारदो ने जगह २ किया है।

बच्चेके जबतक पूरे जाड दांत न आजांय तबतक माताका दूध पिलाना चाहिये। माताके दूध से प्राप्त शक्ति के आधार से ही हम जीवनभर सुख सम्पत्तियों का उपभोग करते हैं। मातृ दुग्ध से ही अस्थि निर्माण होना कहा है जिनके बलपर यह मानवशरीर खड़ा

रहता है। माता के दुग्ध से ही मानव को पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। यदि हम किसी कारण से बचपन में मातृ दुग्ध से वंचित रह गये तो जानो हम पुरुषार्थ से हीन रह गये, जैसे—रामायण में आया है।

जब मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी लङ्काविजय कर वापिस आरहे थे उस वक्त का प्रकरण है। भगवान् के साथ में ही लक्ष्मण, जानकी एवं हनुमान जी थे। राहमें हनुमानजी ने कहा मैं, अपनी मातासे मिलकर आता हूं तब भगवान् ने कहा हम भी साथ चलगे। ऐसा निश्चय कर वे सब-के-सब माता अंजनी के घर गये।

वहां पहुंचते ही माता अजनी ने सबका आतिथ्य किया तथा पुत्र हनुमानजी से कहा कि साधारण से कार्य्य के लिये (सीता के लिये) तुमने इन सब को कष्ट दिया। तुम स्वयं ही कर सकते थे। इस बात को सुनकर लक्ष्मणजी को आश्चर्य हुआ तथा कहा हे माता आप इसे छोटासा ही कार्य्य समझती है ऐसी क्या बात है। इस बात के सुनते ही अंजनी ने अपने स्तन से दूध की धार सामने पर्वत की चट्टानपर मारी जिस धार से चट्टान के टुकड़े हो गये। तब माता ने कहा मेरे दूधसे पले बालक की ताकत भी पूर्णरूप से मैं ही जानती हूं। अस्तु लिखने का तात्पर्य्य यह है कि मातृ-दुग्ध से जो शक्ति हमें प्राप्त होती है वह शक्ति हमें संसारमें दूसरे किसी भी पदार्थसे नहीं मिल सकती है।

अतः हरएक माता से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि ऐसे मौके को हाथ से न निकलने दें। ज्ञान सहित संयम से रहते हुए बच्चेको पूर्णदूध पिलाने का यत्न करें।

पशु-पक्षी भी अपने बच्चे को ज्यादा से ज्यादा दूध पिलाने की इच्छा रखते हैं। फिर माता की तो बात ही क्या! वह तो ज्ञानशील प्राणी है। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में मातृ-दुग्ध के पराक्रम की कथाएँ जगह २ आई हैं उसे आप लोग जानते ही हैं। माता की निगरानी पाँच वर्ष तक पूर्णरूप से रहनी चाहिये। आजकल जिस प्रकार बच्चों को दायी, ग्वाले आदि नौकरों को सौंप, मां अपने कर्त्तव्य को पूरा समझती है—यह बड़ी भारी भूल है। माता के चरित्र का जो प्रभाव बच्चेपर पड़ना चाहिये वह न पड़कर उन नौकरों का प्रभाव उन बच्चों के जीवन पर आजीवन बना रहता है जो उनके संसर्ग में आरम्भ से रहते हैं। माता और बच्चे के प्रेम में इससे बाधा पहुंचती है। स्नेह सूत्रसे ही सृष्टि का व्यवहार है। आजकल की माता अपने को साजशृङ्गार में लीन रखती है। फैशन-परस्ती, सिनेमा, थियेटर आदि कार्यों में व्यस्त रहती है। वे केवल बच्चे पैदा करना मात्र अपना धर्म समझती हैं। अगर बच्चा साफ-सुथरा, चिकना-चुपड़ा हो और वस्त्र भी स्वच्छ हो तो किसी आगन्तुक व्यक्ति की तरह पाँच मिनट दिखावटी प्रेमकर अपने को भाग्यवान् समझती है। यों तो प्रत्येक साफ सुथरे बच्चे पर हरएक आदमी का आकर्षण होना स्वाभाविक ही है चाहे वह बच्चा पशु का ही

क्यों न हो। परन्तु वास्तव में माताका शृङ्गार सजावट, पूजा-पाठादि बच्चों की सेवा (पालन) ही है। माता के शील-स्वभाव तथा सेवा कर्म से ही उनका आसन सब से ऊँचा है।

बच्चों के साथ कभी भी उनकी इच्छा के प्रतिकूल जिद न करना चाहिये तथा न कभी उन्हें भय दिखलाना चाहिये। प्रेमके व्यवहार से ही उनसे काम लेना चाहिये। बच्चे की प्रसन्नता से उसके शारीरिक अवयवों की अभिवृद्धि एवं विकास होता है।

अस्वस्थता के समय में भी शान्ति का पूरा खयाल रखना चाहिये। शान्ति से ही पूर्ण आरोग्यता मिलती है। यह हमेशा ध्यान रखना चाहिये कि उनकी शान्ति कभी भंग न हो। पाँच वर्ष तक बच्चे की पशुसंज्ञा (अज्ञानी) मानी गई है क्योंकि तब तक उसे अपने पराये एवं भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता है। बच्चा देवस्वरूप है अर्थात् शुद्ध आत्मा है। किसी के प्रति किसी प्रकार के बुरे विचार या दुर्भावना उसके दिल में नहीं रहती है तथा पाप पुण्य से रहित है।

बच्चे के चरित्र-निर्माण के लिये ऐतिहासिक, पौराणिक तथा वीरोचित सुन्दर गाथाएँ सुनानी तथा समझानी चाहिये। किसी भी समय बच्चे को झूठे दमदिलासा देकर भुलावेका प्रयत्न न करना चाहिये। इससे बच्चे को झूठ की शिक्षा मिलती है तथा अपने लिये भी झूठ बोलने का प्रोत्साहन मिलता रहता है।

बच्चों को रात में कभी भी चुस्त कपड़े न पहनाने चाहिये क्योंकि इससे रक्त के आवागमन में बाधा पड़ती है जिससे स्वा–

स्थ्यपर बुरा प्रभाव पड़ता है। उनको ऋतु के अनुकूल ढीले वस्त्र पहनाने चाहिये। सर्दी-गर्मी से रक्षा का सदा ध्यान रखना चाहिये।

शास्त्रीय आदेशानुसार जातकर्म, नामकर्म, अन्नप्राशन, चौलकर्म, कर्णवेधोपरान्त आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार द्विजत्व की प्राप्ति के लिये होना परमावश्यक है। इसके पश्चात् पाठशाला में विद्याध्ययन करवाना चाहिये। पचीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ विद्याध्ययन द्वारा पूर्णज्ञान प्राप्तकर सर्वतोभावेन सुयोग्य बन गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये।

आज के बच्चे ही कलके लीडर (अग्रणी) राष्ट्र के कर्णधार हैं। उन्हीं पर जाति, समाज, देश एवं राष्ट्र की उन्नति निर्भर है। वे ही राष्ट्र के भावी स्तम्भ हैं। अतः उनकी प्रसन्नता, स्वास्थ्य, विचारधारा आदि का ख्याल रखना अत्यावश्यक है।

बच्चेकी हरएक गति-विधि, खान-पान आदि का पूरा २ ध्यान रखना परमावश्यक है। इनमें किसी प्रकार की असावधानी होने से फिर जीवन पर्यन्त चरित्र व स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः बच्चेको देरसे पचनेवाले गरीष्ठ अप्राकृतिक स्थूलमेदा बनानेवाले आहार (मावा, रबड़ी, छेना, पशुदुग्धादि) न देकर, शुद्ध प्राकृतिक मधुर स्नेहयुक्त सूक्ष्म मेदा बनानेवाले सुपाच्य दलिया, खिचड़ी, मेवा, एवं फलों का रस प्राकृतिक दुग्धयुक्त ताजा अन्न आदि देना चाहिये। बच्चेको भोजन के लिये प्राकृतिक ताजा अन्न को पीस (अथवा क्षीरी अवस्थावाले) अच्छी तरह छान तथा गरम

कर सीठा बनाकर देना चाहिये। इस प्रकार का शिघ्रपाची अन्न उसकी सुकोमल अंतड़ियों में किसी प्रकार की विकृति पैदा न कर उसके समुचित विकास का सहायक होगा। आवश्यकतानुकूल उसे मिताहार देना चाहिये।

हमारे यहाँ प्राचीनकाल में जो मिठाइयां बनती थीं वे बहुत दिनों तक स्थिर रहनेवाली एवं आरोग्यप्रद थीं। इसका कारण यह था कि उनमें सूक्ष्म मेदा बनानेवाले प्राकृतिक पदार्थ होते थे।

जैसे—पिस्ते की बर्फी, बादाम की बर्फी, नारियल की बर्फी, बीजों की बर्फी, तिलों की बर्फी, अनेक किस्म की चीनी की बर्फी, आटे व बेसन की बर्फी, आटे के, वेसनके लड्डु, सीरा (लपसी) विना घृत का, गुड़ की सहल, वतासे, चीनो के खिलौने, फलोंके मुरब्बे, कुम्हड़ा आदि। इन वास्तविक मिठाइयों के व्यवहार से स्वास्थ्य ठीक रहता था। ये अस्वस्थ अवस्था में भी किसी तरह का विकार पैदा नहीं होने देती।

मियादी बुखारवाले को भी पुराने लड्डू खोजकर दिये जाते थे क्योंकि उनके लिये ये हितकर एवं शक्तिदायक होते थे। प्राकृतिक मिठाइयों के व्यवहार से हमारे पूर्वज पराक्रमी होते थे। पहिले नमकीन चीजें तैल में तली जाती थीं। पश्चात् रुपान्तर होने लगा। धीरे २ घृतका चलन हुआ। घृतके लड्डू बनने लगे, फीकी चीज भी घृतकी बनने लगीं। हम मुलायम चीजों के इच्छुक बने। मावा, छेना की मिठाइयां बनने लगी। हम कोमलता के वशीभूत हो गये। आज हमने उसका यह रूप

बना लिया। ये चीजें इतनी कोमल हो गई कि बिना श्रम ही खायी जाने लगी।

विशेष घृतयुक्त होने से ये चीजें एक-दो दिन में ही दुर्गन्ध देने लग जाती हैं यह प्रत्यक्ष है। ये दुर्गन्धयुक्त चीजें शरीरमें जाकर पेट में दुर्गन्ध पैदाकर दूषित बना देती हैं जिससे स्वास्थ्य खराब हो जाता है। हमारी अँतड़ियों को कमजोर एवं विकृत कर नाना प्रकार की बीमारियों को पैदा करती है तथा अग्निको मन्द कर देती है। हमारे अनुभवी इन अप्राकृतिक मिठाइयों को गरिष्ठ एवं भारी बताते हैं।

मिठाइयों का यह रूप भारतवर्ष के कुछ हिस्सों में ही है और कहीं नहीं है। पाश्चात्य देशों में आपको जो मिठाइयाँ मिलेगी वे तेलसे बनी अथवा चीनी की बनी घृत रहित ही मिलेगी। भोजन जो किया जाता है वह गुण के लिये किया जाता है।

अतः हमें अपने स्वास्थ्य का ख्याल रखते हुए विवेक वती बुद्धि द्वारा सत्यासत्य का निर्णयकर प्रकृति-प्रदत्त पदार्थों के बलपर ही जीवन यापन करना चाहिये। विषाक्त अप्राकृतिक पदार्थों का त्याग तथा अमृतमय प्राकृतिक पदार्थों का ग्रहण, इसी मे अपना उत्थान है।

ब्रह्मचर्य की महिमा

आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ।
न तस्य किंचिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप ॥

भीष्मपितामह कहते हैं कि हे युधिष्ठिर जो जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहता है उसके लिये संसार में कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं है, जो चाहे पा सकता है। (ब्रह्मचर्य से शक्ति प्राप्त होती है और शक्तिमान् पुरुष के लिये कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है।)

सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम् ।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम् ॥

सदा सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य पर आचरण करनेवाले, इन्द्रियों का पूर्ण निग्रह करनेवाले, ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारियों का ब्रह्मचर्य व्रत सारे पापों, दुःख और दुर्गुणों को जला डालता है। तात्पर्य यह कि कोई पाप, दुःख, शोकादि उनके पास तक नहीं फटक सकते।

बिभेति हि यथा शक्रो ब्रह्मचारिप्रधर्षितः ।
तद् ब्रह्मचर्यस्य फलमृषीणामिह दृश्यते ॥

ब्रह्मचारी के क्रोध से इन्द्र जैसे पराक्रमी एवं सर्वैश्वर्यशाली राजा को भी भय होता है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी की

अतुलित शक्ति के सामने बड़े-से बड़े राजाओं को हार माननी पड़ती है। इस ब्रह्मचर्य के फल को, उसकी महिमा को ऋषि तुल्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी इस लोक में प्रत्यक्ष देखते हैं।

अथर्ववेद काण्ड ११ सूक्त ५

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः सं मनसो भवन्ति।
सदाधारपृथवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति।

ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन करता हुआ विद्यार्थी ही पृथ्वी और द्यु लोक (सूर्यादि लोक) के रहस्यों की खोज कर सकता है। अर्थात् भूगोल और खगोल की सारी विद्याएँ प्राप्त करने की शक्ति लाभ कर सकता है। सारे देवगण (परमात्मा, अग्नि, जलादि तत्त्व, आत्मा एवं इन्द्रियादि तथा समस्त विद्वान्) उसके अनुकूल होकर उसकी सहायता करते हैं। वह अपने विद्यादि सामर्थ्य से पृथ्वी और द्यु लोक को मनुष्यमात्रके लिये अधिकसे अधिक कल्याणकारक बना सकता है अर्थात् उनसे बहुत अधिक लाभ उठा सकता है। (तात्पर्य यह है कि प्रभु की सृष्टि से अनंत लाभ उठाया जा सकता हैं परन्तु तपस्वी और ज्ञानी पुरुष ही वह लाभ उठा सकते हैं, साधारण लोग नहीं। गङ्गाके अविरत प्रवाह से जहां अज्ञानी मनुष्य एक चुल्लू जल ले सकता है वहीं बुद्धिमान् गङ्गा में जहाज चलाकर लाखों मन खाद्यान्न लोगों तक पहुंचा सकता है।) ब्रह्मचारी ही अपने ब्रह्मचर्य से गुरु की महिमा को बढ़ा सकते हैं, जैसे सुक्षेत्रमें बोया हुआ बीज ही उपज सकता है—ऊपरमें पड़ा हुआ नहीं। उसी प्रकार

सत् शिष्य को पढ़ाकर ही गुरु का श्रम सफल होता है। उसको यश मिलता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते:॥

ब्रह्मचर्यरूपी तपसे ही राजा (राष्ट्रपति) राष्ट्र की विशेष रूपसे रक्षा करने की योग्यता प्राप्त करता है। पूर्ण ब्रह्मचर्य रह-कर जिसने विद्या प्राप्त की है एवं जिसको गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त है वही सच्चा आचार्य (गुरु) होने की योग्यता रखता है।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति॥

ब्रह्मचर्य से रहकर और विद्या प्राप्त कर कन्या अपने योग्य ब्रह्मचारी युवा पति को प्राप्त करे (तभी गृहस्थाश्रम सुचारु रूपसे चल सकता है)। सांढ़ और घोड़े भी ब्रह्मचर्य से रहकर ही भरपेट घास खाकर पुष्ट होते हैं पश्चात् संतानोत्पत्ति के योग्य होते हैं।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥

ब्रह्मचर्यरूपी तप के द्वारा ही देवगण मृत्यु पर विजय पाते हैं (ब्रह्मचारी इच्छामृत्यु हो जाते हैं, मृत्यु से उन्हें लेशमात्र भी भय नहीं होता)। देवराज इन्द्र ब्रह्मचर्य के द्वारा ही देवों का सुख सम्पादन करते हैं। (ब्रह्मचर्य पूर्वक रहता हुआ राजा ही ब्राह्मणों

अर्थात् विद्वानों को सुखी कर उनके द्वारा धर्म की मर्यादा कायम रख सकता है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही आत्मा इन्द्रियों को सच्चा सुख प्रदान कर सकती है)।

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः॥
पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते याता ब्रह्मचारिणः॥

औषधियां (अन्न शाकादि के पौधे), भूत, भविष्य, दिन-रात, वृक्षादि एवं संवत्सर (वर्ष) इन सबों में ऋतुकाल है। इनमें क्रम है, पूर्वापरता है, पुष्प फल लगने के पृथक् समय हैं। अतएव इस जड़ सृष्टि में भी ब्रह्मचर्य के नियम का पालन हो रहा है। पृथ्वी, आकाश जङ्गल और ग्राम के रहनेवाले पशु पक्षी आदि सभी ऋतुकाल का पालन करते हैं अर्थात् समय पर ही सन्तान उत्पत्ति की क्रिया करते हैं, अतएव वे सब के सब ही ब्रह्मचारी हैं। गृहस्थ आश्रमवाले मनुष्य को भी ऋतुकाल में ही सन्तानोत्पत्ति निमित्त ही स्त्री प्रसंग करने की वेदों की आज्ञा है। वैसा ऋतुकालाभिगामी पुरुष भी ब्रह्मचारी ही है; जैसा कि यह मन्त्र कह रहा है। मनु महाराज भी कहते हैं—

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र कुत्राश्रमे वसन्॥

अर्थात् ऋतुकाल के अभिमानी और अपने पति वा स्त्री में ही निरत रहनेवाले गृहस्थाश्रमी स्त्री-पुरुष भी ब्रह्मचारी ही हैं।

श्रीमद्भागवत सप्तम स्कन्ध के १४ वें अध्याय में महाराज युधिष्ठिर के प्रश्न पर नारदजी गृहस्थधर्म के सम्बन्ध में उपदेश करते हैं—

सत्संगाच्छनकैः संगमात्जायात्मजादिषु ।
विमुञ्चेन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः ॥

गृहस्थ को सदा सत्संग (अर्थात् धर्मात्मा, विद्वान्, परोपकारी, कर्मनिष्ठ एवं पवित्र आचरणवाले श्रेष्ठ पुरुषों का संग) करना चाहिये। स्त्री पुत्रादि में आसक्ति या ममत्व त्यागना चाहिये। परिवार पालन, और अपना कर्त्तव्य ईश्वरीय आज्ञा समझकर करना चाहिये।

यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः ।
विरक्तो रक्तवत्तत्र नृलोके नरतां न्यसेत ॥

गृहस्थाश्रम के लिये अर्थ (धन) की नितान्त आवश्यकता है (क्योंकि धन के बिना परिवार पालन पंच महायज्ञ आदि गृहस्थ के व्यापार चल नहीं सकते) धन का उपार्जन धर्मानुकूल साधनों से करने में यथाशक्ति तत्पर रहे। पर अपने शरीर और गृह आदि में आसक्त न हो जावे। शरीर तो धर्मार्जन का पहला और बड़ा साधन है और उसकी रक्षा कर उसे स्वस्थ और कार्य के योग्य बनाये रखना अपना आवश्यक कर्त्तव्य है परन्तु मिथ्या देहाभिमान, शरीर की सजावट और शृङ्गारादि में लिप्त न होना चाहिये। गृहस्थ को उचित है कि वह कभी भी पुरुषार्थ में (आलस्य) असावधानी न आने दे।

अर्थ से प्रयोजन है उस साधन से जिससे भौतिक शरीर की आवश्यकताएं पूरी हो सके और शरीर स्वस्थ रहकर धर्म की प्राप्ति में साधक हो सके। अतएव अर्थ आवश्यक रूप से सिक्के या नोट को ही नहीं कहते हैं। सिक्के या नोट अर्थ तभी कहला सकते हैं जबतक उनका चलन है और वे शरीर के लिये आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं। शरीर के भोग्य पदार्थों की प्राप्ति तो पृथ्वी माता से ही होती है। मनुष्य की सारी आवश्यकताएँ पृथ्वी माता से ही पुरुषार्थ द्वारा पूरी होती हैं। अतएव हमारे लिये सच्चा धन तो पृथ्वी ही है।

ज्ञातयः पितरो पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे।
यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः॥

माता-पिता, पुत्र, भाई, कुटुम्बी और मित्र जो कहें अथवा इच्छा कर उसका यथाशक्ति आसक्ति रहित होकर अनुमोदन करे। ये लोग जो कुछ कहते हैं वे हमारे हित के लिये ही कहते हैं इसलिये उनके कथनानुसार करने में ही अपना और उनका कल्याण होगा। यदि वे अपने लिये भी कुछ इच्छा करें तो उसकी पूर्ति भी तन-मन-धन से करनी चाहिये।

दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम्।
तत्सर्वमुपयुञ्जान एतत् कुर्यात् स्वतो बुधः॥
यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

दैव (पूर्व जन्म के कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त) भौम (पुरुषार्थ द्वारा पृथ्वी माता से प्राप्त) एवं आन्तरिक्ष (अयाचित एवं अकस्मात् प्राप्त) तीनों प्रकार के जितने भी धन हैं वे सब परमात्मा के ही न्यास या थाथी के रूप में हैं। सब मनुष्यों को यह अत्यन्त उचित है कि वे ऐसा ही समझकर अपने प्राप्त धन का उपभोग कर वे जितने धन से अपना निर्वाह हो सकता है उतना ही धन अपना है। बाकी धन जो अपने पास है वह दूसरों के लिये अपने पास ट्रस्ट स्वरूप ईश्वर ने दिया है अतएव अपनी उदरपूर्ति के योग्य धन से अधिक धन को अपना समझना अज्ञानता है और दण्डनीय है। उसे प्राणिमात्र के हित में ही लगाना चाहिये।

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृपखगमक्षिकाः।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत्॥

मृग, ऊँट, गदहा, बन्दर, चूहा, सर्प, पक्षी, मक्खी अर्थात् प्राणिमात्र को पुत्र के समान प्रेम की दृष्टि से देखे। सारे प्राणीमात्र को ही अपना समझे। किसी से भेदभाव न रखे।

त्रिवर्ग नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि।
यथादेशं यथाकालं यथादैवोपपादितम्॥

त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति गृहस्थ भी अत्यन्त कष्ट के साथ न करे। देश, काल और ईश्वरेच्छा से पुरुषार्थ द्वारा जो प्राप्त हो सके उतने से सन्तुष्ट रहे। अर्थ और काम की प्राप्ति तो गृहस्थ के लिये आवश्यक है ही धर्म तो सबके

लिये ही प्रयोजनीय है परन्तु इन सबकी प्राप्ति के लिये भी शरीर को अत्यधिक कष्ट न देवे। धन की प्राप्ति के लिये थके होने पर भी खटते जाना और धर्मानुष्ठान के लिये दीर्घकालव्यापी उपचासादि से शरीर को क्षीण करना वर्जनीय है।

आश्वाघान्तेवसायिभ्य कामं सं विभजेद्यथा।
अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः॥

अपने प्राप्त साधनों से कुत्ते, पतित, चाण्डाल आदि तक को भाग देवे। बलिवैश्व, अतिथि सत्कार आदि कार्यों करने के लिये अपनी एकमात्र स्त्री तक को विशेष रूपसे नियुक्त करे।

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद् वृत्तिमात्मनः।
शेषे स्वत्वं त्यजन्प्राज्ञः पदवीं महतामियात्॥

पवित्र साधनों से धन उपार्जन करना चाहिये और इस प्रकार उपार्जित धन को यज्ञ कार्य में लगाना चाहिये। यज्ञ से बचे हुए धन से ही जीवन निर्वाह करे उसी को अपना समझे, बाकी धन को अपना न समझे। इस प्रकार जीवन यापन करने से मनुष्य अत्यन्त उच्च पद को प्राप्त होता है।

यज्ञ शब्द के तीन अर्थ होते हैं—'देवपूजा', 'संगतिकरण' और 'दान'। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि देवों की प्रसन्नता सम्पादन करने के लिये होम यज्ञ करना, विद्वान् महात्मा सत्पुरुषों की संगति करना तथा उनकी सब प्रकार से सेवा और मदद करना एवं दीन, दुःखी, सत्पात्रों को दान देना ये सारे सत्कर्म 'यज्ञ' के अन्तर्गत हो जाते हैं। इन

सब कर्मों में धन लगाकर बाकी धन अपने उपयोग में लाना इसी को शास्त्रों में यज्ञ शेष का भोग करना कहा गया है।

देवानृषीन् नृभूतानि पितॄनात्मानमन्वहम्।
स्ववृत्त्यागतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक्॥

अपने गुण कर्म स्वभाव के अनुकूल सद्वृत्ति से प्राप्त धनके द्वारा देवयज्ञ (अग्निहोत्रादि), ऋषि यज्ञ (स्वाध्याय, विद्या प्रचार आदि), नृयज्ञ (अतिथि सत्कार), भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव अर्थात् कुत्ता, कौवा, कीटादि, तथा कठिन रोगों से पीड़ित एवं अन्य प्रकार से पुरुषार्थ करने में असमर्थ मनुष्यों को अन्नदान) पितृ-यज्ञ (माता-पिता की सेवा एवं पितृ श्राद्धादि) करे, अपनी आत्मा को सन्तुष्ट रखे एवं अन्तर्यामी परमात्मा की आराधना करे।

यद्ध्यात्मनोऽधिकाराद्याः सर्वाः स्युर्यज्ञसम्पदः।
वैतानिकेन विधिना अग्निहोत्रादिना यजेत्॥

अपने जो अधिकार आदि हैं वे सभी यज्ञ की सम्पत्ति हैं ऐसा समझना चाहिये। जो कर्म जिस किसी पद या अधिकार से किये जायँ स्वार्थ की भावना से न किये जायँ, बल्कि उनके करने में प्राणिमात्र का हित ही लक्ष्य हो। इसके अतिरिक्त हवन यज्ञादि भी मण्डपादि निर्माण कर विधि के अनुसार किये जायँ।

न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान् सर्वयज्ञभुक्।
इज्यते हविषा राजन् यथा विप्रमुखे हुतैः॥

सब यज्ञों के भोक्ता परमात्मा का पूजन अग्निरूपी मुख में आहुति डालने से तो होता ही है उससे भी अधिक ब्राह्मणरूपी मुख में आहुति डालने से अर्थात् ब्राह्मणों की सेवा और सहायता करने से होता है। (वेदादि शास्त्रों में अग्नि को देवो का मुख कहा है। तात्पर्य यह है कि अग्नि में आहुति डालने से ही वह जल, वायु पृथ्वी, आकाश, सूर्यादि देवों को प्राप्त होती है और इससे वृष्टि द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण होता है। परमपिता की सन्तान प्राणिमात्र का यज्ञ द्वारा हित साधन ही परमात्मा की सच्ची पूजा है। इसी कारण परमात्मा को यज्ञों का भोक्ता कहा गया है)। जिन ब्राह्मणों की सेवा सहायता का स्थान हवन यज्ञ से ऊपर कहा गया है वे ब्राह्मण कैसे हों उसके सम्बन्ध में नारदजी युधिष्ठिर से आगे चलकर यों कहते है—

पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः।
तपसा विद्यया तुष्टया धत्ते वेदं हरेस्तनुम्॥

हे राजन् मनुष्यों में सत्पात्र, सच्चे ब्राह्मण को इसलिये कहा गया है कि उनमे तपस्या, विद्या और सन्तोप होते हैं। वे परमात्मा के ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञानमय वेदों को धारण करते हैं। (उन्हीं वेदों को धारण करते हैं। उन्हीं वेदों के प्रचार से संसार में धर्म की मर्यादा स्थिर रह सकती है। यज्ञादि सारे सत्कर्म ब्राह्मणों के वेद प्रचार द्वारा ही संसार में प्रवृत्त हो सकते हैं। अतएव सत्पात्र, विद्वान, तपस्वी, संतोषी, वेदज्ञ ब्राह्मणों की सेवा और सहायता करके उन्हें पेट की चिन्ता से मुक्त कर देना और इस

प्रकार उन्हें स्वाध्याय करने और वेद प्रचार द्वारा प्राणिमात्र के कल्याण के लिये प्रयत्न करने का सुयोग देना निःसन्देह सारे सत्कर्मों का मूल है। हां, जो लोग कोई समाजसेवा का कार्य नहीं करते और कमाने में जो परिश्रम होगा उससे बचने के लिये ही आलस्यवश भिक्षावृत्ति करते हैं ऐसे लोगों का वचन मात्र से भी सत्कार न करना चाहिये ऐसी शास्त्रों की स्पष्ट आज्ञा है। कारण, ऐसे लोगों की सहायता करने से संसार में अकर्मण्यता फैल जायगी जो वांछनीय नहीं है (मनु० अ० ४ में लिखा है—

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥

जो तपस्वी और विद्वान नहीं हैं एवं दान लेने में बड़ी रुचि रखते हैं ऐसे नाममात्र के ब्राह्मण अपने तो दुःखभागी होते ही हैं, अपने दाता को भी साथ ले डूबते हैं जैसे पत्थर की नाव पर चढ़कर समुद्र में तैरनेवाले समुद्र में डूब जाते हैं।

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वडालव्रतिके द्विजे।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२

बिडालव्रतवाले अर्थात् धर्म का दिखावा करनेवाले, लोभी हिंसायुक्त स्वभाववाले वकव्रती अर्थात् बगुला के जैसे ध्यान करने वाले परन्तु सदा अपने स्वार्थ की ही चिन्ता में लगे रहनेवाले एवं वेदादि शास्त्रों को न जाननेवाले नाममात्र के ब्राह्मण को कुछ दान न देना चाहिये।

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १६३

ऊपर कहे हुए इन तीनों प्रकार के मनुष्यों को अपनी पवित्र कमाई का भी धन देनेवाले दाता का तो धन नाशरूप तत्काल ही अनर्थ होता है, वैसे लेनेवालों के भी इह लोक परलोक बिगड़ जाते हैं।

श्रीमद्‌भागवत स्कन्ध ७ अध्याय १५ में के निम्नलिखित उपदेश विशेष माननीय हैं—

असंतुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते ॥

संतोषरहित पुरुष की विद्या, उसके तेज, तप और यश सारे के सारे उसकी इन्द्रियों की चञ्चलता के कारण चू जाते हैं, उसका ज्ञान छिन्नभिन्न होकर नष्ट हो जाता है।

कामस्यान्तं हि क्षुत्तड्भ्यां क्रोधस्यैतत् फलोदयात्।
जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः ॥

भूखे और प्यासे रहने से काम की समाप्ति हो जाती है। (भूख प्यास से पीड़ित व्यक्ति को काम नहीं सता सकता है।) क्रोध का अन्त क्रोध जिस कारण से हुआ उसके निवारण से हो जाता है। किन्तु लोभ का अन्त तो पृथ्वी की सारी दिशाओ को जीतकर एवं उनपर राज्य करके भी नहीं हो सकता है। (अत- एव लोभ मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है उसपर विजय करके ही मनुष्य सुखी हो सकता है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम धर्मानु-

कूल पुरुषार्थ करते हुए परमात्मा की व्यवस्था से हमें जो प्राप्त हो जाय उसीमें सन्तोष करें। दूसरे के धन पर मन न चलावें और न अन्याय से कोई वस्तु लेने की इच्छा करें।)

पण्डिताःबह्वो राजन् बहुज्ञाः संसयच्छिदः।
सदसस्पतयोऽप्येके असंतोषात् पतन्त्यधः॥

हे राजा युधिष्ठिर, संसार में शास्त्रों के पण्डित बहुत हैं, उनका ज्ञान अपार है और वे अपने विद्याबल से दूसरे के संशयों का समाधान भी कर सकते हैं। बहुतेरे चतुर वक्ता भी हैं ए सभाओं में अपनी वक्तृत्व शक्ति से जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर सकते हैं, उसे जिधर चाहें घुमा सकते हैं। परन्तु यदि एक असन्तोष उन विद्वान, शास्त्रज्ञ, व्याख्याताओं में है तो वह उनको नीचे गिराने के लिये पर्याप्त है। असन्तोष सारे सद्गुणों का नाश करनेवाला है अतएव हमें असन्तोष (लोभ) सर्वथा त्याग देना चाहिये।

असंकल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्षणात्॥

विषयों के चिन्तन से मन को हटाकर काम पर विजय प्राप्त करना चाहिये। काम वासना के त्यागने से क्रोध पर विजय होती है। लोभ पर विजय प्राप्त करने का उपाय यह है कि अर्थ से होनेवाले अनर्थों को समझे। अर्थ चार पदार्थों में से जो मनुष्य के लिये प्राप्तव्य कहे गये हैं अन्यतम है। संसारयात्रा (मनुष्य की) बिना अर्थ के एक क्षण भी नहीं चल सकती है

परन्तु उसके येनकेन प्रकारेण संग्रह करने से महान् अनर्थ भी होते हैं। इस बात को जो सर्वदा ध्यान में रखते हैं वे ही लोभ पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। भय पर विजय परमात्मतत्त्व के चिन्तन से होती है। परमात्मा हमारा पिता है, वह सब जगह वर्तमान है, हमें देख रहा है, हम उसके पुत्र हैं, वह हमारी रक्षा अवश्य करेगा। ऐसी दृढ़ भावना मन में रखने से हमें कदापि भय नहीं हो सकता है।

आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दंभं महदुपासया।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कामाद्यनीहया॥

वेदादि शास्त्रों की चर्चा एवं स्वाध्याय से शोक और मोह पर विजय प्राप्त होती है। दंभ या मिथ्या अभिमान पर विजय अपने से बड़ों की सेवा या संगत करने से होती है। व्यर्थ इधर-उधर की बातें करना एवं व्याधि आदि जो योग अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोध में बड़ी बाधाएँ हैं उन पर विजय पाने के लिये मौन का अवलम्बन करना ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। मन में कामादि के संकल्प न उठने देने से मनुष्य हिंसा या परपीड़न से निवृत्त होते हैं।

कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना।
आत्मनं योगवीर्येन निद्रां सत्त्वनिषेवया॥

भौतिक दुःख अर्थात् वे दुःख जो हमें दूसरे प्राणियों (चोर, सर्प, व्याघ्रादि) से प्राप्त हो सकते हैं कृपा अर्थात् प्राणिमात्र के हितचिन्तन और कल्याण साधन से दूर होते हैं। दैव

दुःख अर्थात् मन, इन्द्रियों की चञ्चलता, किंवा पूर्व जन्म में किये कर्मों के फलस्वरूप जो दुःख हमें प्राप्त होते हैं उनका नाश समाधि द्वारा परमात्मा के चिन्तन से होता है। (वस्तुतः किये कर्मों का फल तो भोगना होगा परन्तु साधारण पुरुष की अपेक्षा भक्तों को दुःख की अनुभूति बहुत न्यून किंवा नहीं के बराबर होती है, वे पर्वत के समान बड़ी विपत्ति में भी विचलित और अधीर नहीं होते हैं)। आत्मिक दुःख अर्थात् आत्मा और शरीर के दुःख रोगादि 'आसन' प्राणायाम आदि योग के अङ्गों के अनुष्ठान से दूर होते हैं।

रामगुण वर्णन

वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड प्रथम सर्ग में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रजी के गुणों का वर्णन—

स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते।
उच्यमानोपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते॥

रामचन्द्रजी सदा ही शान्त चित्त रहते थे। मधुर वचन बोलनेवाले थे उनके प्रति यदि कोई कठोर वचन कहे तो उसका उत्तर नहीं देते थे।

कदाचिदुपकारेण कृतेनकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥

उनका कोई एक बार भी कुछ उपकार कर दे तो उसे कभी नहीं भूलते थे। परन्तु उनकी बुराई बार-बार करने पर भी उसे भूल जाते थे, क्योंकि वे सबको अपना ही समझते थे।

शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः ।
कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि ॥

अस्त्रशस्त्र के अभ्यास से जो समय मिलता था उसमें वे चरित्रवान् ज्ञानी और वृद्धजनों के साथ ज्ञान की चर्चा किया करते थे ।

बुद्धिमान्मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः ।
वीर्यवान्न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः ॥
न चानृतकथो विद्वान्वृद्धानां प्रतिपूजकः ।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते ॥

वे बुद्धिमान् एवं सदा ही मधुर और प्रिय बोलनेवाले थे । मिलनेवालों से पहले ही बोलते थे उनके बोलने की प्रतीक्षा नहीं करते थे । बड़े पराक्रमशाली थे परन्तु अपने बल का लेशमात्र भी अभिमान आपमें न था । वे कभी असत्य भाषण नहीं करते तथा वृद्धों की पूजा सत्कार करनेवाले थे । वे प्रजा को चाहते प्रजा उनको चाहती थी ।

सानुक्रोशो जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः ।
दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवाञ्छुचिः ॥

वे दयालु थे क्रोध पर आपको विजय प्राप्त थी । ब्राह्मणों के पूजक, दीनों पर दया करनेवाले, धर्मज्ञ और इन्द्रियों को वश में रखनेवाले थे ।

कुलोचितमतिः क्षात्रं स्वधर्मं बहु मन्यते ।
मन्यते परया प्रीत्या महत्स्वर्गफलं ततः ॥

अपने कुल की मर्यादा का उन्हें ध्यान था। क्षात्रधर्म में अनुरक्त थे एवं प्रजापालन को सारे सुखों का मूल मानते थे।

नाश्रेयसि रतो यश्च न विरुद्धकथारुचिः।
उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा॥

सदा शुभकर्मों में रुचि रखनेवाले एवं सबके कल्याण में अपना कल्याण समझनेवाले थे। इधर उधर की बातों एवं वैर-विरोध की बातों में उनकी रुचि नहीं थी। कथोपकथन में युक्ति देने में आप बृहस्पति के समान थे।

आरोगस्तरुणो वाग्मी वपुष्मान्देशकालवित्।
लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः॥

वे सदा नीरोग रहते थे, उनकी युवावस्था स्थिर थी। वे चतुर वक्ता एवं प्रियदर्शन थे। किस मनुष्य में क्या सार (कौन कितने पानी में है) यह जान जाते थे और एक ही साधु थे।

स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः।
बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः॥

अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण वे प्रजा के शरीर से बाहर स्थित प्राण के समान थे। साधारण प्राण तो शरीर के भीतर रहकर ही शरीरधारी को जीवित रखते हैं परन्तु आपमें यह विशेषता थी कि आप प्रजा के शरीर से बाहर थे फिर भी प्रजा आपके ही कारण जीवित थी।

सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित्।
इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः॥

आप सारी विद्याओं को समाप्त करके स्नातक हुए थे। ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या समाप्ति के अनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था। शिक्षा, कला, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः शास्त्र और ज्योतिष इन छः वेदाङ्गों के साथ चार वेदों का अध्ययन किया था। अस्त्र शस्त्र की विद्या में तो अपने पिता से भी बढ़चढ़ कर थे।

कल्याणाभिजनः साधुरदीनः सत्यवागृजुः।
वृद्धैरभिविनीतश्च द्विजैर्धर्मार्थदर्शिभिः॥

वे कल्याणों के निधान और परोपकारी थे। क्षोभ के कारण उपस्थित होनेपर भी सदा अक्षुब्ध रहते थे। किसी भी अवस्था में असत्य भाषण नहीं करते थे। छल-कपट तो आपको छू तक नहीं गया था। आपकी शिक्षा, वृद्ध, ज्ञानी, धर्मात्मा, विद्वानों द्वारा हुई थी।

धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान्।
लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः॥

आप धर्म अर्थ और काम के यथार्थ स्वरूप को जानते थे। आपकी स्मरणशक्ति और प्रतिभा अपूर्व थी। लौकिक और सामयिक व्यवहारों में सफल पण्डित थे।

निभृतः संवृताकारो गुप्तमन्त्रः सहायवान्।
अमोघक्रोधहर्षश्च त्यागसंयमकालवित्॥

आप बड़े विनयी थे, आपके अभिप्राय गूढ़ रहते थे बाहरी आकृति पर उनका असर न दीख पड़ता था आपकी मन्त्रणा गुप्त रहती थी फल प्राप्ति पर्यन्त वह दूसरों पर प्रकट नहीं हो सकती

थी। राजकाज में आप मन्त्रियों से परामर्श लेकर कार्य करते। आपके क्रोध और हर्ष कभी निष्फल नहीं होते थे। जिस पर आपका क्रोध होता था उसका त्राण होना कठिन था जिस पर आपकी प्रसन्नता होती वह निहाल हो जाता था।

दृढ़भक्तिः स्थिरप्रज्ञो नासद्ग्राही न दुर्वचः।
निस्तन्द्रीरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित्॥

गुरु आदि मान्यजनों में आपकी दृढ़ भक्ति थी, आपकी बुद्धि निश्चल थी, आप असत् पुरुषों किंवा वस्तुओं का ग्रहण नहीं करते थे अनुचित विषयों में आपका आग्रह नहीं था। दूसरे के दिल को दुखा देनेवाले वचन नहीं बोलते थे। आप आलस्य नहीं करते थे। कर्त्तव्य कर्मों के सम्पादन करने में शिथिलता नहीं करते। अपने दोषों और दूसरों के दोषों को अच्छी प्रकार जानते थे।

शास्त्रज्ञश्च कृतज्ञश्च पुरुषान्तरकोविदः।
यः प्रग्रहानुग्रहयोर्यथान्यायं विचक्षणः॥

आप शास्त्रों के मर्म को समझनेवाले थे। अपने प्रति किये गये थोड़े से उपकार को भी नहीं भूलनेवाले थे। एक पुरुष से दूसरे पुरुष में क्या अन्तर है यह समझते थे अथवा किसी भी पुरुष के हृदय के भावों को जाननेवाले थे। यथोचित रीति से दण्ड या पुरस्कार की व्यवस्था करने में प्रवीण थे।

सत्संग्रहानुग्रहणे स्थानविन्निग्रहस्य च।
आयकर्मण्युपायज्ञः सदृष्टव्ययकर्मवित्॥

आप अच्छे पुरुषों को खोज-खोजकर अपने पास रखते थे। उनके तथा उनके परिवार आदि के पालन-पोषण की उचित व्यवस्था करते थे। किसको दण्डादि द्वारा निग्रह करना चाहिये यह भली प्रकार जानते थे।

प्रजा का शोषण न करते हुए भौंरा जिस प्रकार फूलों से मधु-संचय करता है उसी प्रकार आप प्रजा से कर संचय कर राजकोष की वृद्धि करते थे और अपने भोग-विलास में प्रजा का धन व्यय न कर प्रजापालन के कार्यों में ही उस धन के व्यय करने की जो शास्त्रविधि है उसको जानने और तदनुकूल करनेवाले थे।

श्रैष्ठ्यं चास्त्रसमूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च।
अर्थधर्मौ च संगृह्य सुखतन्त्रो न चालसः॥

आप शस्त्रास्त्र की विद्या में तो निपुण थे ही (वेदादि के पंडित तो प्रसिद्ध ही थे)। संस्कृत, प्राकृत, आदि भाषाओं के इतिहास नाटकादि ग्रन्थों से भी परिचित थे। धर्म और अर्थ के संग्रह जिससे बाधा न पहुंचे उसी मात्रा में काम (शारीरिक सुख आदि) का सेवन करते थे। धर्म और (धर्माचरण पूर्वक) अर्थ की प्राप्ति में आलस्य नहीं करते थे।

वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञातार्थविभागवित्।
आरोहे विनये चैव युक्तो वारणवाजिनाम्॥

आप मनोविनोद और निर्दोष क्रीड़ा सम्बन्धी कलाओं, गीत-वादित्र एवं चित्रकारी आदि के ज्ञाता थे। न्यायोचित पुरुषार्थसे

उपार्जित धन को पांच विभागों में बांटकर सद्व्यय करने की जो शास्त्रों की आज्ञा है आप उसे अच्छी प्रकार जानते थे। हाथी घोड़ों की सवारी करना तथा उन्हें अपने वश में रखने में भी आप निपुण थे। शास्त्रों में धन को समुचित रूप से धर्म प्राप्ति के लिये कीर्तिकर कार्यों के लिये, स्वशरीर एवं आत्मा तथा अपने स्त्री पुत्रादि कुटुम्बियों के लिये व्यय करने का आदेश है केवल एक काम में ही धन खर्च करना अनुचित है इस आदेश का सूचक श्लोक है—

"धर्माय यशसेऽर्थाय चात्मने स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च शोभते॥
धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसंमतः।
अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारदः॥

आप युद्ध विद्या में विशारद थे। महान् योद्धा के रूप में आप लोक में प्रसिद्ध थे। युद्ध के लिये कब प्रस्थान करना चाहिये कब शत्रु पर आक्रमण करना चाहिये, सेना का किस प्रकार सञ्चालन करना चाहिये, व्यूह आदि की रचना कैसी होनी चाहिये सारी बातें जानते थे।

अप्रधृष्यश्च सङ्ग्रामे क्रुद्धैरपि सुरासुरैः।
अनसूयो जितक्रोधो न दृप्तो न च मत्सरी॥

युद्धक्षेत्र में देवता और असुर आदि भी क्रोध करके आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकते थे और आपके सामने नहीं ठहर सकते

थे। यों तो आपमें परनिन्दा, क्रोध, अभिमान और वैर-विरोध का लेशमात्र भी नहीं था।

नावज्ञेयश्च भूतानां न च कालवशानुगाः।
एवं श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः॥

आपके अतुल तेज के कारण संसार का कोई प्राणी आपकी अवहेलना या अपमान करने का साहस नहीं कर सकता था। आप काल के वशवर्ती होकर चलनेवाले नहीं थे। (साधारण लोग समय की दुहाई देकर अपनी कमजोरी नहीं छोड पाते, धर्म के सिद्धान्तों पर नहीं चल सकते, कहते हैं क्या करें जमाना ऐसा ही है। परन्तु महापुरुष जमाने के प्रवाह में कदापि नहीं बहते वे अपने धर्म और पुरुषार्थ पर अटल रहते हैं और जमाने को अपने पीछे चलाते हैं स्वयं जमाने के पीछे नहीं चलते)। इन सारे श्रेष्ट गुणों से युक्त आप प्रजा के प्रिय थे।

संमतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणः।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्येचापि शचीपतेः॥

तीनों लोकों में आप आदरणीय थे। आप क्षमा में पृथ्वी के समान बुद्धि मे बृहस्पति एवं पराक्रम में इन्द्र के समान थे।

तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननः पितुः।
गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥

सारी प्रजा को अपने श्रेष्ठ गुणों के द्वारा इतने प्रिय होने के कारण श्रीरामजी पिता को ऐसे अच्छे लगते थे जैसा किरणों से शोभायमान सूर्य।

ऊपर लिखे इन सारे श्रेष्ठ गुणों के कारण ही भगवान् राम मर्यादा पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। हमें उनके चरणचिह्नों पर चलते हुए उनके वे सब गुण धारण करने का सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये।

कर्मणा मनसा वाचा त्याज्य और विहित कर्म

काय, वचन और मन से दश कर्मों को त्यागना उचित है, इस सम्बन्ध में भीष्म पितामह ने महाराज युधिष्ठिर को अनुशासन पर्व के तेरहवें अध्याय में निम्नलिखित श्लोकों में उपदेश किया है—

कायेन त्रिविधं कर्म वाचा चापि चतुर्विधम्।
मनसा त्रिविधं चैव दश कर्मपथांस्त्यजेत् ॥

शरीर से तीन प्रकार के, वचन से चार प्रकार के और मन से तीन प्रकार के कर्म त्याग देने चाहिये।

प्राणातिपातः स्तैन्यं च परदारानथापि च।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत् ॥

जीव हिंसा, चोरी और पर-स्त्री गमन—ये तीन कर्म शरीर से त्यागने योग्य हैं।

असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत् ॥

असम्बद्ध प्रलाप (बे मतलब की बात) कठोर वचन, पर-निन्दा (चुगली) और झूठ बोलना—ये चार वचन के कर्म त्यागने योग्य हैं।

अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम्।
कर्मणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसाचरेत्॥

पराये धन पर मन चलाना, दूसरों का अहित सोचना, नास्तिकता (अर्थात् वेदादि शास्त्रों की निन्दा करना एवं कर्म फल मे विश्वास न रखना) ये तीन मानस कर्म हैं जो त्याज्य हैं, मनुष्य को पराये धन पर मन न चलाना चाहिये, प्राणिमात्र से प्रेम रखना चाहिये। सुख दुःख जो हमें प्राप्त हो रहे हैं वे हमारे कर्मों के फल स्वरूप ही हैं ऐसा दृढ विश्वास रखते हुए ईश्वर में आस्था रखनी चाहिये एवं वेद और ईश्वर की निन्दा न करनी चाहिये।

ये शरीर, वचन और मनके जो दस कर्म त्याज्य बतलाये गये हैं उन्हें कदापि नहीं करना चाहिये। कारण इन कर्मों का करनेवाला तो व्यक्तिगत रूपसे दुःखका भागी होता ही है साथ ही दूसरे लोग उसके असत् कर्म से दुःख पायगे। उसकी देखादेखी दूसरे भी असत् कर्म में प्रवृत्त हो जायगे। इससे संसार का अहित होगा। अतएव इन त्याज्य कर्मों के त्यागने में ही अपना एवं प्राणी मात्र का कल्याण है।

एक वार पार्वती ने भगवान् शंकर से पूछा था—स्वामिन् किस शील, चरित्र और आचार से मनुष्य स्वर्ग जाते हैं? इसका

उत्तर भगवान् शंकर ने निम्न रूप से दिया है, जो महाभारत अनुसाशन पर्व के अध्याय १४४ में वर्णित है।

देवि धर्मार्थतत्वज्ञे धर्मनित्ये दमे रते।
सर्वप्राणिहितः प्रश्नः श्रूयतां बुद्धिवर्द्धनः॥

देवि, तुम धर्म एवं अर्थ के विशेष तत्व को जानती हो। तुम सदा ही धर्म में और इन्द्रिय दमन में रत रहती हो! तुमने जो प्रश्न किया उससे प्राणिमात्र का हित होगा और वह मनुष्यों की बुद्धि बढ़ायेगा। उसे सुनो—

नाधर्मेण न धर्मेण बध्यन्ते छिन्नसंशयाः।
प्रलयोत्पत्तितत्वज्ञाः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः॥

जो संशय से रहित हैं, प्रलय और उत्पत्ति के तत्व को जाननेवाले हैं। वे सर्वज्ञ समदर्शी अधर्म या धर्म के भी बन्धनमें नहीं बँधते। (धर्म का फल स्वर्ग और अधर्म का फल नरक है पर हैं दोनों ही बंधन। स्वर्ग में सुख तो होता है पर वह अन्ततः नाशवान् है। फलतः सकाम कर्म का परिणाम बन्धन है परन्तु संशयरहित एवं सृष्टि की विशेषता जाननेवाले महाजन भव बंधन में कर्म करते रहने पर भी नहीं पड़ते)।

वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः कर्मबन्धनैः।
कर्मणा मनसा वाचा ये न हिंसन्ति किंचन,
ये न सज्जन्ति कस्मिंश्चित्ते न बध्यन्ति कर्मभिः॥

कर्म, मन और वचन से जो किसी भी आत्मा को किसी भी

तरह का कष्ट न देते, जो राग और द्वेष से रहित तथा किसी भी विषय में लिप्त नहीं होते वे कर्मों के बन्धन में नहीं बँधते।

प्राणातिपाताद्विरताः शीलवन्तो दयान्विताः।
तुल्यद्वेष्यप्रिया दान्ता मुच्यन्ते कर्मबन्धनैः॥

जो इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त रहते हैं, शीलवान और दयालु हैं, शत्रु और मित्र को समान मानते हैं और जो मनको अपने वशमें रखते हैं वे कर्मों के बन्धनों से छुटकारा पा जाते हैं।

सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु।
त्यक्तहिंसासमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो प्राणिमात्र पर दया रखते जिन पर सभी प्राणी विश्वास करते और जिन्होंने हिंसा त्याग दी है और उत्तम आचारवाले हैं वे सुखी हैं।

परस्वे निर्ममा नित्यं परदारविवर्जकाः।
धर्मलब्धान्नभक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन दूसरे के धनपर कभी भी मन नहीं चलाते, परायी स्त्री से सदा ही विरत रहते हैं और धर्मपूर्वक पुरुषार्थ से अन्न उपार्जन करके भोगते हैं वे सुखी हैं।

मातृवत्स्वसृवच्चैव नित्यं दुहितृवच्च ये।
परदारेषु वर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन परायी स्त्रियों को सदा ही माता, बहन वा कन्या के समान समझते हैं वे सुखी हैं।

स्तैन्यान्निवृत्ताः सततं सन्तुष्टाः स्वधनेन च।
स्वभाग्यान्युपजीवन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन कभी भी चोरी नहीं करते, सदा अपने धनमें ही संतुष्ट रहते, अपने भाग्यानुसार (कर्म करते हुए) भाग्य पर ही विश्वास करके अपना निर्वाह करते, हैं वे सुखी हैं।

स्वदारनिरता ये च ऋतुकालाभिगामिनः।
अग्राम्यसुखभोगाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन अपनी ही स्त्री में रत रहते हैं और ऋतुकाल में सन्तानोत्पत्ति के ही लिये गमन करते हैं न कि इन्द्रिय सुख के लिये वे ही सुखी हैं।

परदारेषु ये नित्यं चरित्रावृतलोचनाः।
यतेन्द्रियाः शीलपरास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन कभी भी दूसरे की स्त्री को बुरी दृष्टि से नहीं देखते और अपनी इन्द्रियों को सदा ही वशमें रखते हैं एवं शांत स्वभाव से रहते हैं वे ही सुखी हैं।

एष देवकृतोमार्गः सेवितव्यः सदा नरैः।
अकषायकृतश्चैव मार्गः सेव्यः सदा बुधैः॥
दानधर्मतपोयुक्तः शीलशौचदयात्मकः।
वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा सेवितव्यः सदा नरैः।
स्वर्गवासमभीप्सद्भिर्न सेव्यस्त्वत उत्तरः॥

यह जो कल्याणकारी मार्ग है उस पर सभी को चलना चाहिये यह पाप रहित हैं वस्तुतः इस राहमें दान, धर्म, तप,

शील, शुद्धि और दया सभी वर्तमान हैं। जीविका और धर्म के लिये भी इस मार्ग पर सदा हो चलना चाहिये। यह मार्ग सुख का देनेवाला है। इसके विपरीत कभो भी न चले।

उमोवाच

वाचा तु बध्यते येन मुच्यतेऽप्यथवा पुनः।
तानि कर्माणि मे देव वद भूतपतेऽनघ॥

भगवान् शङ्करसे पार्वतीजी पूछती हैं कि किस प्रकार की वाणी से मनुष्यों को बंधन में पडना पडता है, किस प्रकार की वाणी से बंधन से छूटता है एवं सुख की प्राप्ति होती है, यह आप कहिये।

महेश्वर उवाच

श्लक्ष्णां वाणीं निराबाधां मधुरां पापवर्जिताम्।
स्वागतेनाभिभाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो वाणी कोमल एवं प्रिय तथा बाधा रहित, साफ साफ मतलब बतानेवाली और मीठी होने पर भी पाप रहित याने झूठ न हो जो सज्जन ऐसी वाणी के साथ सबका आदर-सत्कार करते हैं वे सुखी हैं।

परुषं ये न भाषन्ते कटुकं निष्ठुरं तथा।
अपैशुन्यरताः सन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन कठोर कडवी और निष्ठुर वाणी कभी भी नहीं बोलते एवं किसी की भी निन्दा (चुगली) नहीं करते वे ही सुखी हैं।

पिशुनां न प्रभाषन्ते मित्रभेदकरीं गिरम्।
ऋतं मैत्रं तु भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन मित्रों के आपस में भेद डालनेवाली चुगली नहीं करते और साथ ही ऐसी वाणी बोलते हैं जो सत्य तथा मित्रता को बढ़ानेवाली होती है वे ही सुखी हैं।

ये वर्जयन्ति परुषं परद्रोहं च मानवाः।
सर्वभूतसमा दान्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन परद्रोह और कड़वी वाणी को त्याग देते हैं, प्राणिमात्र को समभाव से समझते हैं एवं अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हैं वे ही सुखी हैं।

शठप्रलापाद्विरता विरुद्धपरिवर्जकाः।
सौम्यप्रलापिनो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन जो बात हितकर नहीं है तथा आपस में विपरीत है उसपर कभी भी तर्क नहीं करते हैं। जो बात हितकर एवं ज्ञान देनेवाली हैं उसकी चर्चा सदा ही करते हैं वे सुखी हैं।

न कोपाद्व्याहरन्ते ये वाचं हृदयदारणीम्।
सान्त्वं वदन्ति क्रुद्ध्वाऽपि ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन क्रोध आने पर भी ऐसी वाणी नहीं बोलते हैं जिससे दूसरों के हृदय को चोट पहुंचे क्रोध आने पर भी शान्ति से ही बोलते हैं वे ही सुखी हैं।

एष वाणीकृतो देवि धर्मः सेव्यः सदा नरैः।
शुभः सत्यगुणो नित्यं वर्जनीयो मृषा बुधैः॥

हे पार्वतीजी, यह जो वाणी का धर्म कहा गया है वह सदा ही सभी मनुष्यों के सेवन योग्य है यह शुभ और सत्यगुणयुक्त है। झूठ का सर्वदा ही त्याग देना चाहिये।

उमोवाच

मनसा बध्यते येन कर्मणा पुरुषः सदा।
तन्मे ब्रूहि महाभाग देवदेव पिनाकधृन्॥

माता पार्वतीजी ने शंकरजी से पूछा कि हे भगवन् किस प्रकार के मानस-कर्म से मनुष्य बंधन को प्राप्त होते हैं और कैसे मानस-कर्म से सुख प्राप्त करते हैं वह आप कहिये।

महेश्वरउवाच

मानसेनेह धर्मेण संयुक्ताः पुरुषाः सदा।
स्वर्गं गच्छन्ति कल्याणि तन्मे कीर्तयतः शृणु॥
दुष्प्रणीतेन मनसा दुष्प्रणीततराकृतिः।
मनो बध्यति येनेह शृणुवाक्यं शुभानने॥

हे कल्याणी, जिस प्रकार के मानस-कर्म से युक्त मनुष्य सदा सुख को प्राप्त होते हैं एवं जिस प्रकार के मानसिक दुष्ट कर्मों से मनुष्य दुःख के भागी होते हैं वह मैं आपको बतलाता हूं, सुनिये।

अरण्ये विजने न्यस्तं परस्वं दृश्यते यदा।
मनसाऽपि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन, जङ्गल में या निर्जन स्थान में पड़े हुए अथवा रक्खे हुए भी दूसरे के धन को देखकर उसे लेने की इच्छा मन में भी नहीं लाते वे ही सुखी हैं।

ग्रामे गृहे वा ये द्रव्यं पारक्यं विजने स्थितम्।
नाभिनन्दन्ति वै नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन गाँव या घरमें भी निर्जन स्थान में रक्खे हुए दूसरे के धन को देखकर कभी भी प्रसन्न नहीं होते, अथवा मन नहीं चलाते वे ही सुखी हैं।

तथैव परदारान् ये कामवृत्तान् रहोगतान्।
मनसाऽपि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

उसी प्रकार कामवासना से युक्त एवं एकान्त स्थान में मिली हुई परायी स्त्री को जो सज्जन मन से भी कभी नहीं चाहते वे ही सुखी हैं।

शत्रुं मित्रं च ये नित्यं तुल्येन मनसा नराः।
भजन्ति मैत्राः सङ्गम्य ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन मिलने पर शत्रु और मित्र को सदा एक से मनसे अभिनन्दन करते हैं तथा जो सब से ही मित्रता रखते हैं वे ही सुखी हैं।

श्रुतवन्तो दयावन्तः शुचयः सत्यसङ्गराः।
स्वैरर्थैः परिसन्तुष्टास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन शास्त्र के जाननेवाले और दयावान हैं, भेदभाव से रहित (शुद्ध मन) और सत्यव्रतवाले हैं, अपने ही पुरुषार्थ से प्राप्त हुए धन से सन्तुष्ट रहते हैं, वे ही सुखी हैं।

अवैरा ये त्वनायासा मैत्री चित्तरताः सदा।
सर्वभूतदयावन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन वैर-विरोध नहीं करते, सदा सबसे मित्रता का भाव रखते एवं सभी प्राणियों पर दया करते हैं वे ही सुखी हैं।

श्रद्धावन्तो दयावन्तश्चोक्षाश्चोक्षजनप्रियाः।
धर्माधर्मविदो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन सदा ही श्रद्धा (अर्थात् सत्य को ग्रहण करने एवं उसपर दृढ़ रहने की बुद्धि) से युक्त हैं, दयालु और पवित्र हैं और पवित्रजनों की संगति करते हैं एवं धर्म और अधर्म को जानते हैं वे ही सुखी हैं।

शुभानामशुभानां च कर्मणां फलसञ्चये।
विपाकज्ञाश्च ये देवि ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन, शुभ और अशुभ कर्मों के परिणाम को जानते हैं वे ही सुखी हैं।

न्यायोपेता गुणोपेता देवद्विजपराः सदा।
समुत्थानमनुप्राप्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन सदा ही न्यायवान हैं, गुणवान हैं, देवताओं और गुरुजनों में श्रद्धा रखते हैं तथा आत्मा की उन्नति में लगे रहते हैं वे ही सुखी हैं।

शुभैः कर्मफलैर्देवि मयैते परिकीर्तिताः।
स्वर्गमार्गपरा भूयः किं त्वं श्रोतुमिहेच्छसि॥

हे देवि, ऊपर जो मानस-कर्म मैंने कहे हैं उनके फल शुभ हैं। यही सुखका मार्ग है।

कर्मणा, वाचा, मनसा के जो ऊपर लिखे नियम भगवान शंकरजी ने हमारे लिये बतलाये हैं इन नियमों के अनुसार कर्म करने से ही हमारा कल्याण होगा, लेकिन ये नियम तो हम में स्वभाव से ही होने चाहिये इसमें हमारी विशेषता नहीं है। इन कर्मों के विपरीत चलने से ही हमारा ह्रास होता है। अपने पुरुषार्थ से निःस्वार्थ भाव से प्राणिमात्र की सेवा करने, तथा योग के द्वारा प्राकृतिक आयु को उन्नत करने में हमारी कुछ विशेषता भी है।

आयु वृद्धि के नियम

महाभारत अश्वमेध पर्व में अर्जुन द्वारा कृष्ण से गीता के उपदेश को फिर से कहने की प्रार्थना की जाने पर श्रीकृष्ण ने जो काश्यप और सिद्ध का संवाद अध्याय १६ (अनुगीता पर्व अध्याय ०) में सुनाया था उसमें आयुवृद्धि के जो नियम बताये गये हैं वे इस प्रकार हैं।

> आयुःकीर्तिकराणीह यानि कृत्यानि सेवते।
> शरीरग्रहणे यस्मिंस्तेषु क्षीणेषु सर्वशः॥
> आयुःक्षयपरीतात्मा विपरीतानि सेवते।
> बुद्धिर्व्यावर्तते चास्य विनाशे प्रत्युपस्थिते॥

मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है कि वह अपने मनुष्य शरीर को सफल बनाने के लिये इस लोक में वे ही कर्म करे जो कि आयु और कीर्ति को बढ़ानेवाले हैं तथा जिनका आचरण श्रेष्ठ पुरुष करते हैं। यदि उन सभी सत्कर्मों का लोप हो जाता है तो मनुष्य

का भी पतन हो जाता है। कारण जिस मनुष्य की आयुका नाश होना चाहता है उसका मन स्थिर नहीं रहता और वह सब विपरीत कर्म करने लग जाता है विनाश समीप आने पर बुद्धि भी विपरीत हो जाता है

सत्त्वं बलं च कालं च विद्त्वा चात्मनस्तथा।
अतिवेलमुपाश्नाति स्वविरुद्धान्यनात्मवान्॥

उस हालत मे अपना मनोबल, शरीरबल और समय को जानकर भी असंयमी होकर समय बेसमय अपने लिये हानिकारक आहार करने लगता है।

यदायमतिकष्टानि सर्वाण्युपनिषेवते।
अत्यर्थमपि वा भुंक्ते न वा भुंक्ते कदाचन॥
दुष्टान्नामिषपानं च यदन्योन्यविरोधि च।
गुरु चाप्यमितं भुंक्ते नातिजीर्णेऽपि वा पुनः॥

उस हालत में मनुष्य बहुत ही कष्ट देनेवाले आहार-विहारों का सेवन करने लगता है। बहुत खाने लगता है या बहुत समय तक भी नहीं खाता। दूषित अन्न-जल (सड़े-गले बासी एवं जिसमें दुर्गन्ध पैदा हो गई हो) और परस्पर विरोधी अन्न तथा रस (जिनको एक साथ नहीं खाना चाहिये जैसे दूध के साथ नमक, केला, उड़द आदि, चीनी के साथ नमक आदि) का सेवन करने लगता है, गरिष्ट और मात्रा से अधिक भोजन करता है अथवा पहले का किया हुआ भोजन पूरा पच जाने के पहले ही फिर भोजन कर लेता है।

व्यायाममतिमात्रं च व्यवायं चोपसेवते।
सततं कर्मलोभाद्वा प्राप्तं वेगं विधारयेत्।

अपनी शक्ति से अधिक मात्रा में व्यायाम करता है, अधिक मात्रा में स्त्री-प्रसङ्ग करता है। मल-मूत्र आदि के वेग को किसी दूसरे काम के कर लेने के लोभ से रोक रखता है। (सोते-जागते या कोई काम करते हुए जब भी मल-मूत्र आदि का वेग मालूम हो उससे तुरन्त ही निवृत्त होना चाहिये उसमें कदापि आलस्य न करना चाहिये। उसे रोकना बहुत हानिकारक है।)

रसाभियुक्तमन्नं वा दिवा स्वप्नं च सेवते।
अपक्वानागते काले स्वयं दोषांन्प्रकोपयेत्॥

अन्न के साथ अधिक रस (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय) का सेवन करता है अथवा दिन में सोता है। बिना पके हुए अथवा बेमौसिम के पके हुए अन्न फल का सेवन करता अथवा असमय में भोजन करता है जैसे भोजन का जो निर्धारित समय है उससे विपरीत समय में भोजन करता है। इससे शरीर के दोष, वात, पित्त, कफ प्रकुपित होते हैं।

स्वदोषकोपनाद्रोगं लभते मरणान्तिकम्।
अपि वोद्‌बन्धनादीनि परोतानि व्यवस्यति॥

वात, पित्त, कफ के प्रकुपित होने से नाना प्रकार के रोग होते हैं। मृत्यु तक हो जाती है। यहाँ तक नहीं बुद्धिभ्रंश से मनुष्य ऐसे-ऐसे विपरोत कार्य कर लेता है जिससे बिना रोग के भी मर जाता है।

तस्य तैः कारणैर्जंतोः शरीरं च्यवते तदा।
जीवितं प्रोच्यमानं तद्यथावदुपधारय ॥

उपर्युक्त कारणों से मनुष्य का शरीर अति शीघ्र क्षीण होता है तथा आयु का ह्रास होता है। दीर्घायु बल, कीर्ति और ऐश्वर्य आदि के जो जीवन के उपयुक्त कर्म हैं मनुष्य को सदा धारण करने चाहिये।

सदाचार के नियम

महाभारत अनुशासन पर्व के अध्याय १०४ मे भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर जी को सदाचार के नियमों का उपदेश मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ किया है. उसके कुछ अंश नीचे उद्धृत किये गये हैं।

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥

मनुष्य सदाचार से दीर्घायु की प्राप्ति करता है। सदाचार से ही लक्ष्मी की प्राप्ति करता है। सदाचार से ही जीवित अवस्थामें कीर्ति प्राप्त करता है और मृत्युके बाद भी उसकी कीर्ति यहाँ कायम रहती है और उसका नाम अमर रहता है।

तस्मात् कुर्यादिहाचारं यदिच्छेद्भूमिमात्मनः।
अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥

इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को उचित है कि वह सदाचार का सर्वदा पालन करे। सदाचार से पाप शरीर के सारे कुलक्षण एवं दुर्व्यसन भी दूर हो जाते हैं।

आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः।
साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम्॥

धर्म का स्वरूप आचार है। सदाचार से युक्त पुरुष ही सन्त हैं। साधु पुरुषों का जो जीवन क्रम है वही आचार है। वही नियम सबके लिये हितकर है।

सर्वलक्षणहीनापि समुदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयुश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

जो क्रोध नहीं करता सदा सत्य ही बोलता है, प्राणिमात्र की आत्मा को कष्ट नहीं देता, सदा सबका हित करता, सरल स्वभाव से युक्त है छल-कपट नहीं रखता, तथा दूसरोंके अवगुणों की ओर नहीं देखता वह सौ वर्ष जीता है।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
उत्थायाचम्य तिष्ठेत पूर्वां सन्ध्यां कृताञ्जलिः॥

ब्राह्म मुहूर्त सूर्योदय से चार घड़ी अर्थात् प्रायः डेढ़ घण्टा पूर्व यह काल अमृत वेला है) में उठे। उठकर धर्म और अर्थ के लिये भगवान का चिन्तन करे। आचमन करके प्रातःकाल की सन्ध्या करे।

एवमेवापरां संध्यां समुपासीत वाग्यतः।
ऋषयो नित्यसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुवन्॥

इसी प्रकार मौन होकर सायंकाल की संध्या भी करे। ऋषि लोग प्रति दिन सायं-प्रात संध्या करके बड़ी आयु प्राप्त करते थे।

परदारा न गन्तव्या सर्ववर्णेषु कर्हिचित्।
न हीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते।

किसी वर्ण का पुरुष भी परस्त्री गमन कदापि न करे। इससे बढ़कर आयु को नाश करनेवाला दूसरा कोई कर्म नहीं है।

यावन्तोरोमकूपाः स्यु स्त्रीणां गात्रेषु निर्मिताः।
यावद्वर्षसहस्राणि नरकं पर्युपासते॥

स्त्री के शरीर में जितने रोम छिद्र हैं उतने हजार वर्ष परस्त्री-गामी पुरुष नरक मे वास करता है।

प्रसाधनं च केशानामंजनं दंतधावनम्।
पूर्वाह्न एव कार्याणि देवतानां च पूजनम्॥

केशों को संवारना, आंखों मे अञ्जन लगाना, दांतों को साफ करना, देवताओं का पूजन – ये सब काम प्रातःकाल ही करना चाहिये।

पन्था देयो ब्राह्मणाय गोभ्यो राजभ्य एव च।
वृद्धाय भारतप्ताय गर्भिण्यै दुर्बलाय च॥

ब्राह्मण, गौ, राजा, वृद्ध, भारी बोझ से पीड़ित, गर्भिणी एवं दुर्बल मनुष्य के लिये रास्ता छोड़ देना चाहिये अर्थात् इनके चलने में रुकावट नहीं डालनी चाहिये।

उपानहौ च वस्त्रं च धृतमन्यैर्नधारयेत्।
ब्रह्मचारी च नित्यं स्यात् पादं पादेन नाक्रमेत्॥

दूसरे के व्यवहार में आये हुए जूते और वस्त्र न पहिने। सदा ब्रह्मचारी रहे। पांव पर पांव न रखे।

अमावस्यां पौर्णमास्यां चतुर्दश्यां च सर्वशः ।
अष्टम्यां सर्वपक्षाणां ब्रह्मचारी सदा भवेत् ॥

दोनों पक्ष की अमावास्या, पूर्णिमा, चतुर्दशी, एवं अष्टमी इन तिथियों में सदा ब्रह्मचर्य से ही रहे।

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥

वाण से लगा हुआ घाव चङ्गा हो जाता है। कुल्हाड़े से काटा हुआ जङ्गल फिर से आबाद हो जाता है परन्तु कठोर वाणी से लगा हुआ भयङ्कर घाव कभी आराम नहीं होता।

कर्णिनालीकनाराचान्निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हतुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥

तीर किंवा बन्दूक की गोली शरीर में पैठ जाने पर उसे शरीर से निकाला जा सकता है! किन्तु वाणी की गोली वा तीर यदि हृदय में पैठ जाय तो वह हृदय में ही रहेगा उसे किसी प्रकार भी हृदय से खींचकर बाहर नहीं निकाला जा सकता है। इसीलिये वाणी का प्रयोग खूब सोच समझकर ही करना चाहिये।

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् विगर्हितान् ।
रूपद्रविणहीनांश्च सत्यहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥

हीन अङ्गवाले तथा काने, लङ्गड़े, बहरे आदि, अतिरिक्त अङ्ग वाले यथा छः अंगुलीवाले आदि एवं विद्या, रूप, धन एवं सत्य से हीन मनुष्यों के प्रति दुर्वचन कदापि न बोलें।

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषस्तम्भोभिमानं च तैक्ष्ण्यं च परिवर्जयेत् ॥

नास्तिकता, वेद और देवताओं की निन्दा, द्वेष, आलस्य, अभिमान एवं स्वभाव का तीखापन छोड़ देवें।

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैनं निपातयेत् ।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याच्च शिक्षार्थं ताडनं स्मृतम् ॥

दूसरे पर दण्ड न उठावे, क्रोध में आकर उसपर दण्ड प्रहार न करे। पुत्र और शिष्य को शिक्षा के लिये ताडन किया जा सकता है।

कृत्वा मूत्रपुरीषे तु रथ्यामाक्रम्य वा पुनः ।
पादप्रक्षालनं कुर्यात्स्वाध्याये भोजने तथा ॥

पेशाब या पाखाने के बाद रास्ता चलने के बाद एवं स्वाध्याय और भोजन के पूर्व पाँव धोवे।

नित्यमग्निं परिचरेद्भिक्षां दद्याच्च नित्यदा ।
वाग्यतो दन्तकाष्ठं च नित्यमेव समाचरेत् ॥

प्रतिदिन अग्निहोत्र करे भिक्षा देवे एवं मौन होकर दातोन करे।

न चाभ्युदितशायी स्यात्प्रायश्चित्ती तथा भवेत् ।
मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत् ॥

सूर्योदय तक सोया न रहे, सूर्योदय से पहले ही उठ जावे। सूर्योदय के बाद उठने से प्रायश्चित्त (पश्चात्ताप) करे। उठकर सबसे पहले माता-पिता को प्रणाम करे।

उदक्शिरा न स्वपेत तथा प्रत्यक्शिरा न च।
प्राक्शिरास्तु स्वपेद्विद्वानथवा दक्षिणाशिराः॥

उत्तर या पश्चिम दिशा की ओर सिर करके न सोवे पूर्व या दक्षिण की ओर सिर करके सोवे।

न भग्ने नावशीर्णे च शयने प्रस्वपीत च।
नान्तर्धाने न संयुक्ते न च तिर्यक् कदाचन॥

टूटे हुए अथवा जीर्ण शीर्ण खाट पर न सोवे, दो व्यक्ति एक साथ (अर्थात् एक दूसरे से सट के) न सोवे। टेढ़ा न सोवे (क्योंकि मेरुदण्ड सदा सीधा रहना चाहिये। चित्त न सोवे बाईं करवट सोवे)। जिस घर में बाहर से प्रकाश न आता हो बिल्कुल अन्धकारमय हो उस घर मे भी न सोवे एवं मुंह को ढक के न सोवे।

नोत्सृजेत् पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके।
उभे मूत्रपुरीषे तु नाप्सु कुर्यात्कदाचन॥

गांव के निकट के खेत या मैदान में पाखाना न करे। (तात्पर्य यह है कि पाखाना पेशाब आदि की गन्दगी से किसी व्यक्ति को किसी हालत में हानि न पहुंचे) पाखाना और पेशाब जल में कदापि न करे।

नालीढया परिहतं भक्षयीत कदाचन।
तथा नोद्धृतसाराणि प्रेक्षते नाप्रदाय च॥

रजस्वला स्त्री के हाथ का बना भोजन न करे। (रजस्वला स्त्री को ऋतुकाल के प्रथम चार दिन पूर्ण विश्राम करना चाहिये)

ऐसे अन्न न खाने चाहिये जिनमें सार कुछ भी न हो। जो खाते हुए को देख रहा हो उसे बिना दिये भी भोजन न करना चाहिये।

अन्नं बुभुक्षमाणस्तु त्रिर्मुखेन स्पृशेदपः।

भुक्त्वा चान्नं तथव त्रिर्द्भिः पुनः परिमाजयेत्॥

प्राङ्मुखो नित्यमश्नीयाद् वाग्यतोन्नमकुत्सयन्।

भोजन करने के पूर्व तीन बार आचमन करे, भोजन के पश्चात् मुख को दो तीन बार अच्छे प्रकार साफ करके धोवे और गहरा कुल्ला करे। विशेष करके पूर्व की ओर मुंह करके मौन होकर खावे। (चारों दिशाओं की ओर मुख करके खाने में शास्त्र निषेध नहीं करते) खाते समय प्रसन्न चित्त रहे। अन्न की किसी प्रकार निन्दा न करे। उसे बुरे भाव से न देखे। भोजन के समय अन्न में ही मन लगावे।

सायंप्रातश्च भुञ्जीत नान्तराले समाहितः।

वालेन तु न भुञ्जीत परश्राद्धं तथैव च॥

सायंकाल और प्रातःकाल दो वार ही भोजन करे बीच में न खावे। केश जिस भोजन में पड़ गया हो उसे न खावे और दूसरे के श्राद्ध का अन्न भी न खावे।

वाग्यतो नैकवस्त्रश्च नासंविष्टः कदाचन।

भूमौ सदैव नाश्नीयान्नानासीनो न शब्दवत्॥

भुञ्जानो मनुजव्याघ्र नैव शंकां समाचरेत्

सौहित्यं न च कर्त्तव्यं रात्रौ न च समाचरेत्॥

चुपचाप शांत चित्त से भोजन करे। एक वस्त्र से भोजन न

करे (अर्थात् गमछा आदि के रूप में दूसरा वस्त्र पास में रखना चाहिये) सोकर कदापि न खावे। अन्न को भूमि पर रखकर न खावे (किसी पात्र में रखकर खावे) सीधा बैठकर ही खावे, चलता-फिरता या खड़ा नहीं खावे। खाते समय किसी तरह का शब्द न करे। मन में किसी प्रकार की शङ्का भोजन करते समय न करे कि यह पचेगा या नहीं। खूब ठूंस-ठूंसकर न तो स्वयं खावे और न दूसरे को खिलावे। रात में तो कभी भी डटके नहीं खाना चाहिये।

न दिवा मैथुनं गच्छेन्न कन्यां न च बन्धकीम्।
न चास्नातां स्त्रियं गच्छेत्तथायुर्विन्दते महत्॥

दिन में स्त्री-प्रसंग कदापि न करे। कन्या (युवावस्था से पहले) एवं बांझ स्त्री से मैथुन न करे। जिस स्त्री ने ऋतुस्नान न किया हो अथवा अन्य प्रकार से अपवित्र हो उससे भी समागम न करे। इस प्रकार के कर्म करने से आयु का ह्रास होता है। इसलिये ऐसे कर्म न करे।

वृद्धो ज्ञातिस्तथा मित्रं दरिद्रो यो भवेदपि।
गृहे वासयितव्यास्ते धन्यमायुष्यमेव च॥

वृद्ध कुटुम्बी एवं मित्र यदि दरिद्र अथवा कमजोर हो जाय तो उन्हें अपने घरमें रखकर सब प्रकार से उनकी मदद करनी चाहिये। इससे धन और आयु की वृद्धि होती है।

सन्ध्यायां न स्वपेद्राजन् विद्यां न च समाचरेत्।
न भुञ्जीत च मेधावी तथायुर्विन्दते महत्॥

सन्ध्या समय (सूर्यास्त के समय) न सोवे और न स्वाध्याय करे। उस समय भोजन भी न करे। इससे आयु घटती है।

महाकुले प्रसूतां च प्रशस्तां लक्षणैस्तथा।
वयस्थां च महाप्राज्ञः कन्यामावोढुमर्हति॥

अच्छे कुल में पैदा हुई शुभलक्षणों से युक्त युवती से ही विद्या और व्रत को समाप्त करके युवा अवस्था को प्राप्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की इच्छा रखने वाला बुद्धिमान् पुरुष विवाह करे।

अपत्यमुत्पाद्य ततः प्रतिष्ठाप्य कुलं तथा।
पुत्राः प्रदेया ज्ञानेषु कुलधर्मेषु भारत॥
कन्या चोत्पाद्य दातव्या कुलपुत्राय धीमते।
पुत्रा निवेश्याश्च कुलाद्भृत्या लभ्याश्च भारत॥

सन्तान उत्पन्न कर उन्हें सब प्रकार से योग्य बनाकर कुल की प्रतिष्ठा को बढावे। पुत्रों को पूर्ण विद्या प्राप्ति के लिये विद्वान् गुरुओं के हवाले कर उन्हें कुल-धर्म के पालन करने की भी प्रेरणा करे। कन्या को भी योग्य बनाकर उसका श्रेष्ठ कुल मे उत्पन्न तथा विद्वान् वर के साथ विवाह करे। पुत्र का विवाह भी उत्तम कु ल में ही करे। सेवक भी कुलीन ही रखे।

वर्जयेद् व्यङ्गिनीं नारीं तथा कन्यां नरोत्तम।
समर्षां व्यङ्गितां चैव मातुः स्वकुलजां तथा॥
पिंगलां कुष्ठिनीं नारीं न त्वमुद्वोढुमर्हसि।
अपस्मारिकुले जाता निहीना चापि वर्जयेत्॥
श्वित्रिणां च कुले जातां क्षयिणां मनुजेश्वर।

ऐसी स्त्री से विवाह न करे जो हीन अङ्गवाली अथवा अतिरिक्त अङ्गवाली हो, एक ही गोत्र की हो अथवा माता के कुल में उत्पन्न हुई हो। पिंगल वर्णवाली किंवा कुष्ठरोग से पीड़ित स्त्री से विवाह न करे। जो कुल सत्कर्म से हीन हो जिसमें मृगी, श्वेत-कुष्ठ अथवा क्षयरोग हो वैसे कुल के साथ भी विवाह सम्बन्ध न करे।

न चेर्ष्या स्त्रीषु कर्त्तव्या रक्ष्या दाराश्च सर्वशः।
अनायुष्या भवेदीर्ष्या तस्मादीर्ष्यां विवर्जयेत्॥

स्त्रियों से ईर्ष्या न करे। उनकी सब प्रकार से रक्षा करे। ईर्ष्या से आयु की हानि होती है अतएव ईर्ष्या छोड़ देनी चाहिये

अनायुष्यं दिवा स्वप्नं तथाभ्युदितशायिता।
प्रगे निशामाशु तथा नैवोच्छिष्टाः स्वपन्ति वै॥

दिन में सोने से अथवा प्रातःकाल सूर्योदय हो जाने तक सोते रहने से आयु का नाश होता है। सायंकाल सूर्यास्त के समय भी नहीं सोना चाहिये और जूठे मुंह भी नहीं सोना चाहिये।

सन्ध्यायां च न भुञ्जीत न स्नायेन्न तथा पठेत्।
प्रयतश्च भवेत्तस्यां न च किंचित् समाचरेत्॥

सन्ध्याकाल में अर्थात् दिन और रात की सन्धिवेलाओं में भोजन, स्नान या पढ़ना-लिखना न करे। उस समय समाहित चित्त होकर सन्ध्योपासन करे और दूसरा काम कुछ न करे।

अनिमन्त्रितो न गच्छेत यज्ञं गच्छेत दर्शकः।
अनर्चिते ह्यनायुष्यं गमनं तत्र भारत॥

किसी के यहाँ बिना बुलाये न जावे। यज्ञ में दर्शक के रूप से जा सकता है। कहीं बिना सम्मान के अपमानित होकर जाने से आयु क्षीण होती है।

न चैकेन परिव्रज्यं न गन्तव्यं तथा निशि।
अनागतायां सन्ध्यायां पश्चिमायां गृहे वसेत्॥

अकेला कहीं न जावे। सूर्यास्त के पूर्व ही घर चला आवे और रात में घर में ही रहे। (रात्रि में निर्जनता के कारण हिंसक जीवजन्तुओं का भय रहता है)।

मातुः पितुर्गुरूणां च कार्यमेवानुशासनम्।
हितं चाप्यहितं चापि न विचार्यं नरर्षभ॥

माता, पिता तथा गुरु की आज्ञा का अवश्य पालन करे। उनमें हित-अनहित का विचार न करे।

यत्नवान्भव राजेन्द्र यत्नवान् सुखमेधते।
अप्रधृष्यश्च शत्रूणां भृत्यानां स्वजनस्य च॥

मनुष्य को सदा कर्मशील एवं पुरुषार्थी होना चाहिये। पुरुषार्थी मनुष्य ही सुखी रहता है और सदा उन्नति करता है। शत्रु सेवक और आत्मीय स्वजन उसका कदापि निरादर नहीं कर सकते।

युक्तिशास्त्रं च ते ज्ञेयं शब्दशास्त्रं च भारत।
गन्धर्वशास्त्रं च कलाः परिज्ञेया नराधिप॥

मनुष्य को तर्कशास्त्र, व्याकरण, गान विद्या एवं कला का भी यथायोग्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

पुराणमितिहासाश्च तथाख्यानानि यानि च ।
महात्मनां च चरितंश्रोतव्यं नित्यमेव ते ॥

पुरावृत्त, इतिहास, सुन्दर वृत्तान्त, एवं महापुरुषों के चरित्र नित्यमेव सुनने चाहिये ।

पत्नी रजस्वला या च नाभिगच्छेन्न चाह्वयेत् ।
स्नातां चतुर्थे दिवसे रात्रौ गच्छेद् विचक्षणः ॥
पञ्चमे दिवसे नारी षष्ठेऽहनि पुमान् भवेत् ।
एतेन विधिना पत्नीमुपगच्छेत पण्डितः ॥

रजस्वला पत्नी से न तो समागम करे और न उसे अपने पास बुलावे । चौथे दिन पत्नी के ऋतुस्नान करने के पश्चात् रात्रि में उसके समीप जावे । पाँचवीं रात्रिमें गर्भ रहने से कन्या और छठी रात्रि में पुत्र उत्पन्न होता है । इसी विधि से (युग्म रात्रि में पुत्र अयुग्म रात्रि में कन्या उत्पन्न करने की इच्छा से सोलहवीं रात्रि तक) सन्तार्थी बुद्धिमान पुरुष स्त्रीप्रसङ्ग करे ।

ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणि पूजनीयानि सर्वशः ।
यष्टव्यं च यथाशक्ति यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ॥

सगोत्र सम्बन्धियों एवं मित्रों का यथायोग्य सादर-सत्कार करना चाहिये । शक्ति के अनुसार अवश्य यज्ञ (सत्कर्म) करने चाहिये और ऋत्विजों को विविध प्रकारके द्रव्य दक्षिणामें देने चाहिये ।

एषते लक्षणोद्देश आयुष्याणां प्रकीर्तितः ।
शेषस्त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्याहार्यो युधिष्ठिर ॥

भीष्मपितामहजी कहते हैं कि हे राजा युधिष्ठिर आयु को बढ़ानेवाले नियम ऊपर मैंने संक्षेप से कहे। विशेष चारों वेदोंके विद्वान् एवं वृद्ध पुरुषों से पूछकर जान लेना चाहिये।

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्द्धनः।
आचाराद् वर्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम्॥
आगमाना हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्द्धते॥

सदाचार से ऐश्वर्य, कीर्ति एवं आयु की वृद्धि होती है। सदाचार से सारे कुलक्षण नष्ट होते हैं। सारे वेदों में आचार को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। धर्म सदाचार से हो उत्पन्न होता है। धर्म से आयु बढ़ती है।

अनुशासन पर्व अध्याय ७५ से निम्नलिखित विषयों पर भीष्मपितामह के उपदेश लिखे जाते हैं—

विधिवत् पावकं हुत्वा ब्रह्मलोके नराधिप।
अधीत्यापि हि यो वेदान् न्यायविद्भ्यः प्रयच्छति॥

ब्राह्मण का धर्म विधिपूर्वक यज्ञ करना (और कराना) है तथा वेदों को पढ़कर उन्हें न्याय शास्त्रके जाननेवाले योग्य शिष्यों को पढ़ाना भी ब्राह्मण का धर्म है।

(इस सम्बन्ध में मनुस्मृति अध्याय १ का श्लोक ८८ तथा गीता के अध्याय १८ का श्लोक ४२ अर्थ सहित नीचे लिखे जाते हैं।)

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणांनामकल्पयत् ॥ मनु०

पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना एवं कराना, दान देना, एवं दान लेना ये छः कर्म ब्राह्मण के कहे गये हैं। दान लेना बहुत प्रशंसित कर्म नहीं है इसको मनु महाराज ने अन्यत्र इस प्रकार कहा है कि 'प्रतिग्रहः प्रत्यवरः'।

शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेवच।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ गीता ॥

मन की शान्ति, इन्द्रिय निग्रह, तप, शौच अर्थात् शरीर मन और आत्मा की पवित्रता, क्षमाशीलता, सरलता, ज्ञान, विज्ञान (सृष्टि के सारे पदार्थों एवं परमात्मा के सम्बन्ध का विशेष ज्ञान) एवं आस्तिकता अर्थात्, वेद, ईश्वर एवं कर्मफल में विश्वास ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

क्षत्रियोऽध्ययने युक्तो यजने दानकर्मणि।
युद्धेयश्च परित्राता सोपि स्वर्गे महीयते ॥

क्षत्रिय का धर्म है अध्ययन करना, यज्ञ और दान करना तथा युद्ध में प्रवीण होना और प्रजा एवं शरण में आये हुए व्यक्तियों की रक्षा और प्रतिपालन करना।

वैश्यः स्वकर्मनिरतः प्रदानाल्लभते महत्।

अपने वर्ण के विहित कर्मों को करता हुआ वैश्य भी उत्तम गति को प्राप्त होता है। (मनु महाराज ने वैश्यों के ये कर्म बतलाये हैं—पशुओं का पालन और रक्षण, दान देना, यज्ञ करना,

विद्याध्ययन करना, वाणिज्य करना, धन की वृद्धि कर उसे शुभ कर्म में लगाना, एवं खेती करना)।

शूद्रः स्वकर्मनिरतः स्वर्गं शुश्रूषयाच्छेति।

स्वकर्म में निरत शूद्र सेवा धर्म के द्वारा सब सुखों को प्राप्त करते हैं।

कूर्म पुराण उत्तर विभाग, अध्याय १५ :—

वेदं वेदौ तथा वेदान् विन्द्याद्वा चतुरो द्विजः।
अधीत्य चाभिगम्यार्थं तत स्नायाद् द्विजोत्तमः॥

जीवन के प्रथम भाग को ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन में लगाकर एवं चारों वेदों वा कम से कम एक वेद को भी सांगोंपांग पढ़कर तब ही गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् बहिर्माल्यं न धारयेत्,
अन्यत्र कांचनाद्विप्रः न रक्तां बिभृयात् स्रजम्॥

गृहस्थाश्रम में आकर भी स्वाध्याय करना न छोड़े। प्रतिदिन नियमित रूप से धर्मग्रन्थों एवं अन्य ज्ञानवर्द्धक पुस्तकों को पढ़ता पढ़ाता किंवा सुनता सुनाता रहे। लाल रङ्ग की माला न धारण करे। सोने की माला के सिवा दूसरी माला को वस्त्र के ऊपर धारण न करे।

शुक्लाम्बरधरो नित्यं सुगन्धः प्रियदर्शनः।
न जीर्णमलवद्वासा भवेद् वै, विभवे सति॥

सदा सफेद कपड़े पहने, शरीर और वस्त्र को ऐसे स्वच्छ और पवित्र रखे कि जिससे दुर्गन्ध न आवे (दुर्गन्ध से अपना चित्त

भी प्रसन्न नहीं रहता स्वास्थ्य की भी हानि होती है साथ ही अपने पास बैठनेवाले लोगों को भी ग्लानि होती है)। मैले-कुचैले कपड़े न पहने।

ऋतुकालाभिगामीस्याद् यावत्पुत्रोभिजायते।

ऋतुकाल में ही भार्या के पास जावे जबतक पुत्र का जन्म न हो। (संतान उत्पन्न हो जाने पर जबतक उस गोदवाली सन्तान का पूर्णरूप से लालन पालन न हो जावे तबतक स्त्री समागम से पृथक् रहे)।

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्य कुर्यादतन्द्रितः।
अकुर्वाणः पतत्याशु नरकान् याति भीषणान् ॥

वर्णाश्रम के जो विहित कर्म हैं उनके करने में कदापि आलस्य न करे। सदा पुरुषार्थ के साथ सत्कर्म करता रहे। ऐसा नहीं करने से नरक का भागी होगा।

अभ्यसेत् प्रयतो वेदं महायज्ञांश्च भावयेत्।
कुर्याद् गृह्याणि कर्माणि संध्योपासनमेव च ॥

वेदों का पढ़ना पढ़ाना तथा सुनना सुनाना यत्नपूर्वक करे। पञ्च महायज्ञ तथा गृहस्थ आश्रम के अन्य शास्त्र विहित कर्म एवं उपासना भी प्रतिदिन नियम से करे।

सख्यं समाधिकैः कुर्यादर्चयेदोश्वरं सदा।
दैवतान्यधिगच्छेत कुर्याद् भार्याविभूषणम् ॥

मित्रता अपने समान अथवा अपने से बड़ों के साथ करनी

चाहिये। देव पूजन, ईश्वर आराधन एवं अपनी स्त्री का भूषणादि से सत्कार सदा करे।

न धर्मं ख्यापयेद् विद्वान् न पापं गूहयेदपि।
कुर्वीतात्महितं नित्यं स भूतानुकम्पनम्॥

अपने किये धर्म कार्यों को अपने आप न कहता फिरे अपने दुष्कर्म को भी कदापि न छिपावे (अपने से कोई भूल हो जावे तो उसको स्वीकार कर लेना चाहिये, उससे आगे सुधार होने की सम्भावना रहती है)। अपनी आत्मा को सब प्रकार से उठाने का यत्न करना चाहिये एवं प्राणिमात्र पर दया रखनी चाहिये।

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च।
वेदवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरेद्विहरेत् सदा॥

अपनी आयु, कर्म, धन, विद्या, कुल, वेद, वाणी और बुद्धि के अनुरूप ही सर्वदा आचरण और व्यवहार रखना चाहिये।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति॥

जिस मार्ग से अपने पिता पितामह आदि चले हों उसी मार्ग में चलना चाहिये, परन्तु वह मार्ग सत्पुरुषोंका मार्ग होना चाहिये। यदि पिता पितामह आदि धर्मानुकूल मार्ग में न चले हों तो उस अवस्था में उनकी देखादेखी कदापि न करना चाहिये। उनके असत् मार्ग को छोड़ देना चाहिये। इसी में अपना कल्याण है।

विभागशीलः सततं क्षमायुक्तो दयालुकः।
गृहस्थस्तु समाख्यातो न गृहेण गृही भवेत्॥

समय का एवं धन का उचित रीति से विभाग करके धर्म, अर्थ और काम (त्रिवर्ग) का समान रूप से सेवन करनेवाला, क्षमाशील एवं दयालु मनुष्य ही यथार्थ में गृहस्थ कहलाने योग्य है। केवल घर होने से ही कोई गृहस्थ नहीं हो जाता है।

क्षमा दया च विज्ञानं सत्यं चैव दमः शमः।
अध्यात्मनिरतज्ञानमेतद् ब्राह्मणलक्षणम्॥

क्षमा, दया, विज्ञान, सत्य, इन्द्रियनिग्रह, शान्ति, तथा आत्मा परमात्मा का चिन्तन एवं नित्य ज्ञान की ही चर्चा ये ही ब्राह्मण के लक्षण हैं।

स्वदुःखेष्विव कारुण्यं परदुःखेषु सौहृदात्।
दयेति मुनयः प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य साधनम्॥

मनुष्य का हृदय इतना विशाल होना चाहिये कि वह दूसरे के दुःख को अपने निज के दुःख के समान अनुभव करे। दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझना ही धर्म का साक्षात् साधन कहा गया है।

चतुर्दशानां विद्यानां धारणं हि यथार्थतः।
विज्ञानमिति तद्विद्याद्येन धर्मो विवर्द्धते॥

चौदह विद्याओं (चार वेद, ऋग्, यजुः, साम और अथर्व; चार उपवेद यथा गांधर्व वेद, अथर्व वेद, आयुर्वेद एवं धनुर्वेद तथा छः वेदांग यथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) का यथार्थ रूप से धारण करना ही विज्ञान कहलाता है। विज्ञान यथार्थ में वही है जिससे धर्म की वृद्धि हो। जिस

विज्ञान से अधर्म या नास्तिकता की वृद्धि हो वह विज्ञान कोई विज्ञान नहीं है। उसे त्याग देना चाहिये।

धर्मस्यायतनं यत्नाच्छरीरं प्रतिपालयेत्।
न च देहं विना रुद्रो शिद्यते पुरुषैः परः॥

शरीर धर्म का आयतन अर्थात् घर है। (शरीर के विना धर्म का आचरण नहीं हो सकता है।) इस कारण शरीर का यत्न के साथ पालन करे बिना शरीर के परमपुरुष परमात्मा की आराधना नहीं हो सकती है।

नित्यं धर्मार्थकामेषु युञ्येत नियतो बुधः।
न धर्मवर्जितं काममथ वा मनसा स्मरेत्॥
सीदन्नपि हि धर्मेण न त्वधर्म समाचरेत्।

धर्म, अर्थ और काम इन तीनो ही की प्राप्तिके लिये बुद्धिमान गृहस्थ सदा ही पुरुषार्थ करे किन्तु ऐसे अर्थ और काम जिनकी प्राप्ति के लिये अधर्म का आचरण करना पड़े उनका मनमें भी विचार न लावे। धर्म पर चलता हुआ यदि कष्ट भी पावे तो भी अधर्म का आचरण न करे। (लोग धर्म मार्ग पर चलते हुए भी कभी-कभी दुःख प्राप्त कर जाते हैं परन्तु वह दुःख उनके पहले किये हुए अशुभ कर्मों का फल है। साधारण लोग उसे परोपकारादि शुभ कर्मों का फल ही मानकर धर्म से उदासीन हो जाते हैं। हमें सदा यह अटल विश्वास रखना चाहिये कि धर्म का फल सदा ही कल्याणकारी होता है। आज यदि हम अपने पूर्वकृत अशुभ कर्मों के फलस्वरूप दुःख भोग रहे हैं तो आज के धर्म

का शुभ फल आगे चलकर अवश्य प्राप्त करेंगे। शुभ अशुभ कोई भी कर्म परमात्मा के विधान में निष्फल नहीं जा सकते।

नाधार्मिकैर्वृते ग्रामे न व्याधि बहुले भृशम्।
न शूद्रराज्ये निवसेन्न पाषण्डजनैर्वृते॥

जिस ग्राम में धर्मात्मा पुरुष नहीं है, जहां का जलवायु स्वास्थ्यकर नहीं है, जहां पर मूर्खों का राज्य है या पाषण्डी (अर्थात् असाधु किन्तु धर्म का ढोंग करनेवाले) मनुष्यों की भरमार है वहां न रहना चाहिये।

परक्षेत्रे गां चरन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित्।

दूसरे के खेत में चरती हुई गायको देखकर किसी से न कहे।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

जैसी बात या व्यवहार दूसरे हमारे साथ करें और हमें पसन्द न हो वैसी बात या वैसा व्यवहार हमें भी दूसरे के साथ कदापि न करना चाहिये। (यह एक ऐसा धार्मिक सिद्धान्त है कि इसे संसार के सारे मत मतान्तर के लोग एकमत होकर निर्विवाद स्वीकार करते हैं।)

न देवगुरुविप्राणां दीयमानन्तु वारयेत्।
न चात्मानं प्रशंसेद्वा परनिन्दां च वर्जयेत्॥

देवताओं के उद्देश्य से किंवा गुरुओं और ब्राह्मणों को यदि कोई कुछ दे रहा हो तो उसे नहीं रोके। अपने मुंह से अपनी प्रशंसा आप न करे, दूसरे की निन्दा न करे।

वर्जयेद्वै रहस्यं च परेषां गूहयेद्बुधः।

दूसरे की गुप्त बात जानने की चेष्टा न करे दूसरे की कोई गोपनीय बात यदि अपने को मालूम हो तो उसे प्रकट न करे।

न नग्नां स्त्रियमीक्षेत पुरुषं वा कदाचन।
न च मूत्रं पुरीषं वा न च संसृष्टमैथुनम्॥

नग्न स्त्री या पुरुष को न देखे, टट्टी पेशाब भी न देखे, दूसरे को मैथुन करते न देखे।

विविध श्लोक

अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम्।
अमृतं भोजनार्थे तु भुक्तस्योपरि तद्विषम्॥

अजीर्ण में जल औषधि के समान है, भोजन पच जाने पर जल पीना बल वर्द्धक है, भोजन के बीच में अमृत तुल्य हितकारी एवं भोजन के अन्त में जल पीना हानिकारक है।

इदमेव हि पाण्डित्यं चातुर्यमिदमेव हि।
इदमेव सुबुद्धित्वमायादल्पतरो व्ययः॥

आमदनी से कम खर्च करना ही सच्ची पण्डिताई, चतुराई एवं बुद्धिमानी है।

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥

जो आशा (लोभ या तृष्णा) के दास हैं वे सारे संसार के दास हैं। जिन्होंने आशा को वश में कर लिया है सारा संसार उनका दास हो जाता है।

तावन्महतां महत्ती यावत् किमपि हि न याचते लोकम्।
बलिमनुयाचनसमये श्रीपतिरपि वामनो जातः॥

बड़ों का बड़प्पन तभी तक है जब तक वे दूसरों से कुछ मांगते नहीं हैं। बलि से याचना करते समय पराक्रमी विष्णु भगवान् को भी वामन (छोटा) होना पड़ा।

सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मभृतैव भूः॥

जिसका मन सन्तुष्ट है उसको सारी सम्पत्ति प्राप्त है वही धनी और सुखी है। जिसके पाँवो में जूते हैं उसको पृथ्वी पर चलने में कांटों से बचने के लिये पृथ्वी पर चर्म बिछाने की आवश्यकता नहीं है वह जहां चाहे सुखपूर्वक जा सकता है उसके लिये तो सारी पृथ्वी ही चर्म से आच्छादित है। वास्तव में अधिक धन के लिये बेचैनी मनके असंतोष के कारण ही तो होती है। असंतोष के कारण जितना ही धन प्राप्त होता जायगा उतना ही अधिक पाने की लालसा बढ़ती जायगी और इससे बेचैनी भी बढ़ती जायगी।

तुलसीदासजी ने बड़ा ही अच्छा कहा है—

धनहीन कहै धनवान सुखी, धनवान कहै सुख राजा को भारी।
राजा कहै महाराज सुखी, महाराज कहै सुख इन्द्र को भारी।
इन्द्र कहै चतुरानन सुखी, चतुरानन कहै सुख विष्णु को भारी
तुलसीदास विचारि कहै: हरिभक्ति बिना सब लोक दुखारी॥

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम ।
उदारचरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

यह अपना है वह दूसरा है यह विचार क्षुद्र पुरुषों का होता है। उदार हृदयवाले (शुद्ध आचरणवाले) मनुष्यों के लिये तो सारा संसार ही अपना कुटुम्बी है।

उत्तमे तु क्षणं कोपो मध्यमे घटिकाद्वयम् ।
अधमे स्यादहोरात्रं चाण्डाले मरणान्तिकः ॥

• श्रेष्ठ पुरुषो का क्रोध क्षणभर के लिये होता है। मध्यम श्रेणी के लोगो का क्रोध दो घड़ी रहता है, नीचे दर्जे के लोग एक दिन-रात रखते है, चाण्डाल का क्रोध जीवन भर रहता है (उसका यदि कोई कुछ बुरा कर दे तो उसे मरते दमतक क्षमा न करेगा)। अतएव महापुरुष वे ही हैं जो किसी से बदला लेने की भावना दिल में नहीं रखते हैं।

उद्योगे नास्ति दारिद्र्यं जपतो नास्ति पातकम् ।
मौनेन कलहो नास्ति नास्ति जागरतो भयम् ॥

पुरुपार्थी मनुष्य को दरिद्रता नहीं हो सकती। ईश्वर के नाम का ज्ञान सहित जप करने से पाप पास नहीं आ सकता। चुप रहने से कलह नहीं हो सकता और सचेत रहने से भय नहीं हो सकता।

कोहि भारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सुविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥

समर्थ मनुष्यों के लिये कुछ भी भारी नहीं है, परिश्रमी मनुष्यों के लिये कही भी दूर नहीं है। विद्वानों के लिये कोई भी देश विदेश नही है। सब जगह विद्या के कारण स्वदेश जेसा ही उनका आदर होगा। जो प्रिय बोलनेवाले हैं उनके लिये कोई भी पराया नहीं है सब को वे अपनी वाणी से अपना बना लेते है।

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारमिति मन्यते॥

यथार्थ में ईट पत्थर के बने मकान को गृह नहीं कहते है, गृहिणी ही गृह है अर्थात् गृहिणी से ही घर की शोभा है एवं गृहस्थाश्रम की सारी व्यवस्था चल सकती है। जिस घर में उत्तम गृहिणी नहीं है वह जङ्गल के तुल्य है, यथार्थ में उसको घर नहीं कह सकते।

द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो विलशयानिव।
राजनमविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥

सांप जैसे विल में रहनेवाले जन्तुओं को ग्रस लेता है उसी प्रकार भूमि इन दोनों को ग्रस लेती है, एक तो ऐसे क्षत्रिय को जो युद्ध से डरे, और दूसरे उस ब्राह्मण को जो विदेश न जावे। घर में विद्या, कला आदि का यथार्थ आदर नहीं हो सकता।

जरामरणदुःखेषु राज्यलाभसुखेषु च।
न बिभेमि न हृष्यामि तेन जीवाम्यनामयः॥
यथाकालमुपायातावर्थानर्थौ समौ मम।
हस्ताविव शरीरस्थौ तेन जीवाम्यनामयः॥

यदा यदा मुने किंचिद्विजानामि तदा तदा।
मतिरायाति नौद्धत्यं तेन जीवाम्यनामयः॥
करोमीशोपि नाक्रांतिं परितापे न खेदवान्।
दरिद्रोपि न वाञ्छामि तेन जीवाम्यनामयः॥
सुखितोऽस्मि सुखापन्ने दुःखितो दुःखिते जने।
गर्वस्य प्रियमित्रं च तेन जीवाम्यनामयः॥

बुढ़ापा, मृत्यु किंवा दुःख अथवा राज्यलाभ कुछ भी प्राप्त होनेपर न तो डरे (या दुःख करे) और न हर्ष ही करे बल्कि दुःख-सुख हानि-लाभ सब में एक रस रहे वही मनुष्य नीरोग और सुखी रहता है। समय-समय पर अर्थ और अनर्थ प्राप्त होते रहते हैं इनको जो दोनों हाथों के जैसा समान भाव से देखता है वही मनुष्य नीरोग और सुखी है। जब-जब कोई नई विद्या की प्राप्ति करे तो मनुष्य को उचित है कि वह उससे अपनी बुद्धि को पवित्र करे उद्धत न हो जावे। इसी से सुख और आरोग्य की प्राप्ति होती है। शक्ति रहते हुए भी जो दूसरों पर आक्रमण नहीं करता, विपत्ति प्राप्त होने पर भी जो शोक नहीं करता तथा धनहीन होते हुए भी जो दूसरे के धन पर मन नहीं चलाता वही सुखी और नीरोग रहता है। दूसरे के सुख से सुखी और दूसरे के दुःख से जो दुःखी होता है तथा जो गर्वीले मनुष्यों से भी घृणा नहीं करता (अथवा जो विपत्ति मे भी आत्मसम्मान नहीं खोता है) वही सुखी और नीरोग रह सकता है।

धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पंचमः ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवसं वसेत् ॥
लोकयात्रा भयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता ।
पंच यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवसं वसेत् ॥
यस्मिन् देशे न संमानो न प्रीतिर्न च बान्धवाः ।
न च विद्यागमः कश्चिन्न तत्र दिवसं वसेत् ॥

जहाँ पर धनी, विद्वान्, राजा, नदी और वैद्य नहीं हो वहां पर एक दिन भी न रहे। जहाँ पर जीविका का साधन न हो, पाप और कुकर्म से लज्जा करनेवाले न हों, चतुर बुद्धिमान और त्याग शील लोग न हों वहाँ पर एक दिन भी न रहें। जिस देश में सम्मान न हो, प्रीति करनेवाले और बन्धुबान्धव न हों, विद्या-प्राप्ति न होवे उस देश में एक दिन भी न रहे।

दाने तपसि शौर्ये च विज्ञाने विनये नये ।
विस्मयो नहि कर्तव्यो बहुरत्ना वसुन्धरा ॥

दानशीलता, तप, बल, पराक्रम, ज्ञानविज्ञान, विनय और नीतिज्ञता अपने में जितनी भी अधिक क्यों न हो उसका अभिमान नहीं करना चाहिये। पृथ्वी रत्नों से भरी है। इसमें एक से एक बढ़कर हैं।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नो विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

अपनी माता, बहिन या पुत्री के साथ भी एकान्त में एक साथ न बैठे। इन्द्रियां बड़ी चञ्चल होती हैं और विद्वानों को

भी पथभ्रष्ट कर सकती है। अतएव बुद्धिमानी इसी में है कि ऐसा अवसर ही न आने दे। यों भी जब-जब किसी पुरुष को परायी स्त्री से बात करने की आवश्यकता हो तो मातृभाव को मन में रखते हुए ही उससे वार्तालाप करे, और स्त्री को भी ऐसा ही उचित है कि पराये पुरुष से पुत्रवत् भाव मन में रखते हुए ही बातचीत करे।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिवेत्।
सत्यपूता वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥

दृष्टि से पवित्र करके (अच्छी तरह देखकर) भूमि पर पांव रखे, जल को वस्त्र से छानकर ही पीवे, वाणी को सत्य से पवित्र करके बोले (अर्थात् असत्य, अप्रिय, एवं परहानि करनेवाले वचन न बोले) आचरण मन की पवित्रता से ही करे (किसी भी कर्म के करने में मन में हिंसा, राग, द्वेष, लोभ आदि के भाव न हों, कर्तव्यनिष्ठा और परहित की ही भावना सदा रहे)।

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

जिन में विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण वा धर्म कुछ भी नहीं है वे पृथ्वी पर भारस्वरूप ही हैं।

रे रे चातक सावधानमनसा मित्रं क्षणं श्रूयताम्।
अम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः॥
केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा।
यं यं पश्यति तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः॥

कवि चातक को सम्बोधन करके कह रहा है कि जरा साव-धान होकर सुनो—आकाश में मेघ बहुत हैं पर सभी समान नहीं हैं। कोई-कोई मेघ तो वृष्टि से पृथ्वी को आर्द्र कर औषधियों और वनस्पतियो को भोजन प्रदान करते हैं और उनके द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण करते है परन्तु कितने मेघ तो यों ही गरजते हैं पर बरसते नहीं हैं। अतएव जिस किसी को भी देखकर ही दीन वचन बोलना मत आरम्भ कर दो। मनुष्य के लिये यही शिक्षा है कि सब किसी को अपने दुःख न सुनाया करे और न हर किसी से कुछ मांगता रहे। अपना दुःख केवल परमपिता से ही कहे और प्रभु से ही याचना करे। परमात्मा ने जो हमारे शरीर में विवेक के साधन मन आदि, ज्ञानेन्द्रिय और हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रिय देकर हमें अच्छे-बुरे का विवेक करते हुए ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थ करने का शुभ आदेश दिया है उस आदेश का यथा-शक्ति पालन करने से प्रभु हमें सारे भोग्य पदार्थ अवश्य देंगे और हमारी सारी कमी को पूरी करेंगे इसमें सन्देह नहीं है।

यामसमध्ये न भोक्तव्यं द्वियामं नैव लंघयेत्।

दिनके पहले पहर में अर्थात सूर्योदय से तीन घंटे तक भोजन न करे। दोपहर तक बिना भोजन किये भी न रहे। बारह बजे के पहले अवश्य ही खा लेवे। एक पहर के भीतर भोजन करने से आम रस की वृद्धि होती है (जिससे आमाशय, आम वात आदि रोगों के होने की सम्भावना है)। दोपहर तक उपवास करने से रस का क्षय होता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

कृष्ण भगवान गीता में कहते हैं कि भोजनभट्ट आदमी योग नहीं कर सकता। बिल्कुल भूखा रहनेवाला मनुष्य भी योग नहीं कर सकता है। बहुत सोनेवाला अथवा बिल्कुल ही नहीं सोने-वाला मनुष्य भी योग नहीं कर सकता। उचित मात्रा में आहार-विहार करनेवाले तथा सोने जागनेवाले और चेष्टा करनेवाले ही योग के द्वारा सारे दुःखो का नाश करने मे समर्थ होते है। (अधिक भोजन से अजीर्ण, आलस्य आदि के कारण शरीर में काम करने की क्षमता नहीं रह जाती है अधिक उपवास से अथवा पाचनशक्ति से कम खाने से भी शरीर क्षीण होकर कार्य करने मे असमर्थ हो जाता है। कृष्ण जी ने गीता में योग का अर्थ बतलाया है 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् अपने कर्त्तव्य कर्म को सुचारु रूप से सम्पादन करना। दूसरा अर्थ है—

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।

पुरुपार्थ करते हुए सफलता असफलता जो कुछ भीप्राप्त हो उसमे सम भाव रखना, सफलता मे हर्ष अथवा असफलता में शोक न करना। चित्त का निरोध करके उसे ईश्वर मे लगाना भी योग है। इन सारे कार्यों के लिये शरीर की स्वस्थता नितान्त प्रयोजनीय है।)

देशाटनं पण्डितमित्रता च वृद्धोपसेवा च सभाप्रवेशः।
अनेकशास्त्राणि विलोकतानि चातुर्यमूलानि भवन्ति पंच ॥

अनेक देशों का भ्रमण, विद्वानों से मित्रता, वृद्धों की सेवा, राजसभा में प्रवेश तथा शास्त्रों का अध्ययन—ये पाँच चतुराई के मूल हैं।

गर्ज गर्ज क्षणं मूढ मधु यावत् पिवाम्यहम्।
मया त्वयि हृते पापे गर्जिष्यन्त्यत्र देवताः ॥

युद्ध क्षेत्रमें मा दुर्गाने महिषासुर से कहा था—मूर्ख, तू खूब गरज। जितना अधिक तू गरजेगा उतने ही कम समयमें मैं तेरा अहंभाव रूपी मद्य पी लूगी। अहंभाव स्वरूप मधु को पीकर मैं तेरी आसुरी सम्पत्ति का नाश कर दूंगी। तेरे मारे जाने के वाद जहाँ अभी तू गरज रहा है वहाँ देवता गरजेंगे। अर्थात् आसुरी भाव की समाप्ति पर दैवी भाव की अभिवृद्धि होगी।

भगवान् मानवके अहंभावको ही खाते हैं। अहंभाव आसुरी सम्पत्ति है उसके नष्ट हो जानेसे मानव देवता हो जाता है। इसलिये हमें कभी भी अपनेमें अहंभाव नहीं लाना चाहिये।

वस्तुतः सारे कार्य प्रकृति के विधानके मुताबिक चला करते हैं। हम तो उसमें केवल निमित्त हैं पर आसुरी भावके उदय होने से हम कर्म विशेषमें अपने को कर्त्ता मानने लगते हैं। इस सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

[प्रकृति के गुण—सत्त्व-रज-तमसे सारे कार्य किये जाते हैं पर अहंभाव की प्रधानता होने पर हम उसमें अपने को कर्ता मान बैठते है]

दक्ष यज्ञ के विध्वंस का कारण भी अहंभाव का उद्रेक ही था। दक्ष प्रजापति उस यज्ञ कर्म को, जो प्रकृति के कल्याण के लिये प्रवर्तित हुआ था, अपना मानी उसरों अपने को कर्ता मान कर बैठे थे। अहंभाव में आकर ही उन्होंने स्वयंभू शिव को उसमें आमन्त्रित नहीं किया था और उनके विषय में कुछ उटपटाग बातें भी कही थीं। सतीने दक्ष की शक्ति के रूपमे अपने आपको मिटा दिया। प्रजापति दक्ष का यज्ञ विध्वस्त हो गया।

न्यायागतधनस्तत्त्वनिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते॥

अपने पुरुषार्थ से धर्म एवं सत्यतापूर्वक धन प्राप्त करनेवाला तत्त्व ज्ञानमे निरन्तर मन लगाये रहनेवाला हित और अहितको समझते हुए घरमे आये हुए अतिथिका सत्कार करनेवाला और देवताओका पूजन, पितरो का श्राद्ध-तर्पण तथा माता-पिता की सेवा श्रद्धापूर्वक करनेवाला मन, वचन, कमसे सत्य आचरण करनेवाला ऐसा गृहस्थाश्रममें रहनेवाला भी पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

परान्नं परवस्त्रं च परशय्या परस्त्रियः।
परवेश्मनि वासश्च शक्रस्यापि श्रियं हरेत्॥

दूसरे का अन्न खाना, दूसरे का वस्त्र अपने काम में लाना, दूसरे की शय्या पर सोना, परायी स्त्री में कामवासना रखना, दूसरे के घर में रहना—ये कर्म इन्द्र की भी श्री हरनेवाले हैं। साधारण मनुष्यों का तो कहना ही क्या है।

परान्नं परद्रव्यं च तथैव तु प्रतिग्रहम्।
परस्त्री परनिन्दां च मनसाऽपि विवर्जयेत्॥

दूसरे का अन्न, दूसरे का धन, तथा प्रतिग्रह (दान) लेने, परायी स्त्री और पराये की निन्दा करना मन से भी छोड़ देना चाहिये। अर्थात् इन वस्तुओं पर मन ले जाना भी पाप है। यहां परान्न' एवं 'परद्रव्य' से वह अन्न एवं धन समझना चाहिये जो बिना सम्बन्ध, श्रम या मंगल कामना के, लिया जाता है। एक मित्र या सम्बन्धी परस्पर के व्यवहार क्षेत्र में आवश्यकता के अनुसार अपने मित्र या सम्बन्धी का अन्न किंवा धन ग्रहण कर सकता है। यहां दाता एवं ग्रहीता में परायेपन का अनुभव नहीं होना चाहिये।

कुछ ऐसे महापुरुष होते हैं जिनका अपना कुछ भी नहीं होता। वे मन, वचन एवं कर्म से संसार की मंगल कामना किया करते हैं। उन महापुरुषों के लिये सारा संसार अपना है। इसके सिवा जो लोग व्यक्ति विशेष की मंगल कामना तन-मन से करते हैं वह उनके लिये पराया नहीं होता। जो लोग अपने ही स्वार्थके लिये, केवल ले लेनेकी ताकमें लगे रहते हैं उनके कर्मोंकी सिद्धि कभी नहीं होती।

प्रतिग्रह (दान) दाताके कष्ट निवारणके वास्ते लिया जाता है। क्योंकि ब्राह्मणोका जीवन संसारके उपकारके लिये होता है। इस लिये वे प्रतिग्रह लेकर दाताका कष्ट निवारण करते हैं। ऐसी शक्ति भगवान्‌ने ब्राह्मणोमें रख छोड़ी है। कारण, उनमे त्याग है। प्रतिग्रह लेना अपने भोगके लिये नहीं होना चाहिये। प्रतिग्रह लेकर अपने पास नहीं रखना चाहिये। उसे बांट देना चाहिये। बाट देनेमें दाता एवं ग्रहीता—दोनो की भलाई है। लोभके वशीभूत हो जो प्रतिग्रह लिया जाता है वह दो मे से एकके लिये भी हितकर नहीं होता।

अपनी स्त्रीके साथ भी सहवासके शास्त्रोंने नियम बताये है (जिनका इस पुस्तकमे एकाधिक वार उल्लेख हुआ है) उससे विपरीत चलने पर पाप लगता है। फिर परायी स्त्रीकी तो बात ही दूसरी है। परायी स्त्री तो माता की भांति पूजनीय है।

दूसरेकी निन्दा करना पातक है। निन्दाकी जड़मे असूया रहती है। उसीसे प्रेरित होकर मनुष्य दूसरे पर कीचड़ उछालता है। किसी महाकविने जैसा कि कहा है—'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दा प्रकुर्वते।'—बड़े पद पर पहुंचने की अभिलाषा रखने वाले किन्तु उस पर नहीं पहुंच सकने वाले लोग उन पदों पर आसीन जनोकी निन्दा किया करते है। इससे प्रकट होता है कि निन्दक पुरुष अपने जीवनमें उन्नति करने किंवा सुखी होनेका साधन खो बैठता है। वह परायेकी निन्दा करके अपने कर्त्तव्योंकी

इति समझ लेता है। पुनः ऊपर उठनेका प्रयास नहीं करता। परनिन्दा इह लोक एवं परलोक—दोनोंका नाशक है। इस लिये इससे वचना चाहिये।

वस्तुओंकी आवश्यकता होनेपर दूसरेकी वस्तु विनिमयमें ली जा सकती है परन्तु मुफ्तमें परायी वस्तु लेनेका विचार मनमें भी नहीं आना चाहिये। कारण, मुफ्तमें परायी वस्तु लेनेसे आलस्य उत्पन्न होता है। आलस्यसे उद्योगमें कमी आती है। उद्योगके अभावसे मानवतासे च्युति हो जाती है।

अतः सर्वात्मना देवि, वाणिज्यकृषिकर्मसु।
प्रमादव्यसनालस्यं मिथ्यालापं विवर्जयेत्॥

—व्यापार, खेती और किसी भी दूसरे काममें असावधानी न करे। दुर्व्यसनोंमें आसक्ति और आलस्य हर हालतमें छोड़ देना चाहिये। असत्य भाषण तो कभी भी नहीं करना चाहिये।

जिह्वा दग्धा परान्नेन हस्तौ दग्धौ प्रतिग्रहात्।
मनो दग्धं परस्त्रीषु कथं सिद्धिर्वरानने॥

हे पार्वति! जिनकी परान्न सेवनसे जिह्वा (जीभ) दग्ध हो गयी तथा प्रतिग्रह (दान) लेने से हाथ दग्ध हो गये, जिनका मन परायी स्त्रियोंको दोष दृष्टिसे देखनेसे दग्ध हो गया ऐसे पुरुषों को सिद्धि एवं सुख कभी भी प्राप्त नहीं होता।

आलस्यं स्त्रीसेवा सरोगिता जन्मभूमिवात्सल्यम्,
सन्तोषो भीरुत्वं षड् व्याघाता महत्त्वस्य।

आलसी स्वभाव, काम-पिपासाकी पूर्तिके लिये स्त्रियोके पीछे लगा रहना, बराबर रोगी रहना जन्म-स्थान को न छोड़ना, सन्तोष और डरपोकपन—ये छः बड़प्पनके बाधक हैं अर्थात् इनमेंसे कोई एक भी जिस पुरुषमे आ जाय वह बड़ा नही हो सकता।

आलस्य—प्रातःकाल सूर्योदयसे पहले उठना चाहिये, नियत समयपर स्नान-सन्ध्या-तर्पण समाप्त कर लेना चाहिये, मध्यान्ह भोजन उचित समय पर ही करना चाहिये और जीविकोपार्जन मे निर्धारित समय पर लग जाना चाहिये। यह जागरुकता है। इससे विपरीत आचरण करना। दूसरे शब्दोमें खाना-पीना गप-शप करना और सोने ही मे सारा समय लगा देना आलस्य है। इसके सिवा किसी काममे मन न लगाना भी आलस्य है।

स्त्री सेवा—स्त्रियोमें पूज्य बुद्धि रखकर उनकी सेवा करना तो बड़प्पन का मार्ग है। इसके प्रतिकूल काम-पिपासाकी तृप्तिके लिये उनके पीछे-पीछे फिरना, गलेमे गला लगाकर पार्कों एवं सड़को पर घूमना, स्त्रियोकी गोष्ठीमे बैठकर नर्महास्य, डींगे मारना आदि स्त्री सेवा शब्दसे कहा गया है।

सरोगिता—ऐसा आचरण करना जिससे रोग सदा बना रहे या स्वभावतः सदा रोगी रहना।

जन्मभूमिवात्सल्य—जन्म स्थान को छोड़नेमे पीड़ा का अनुभव करना।

सन्तोष—विद्या, ज्ञान एवं धन उपार्जनसे क्षण भरके लिये भी विरत नहीं होना चाहिये। ये तीनों चीजें व्यक्ति एवं राष्ट्रके महत्त्व को बढ़ाती हैं। इनसे सन्तोष कर लेना महत्त्व का बाधक है।

भीरुत्व—डरपोकपन। यह कई तरहका होता है। भूत पिशाच से भय, अकारण भय, किसी वस्तु को आखिरी रूप देनेमें भय, बड़ा उद्योग प्रारम्भ करनेमें भय आदि। सभी कार्यों का परिणाम अनुकूल ही नही होता। पर परिणाम की प्रतिकूलता का विचार कर किसी उद्योग को प्रारम्भ न करना कायरता है। नीति कहती है—'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति। संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति'—संशयात्मक काम किये बिना मनुष्य उन्नति नहीं कर सकता। संशयात्मक काममें खतरा है पर फूलमें भी तो कांटे होते हैं। उन्हें हटाकर ही फूल चुनते हैं। इस लिये सन्तोष भी भीरुता का ही एक रूप है और वह महत्त्व का बड़ा बाधक है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

अपने जाने नही, गुरुजनों एवं शास्त्रों में श्रद्धा भी न रखे, सदा मन में संशय रखे एवं सब में सन्देह करे ऐसे मनुष्य के लोक परलोक दोनो ही नष्ट हो जाते हैं।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

नीति में निपुण लोग निन्दा करें या प्रशंसा करें, लक्ष्मी आवे अथवा जहाँ इच्छा चली जावे, मृत्यु आज ही हो जावे किंवा युगो बाद होवे, इसकी लेशमात्र भी चिन्ता न कर धीर (बुद्धिमान) पुरुष न्याय (धर्म) के मार्ग से एक पग भी विचलित नहीं होते।

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः
सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः ॥

जिनका मन सदा विद्या की चर्चा मे लगा रहता है, जिन्होने उत्तम शील की शिक्षा धारण की है, सत्य ही जिनका व्रत है, जिनमें अभिमान का मल जरा भी नहीं, जो संसार के प्राणिमात्र का दुख दूर करने मे प्रयत्नशील है तथा परोपकार मे ही सर्वदा निरत रहते हैं वे महापुरुष धन्य हैं।

धर्मं शनैः संचिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥

किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं देते हुए धर्म का शनैः-शनैः संचय करते जाना चाहिये। परलोक मे सहायक एक मात्र धर्म ही होता है।

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥

परलोक में माता, पिता, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी आदि सहायता के लिये उपस्थित नहीं हो सकते। एक मात्र धर्म ही वहाँ पर साथ दे सकता है। अतएव माता, पिता, स्त्री, पुत्रादि के मोह में पड़कर धर्म को न त्याग देवे। धर्म उन सबसे अधिक उपकारी है उसका सेवन सदा ही करता रहे और धर्म की मर्यादा में रहते हुए ही पुत्रादि परिवार वर्ग का पालन करे।

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

—खल यदि विद्या सम्पन्न हुआ तो विवाद करेगा, धनी हुआ तो घमण्ड करेगा और यदि बलशाली हुआ तो दूसरोंको कष्ट देगा। इसके प्रतिकूल सज्जन पुरुष विद्यासे ज्ञानार्जन करेगा, धनका उत्तम पात्रोंमें दान करेगा और शक्तिशाली होकर असक्तोंकी रक्षा करेगा।

एक ही वस्तु आश्रम भेदसे भिन्न २ गुण प्रकट करती है।

सर्पाणा च खलानां च सर्वेषां दुष्टचेतसाम्।
अभिप्राया न सिद्धन्ति तेनेदं वर्त्त ते जगत्॥

—सर्पों, खलों और सभी दुष्ट प्रकृतिके प्राणियोंका मतलब सिद्ध नहीं होता, इसी लिये यह संसार वर्त्तमान है। यदि उनका मतलब सिद्ध हो जाय, तो वे संसारको एक क्षण भी टिकने न दें।

आदौ गुर्वी स्वतरा च पश्चात् पूर्वं लघुर्वृद्धिमती क्रमेण ।
दिनस्य पूर्वार्द्ध-परार्द्ध भिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥

खलोंकी मित्रता, प्रारम्भमे बड़ी गाढ़ी होती है और आगे चलकर धीरे-धीरे वह कम होने लगती है। इसके विपरीत सज्जनोंकी मित्रता प्रारम्भमे तो हलकी होती है पर क्रमशः बढ़ती जाती है, जैसे प्रातःकालीन एवं मध्याह्नोत्तर की छाया होती है। प्रातःकालीन छाया लम्बी होती है पर मध्याह्न तक वह बहुत ही छोटी हो जाती। दो पहरके बाद की छाया इसके उल्टी होती है।

कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृंखला इव ।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदेपदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव ॥

—खलकी उपमा हाथ या पैर से पड़ी हुई बेड़ीसे दी गई है। बेड़ीकी आवाज कर्कश होती है। वह जिस जगह पड़ी हुई होती है उसे काला कर डालती है और कष्ट तो खूब ही देती है। इसके विपरीत सज्जनकी उपमा मणियोसे रचित नूपुर से दी गयी है। नूपुरकी ध्वनि मधुर होती है और श्रोताके मनको बरबस वह अपनी ओर खींच लेती है।

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्यायालंकृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ॥

दुर्जन यदि विद्वान् हो तो भी उससे दूर रहना चाहिये। मनियार सांप भी क्या विषधर नहीं होता ? विद्या उत्तम वस्तु है। उससे विनय आता है। किन्तु विद्वान् होकर भी जो विनय-

शील न हुआ, दुर्जन ही रहा वह साधारण दुर्जनोंकी अपेक्षा अधिक भयंकर होता है। इसलिये उससे हर तरह से बचना चाहिये। कहते हैं—मनियारा सांप अधिक भयंकर होता है।

उत्साह सम्पन्न मदीर्घसूत्रम्।
क्रियाविधिज्ञम् व्यसेनस्वसक्तम्॥
शूरम् कृतज्ञम् दृढ़ सौहृदञ्च।
लक्ष्मी स्वयं याति निवास हेतौः॥

उत्साह से युक्त, आलस्य रहित, क्रिया विधिके जाननेवाले, दुर्व्यसनों से रहित, बलवान, किये हुए को जाननेवाले एवं दृढ़ मित्रतावाले, ऐसे पुरुषों के पास लक्ष्मी स्वयमेव आ जाती है।

जाड्यंधियो हरति सिञ्चतिवाचि सत्यम्।
मानोन्नतिं दिशति पापमपा करोति॥
चेतप्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्।
सत्संगति कथय किन्नकरोति पुंसाम्॥

बुद्धि की जड़ता को नष्ट करती है, वाणी में सत्यता का प्रादुर्भाव करती है, मानको बढ़ाती है, पापको दूर करती है, चित को प्रसन्न करती है, लोकमें यशको फैलाती है। कहो सत्संगति मनुष्य के लिये क्या नहीं करती है।

सानन्दम् सदनम् सुताश्चसुधिया कान्ता न दुर्भाषिणी।
सन्मित्रम् सुधनम् स्वयोषित रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः॥
आतिथ्यम् शिवपूजनम् प्रतिदिनम् मिष्टान्न पानम् गृहे।
साधोः सङ्गमुपासते हि सततम् धन्यो गृहस्थाश्रमः॥

जिनका घर आनन्दोल्लास से परिपूर्ण है, पुत्र विद्वान् है, प्रिय-भाषिणी स्त्री है, सन्मित्र है, अर्थात् स्त्री में रति है, आज्ञा में रहने वाले सेवक हैं। सर्वदा अतिथि सत्कार होता है, शिव पूजन होता है, घरमें नित्य ही मिष्टान्न पान (प्राकृतिक आहार) होता है। निरन्तर सज्जन पुरुषों की संगति होती है ऐसा गृहस्थाश्रम धन्य है।

सर्पा पिवन्ति पवनम् न च दुर्वलास्ते।
शुष्कैः तृण वनगजाः वलिनो भवन्ति॥
कन्दैर्फलैः मुनिजनाः क्षपयन्ति कालम्।
सन्तोष एव पुरुषस्य परम् प्रधानम्॥

सर्प वायु पीते हैं परन्तु दुर्वल नहीं है, हाथी शुष्क तृणके खाने से ही वलवान होते हैं, कन्द, फलो के आश्रय से मुनिजन कालको व्यतीत करते हैं। अर्थात् सन्तोष ही पुरुष का परम धर्म है।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ये भारत भूमि भागे।
स्वर्गापवर्गस्य फलार्जनाय, भवन्ति भूयः पुरुषा सुरत्वात्॥

जिनका भारत भूमि भागमें जन्म हुआ है वे धन्य है। ऐसा देवता लोग गीत गाते है। क्योकि स्वर्ग और अपवर्ग के फलको उपार्जन करने के लिये सुरत्व से पुनः मनुष्य होते है।

किं तेन हेम गिरिणा रजताद्रिणावा।
यत्राश्रिताश्च तरव स्तरवस्तएव॥
मन्यामहे मलयसेव यदाश्रयेण।
कङ्कोल निम्व कटुजा अपिचन्दनास्युः॥

अर्थात्—स्वर्ण पर्वत, रजत पर्वत से क्या प्रयोजन, क्योंकि उनके पास होनेवाले वृक्ष, वृक्ष ही रहते हैं। उनमें कोई भी भिन्नता नहीं आती। हम तो मलय पर्वत को ही उच्च समझते हैं जिसके आश्रय से कङ्कोल, निम्ब तथा कटु वृक्ष भी चन्दन हो जाते हैं।

एह्यागच्छ समाश्रयासनमिदम् कस्माश्चिराद्दृश्यसे,
का वार्ताकुशलोऽसिबालसहितः प्रीतोऽस्मि ते दर्शनम्।
एवं ये समुपागतान् प्रणयिता प्रल्हादयन्त्यादरात्,
तेषाम् शक्यमशंकितेनमनसा हर्म्याणि गन्तुं सदा॥

अर्थात् यहां आवो, यह आसन है, बहुत दिनों से दर्शन दिये, कहो क्या बात है, कुशल तो है; कुटुम्ब सहित मैं आपके दर्शन से प्रसन्न हूं। इस प्रकार से जो सत्कार करते हैं उनके घर निशंक मनसे जाना चाहिये। जो आये हुए का आदर न करें उनके घर कभी नहीं जाना चाहिये।

रक्षः पतिः जनकजा हरणेनवाली,
तारापहार विधिना स च कीचकोऽपि।
पांचालिका प्रमथनान्निधनम् जगाम,
तस्मात् कदापि परदार रतिम् न कुर्यात॥

भगवती सीता के अपहरण से रावण, सुग्रीव की स्त्री ताराके अपहरण से बाली, द्रौपदी (पांचालिका) के प्रमथन से कीचक मृत्यु को प्राप्त हो गये। अतः मनुष्य मात्रको कभी भी परस्त्री में

रति नहीं करनी चाहिये। सदव मातृभाव से देखना चाहिये; क्योंकि सम्पूर्ण स्त्रियां शक्तिरूपा तथा पूज्या हैं।

परस्त्री मातेव कचिदपि न लोभः परधने,
न मर्यादाभङ्गः क्षणमपि न नीचेष्वभिरुचिः।
रिपौ शौर्यं स्थैर्यं विपदि विनयं सम्पदिसता,
मिदंवर्त्म भ्रातर्भरत नियतं यास्यसिसदा॥

हे भरत—परस्त्री को माता के समान समझना चाहिये। दूसरे के धनपर कभी भी मन नहीं चलाना चाहिये। मर्यादा का कभी भी उल्लंघन नहीं करना चाहिये, नीच की संगति भी नहीं करनी चाहिये; शत्रु पर वीरता दिखलानी चाहिये, विपत्ति में धैर्य रखना चाहिये, सम्पत्ति में नम्रता रखनी चाहिये। यह उपदेश मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रजी ने जनतन्त्रात्मक राज्यके विषय में दिया था। अतः मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है कि वह इन नियमों पर चलता हुआ अपना तथा संसार का कल्याण करें।

विष्णोः प्रार्थयमेदिनीं पशुपते वीर्यं वलात्कारणम्।
प्रेतेशान्महिषं तवास्ति वृषभः फालं त्रिशूलं कुरु॥
शक्ताऽहं तवचान्न-पान नयने स्कन्दोगवा रक्षणे।
भिक्षां संत्यज गर्हितां कुरु कृषिं गौरीवचः पातुवः॥

भगवती गौरी भगवान् शंकर से, प्रार्थना करती है कि हे पशुपते उतिष्ठ, पराक्रम को धारणकर, आलस्य को छोड़, निन्दनीय भिक्षा वृत्तिको त्यागकर श्रमयुक्त कृषी (खेती) करो। जिस के

लिये विष्णुसे पृथ्वी, प्रेतेश (यमराज) से महिष ग्रहण करो तथा वृष आपके पास है, त्रिशूल का हल बनाओ। मैं आपके लिये अन्न पानादि लानेमें असमर्थ हूं। स्कन्द (कार्तिक स्वामी) को गौ रक्षा के लिये नियुक्त करो। इस प्रकार सुचारु-रूपसे कार्यमें संलग्न हो जाओ। यह जो उपदेश है वह संसार के तमाम गृहस्थियों के लिये प्रयोजनीय है। अतः आलस्य को छोड़ अपने पैरोंपर खड़े होओ, परमुखापेक्षी मत बनो, पुरुषार्थ करो।

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवी श्रिताः॥
अथो अन्नेनैवजीवन्ति। अथैतदपि यन्त्यततः॥
अन्नं हि भूतानां जेष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधमुच्यते॥
अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नं न निंद्यात्॥

तद्व्रतम्। प्राणोवा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। आपोवाअन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अन्नं वहुकुर्वीत। तद्व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशो अन्नादः। इति तैतिरीयोपनिषत्॥

अन्न से ही प्रजा उत्पन्न होती है। जो कुछ भी पृथ्वीपर स्थित है वह अन्न से ही है। अन्न से ही तमाम प्राणी जीते हैं। अन्तमें अन्नमें ही समाजाते हैं। अन्न ही प्राणियों में ज्येष्ठ है। इसी कारण अन्न सर्वौषधरूप है। अन्नको साक्षात् ब्रह्म जानो। अन्न की निन्दा मत करो। यह भी व्रत है। प्राण भी अन्न ही है। शरीर अन्न को खानेवाला है। जल भी अन्न ही है। अग्नि (ज्योति) अन्न को खानेवाली है। अन्नकी वृद्धि करो। यह भी व्रत है। पृथ्वी भी अन्न ही है। आकाश अन्नको खानेवाला है।

राजनिघण्टुसे उपयोगमें आनेवाली कतिपय वस्तुओंके गुण एवं यत्र-तत्र कुछ प्रयोग भी लिखे जाते है—

पीपर

पिप्पली ज्वरहा वृष्या स्निग्धोष्णा कटुतिक्तका।
दीपनी मरुतश्वासकासश्लेष्मक्षयापहा॥

पीपर, ज्वरघ्न, शुक्रल, स्निग्ध, उष्ण, रसमें कटु, तिक्त है और अग्निको दीप्त करती है। इसके प्रयोगसे वायु, दम, खांसी, कफ और मामूली क्षय (राजयक्ष्मा) नष्ट होता है। पीपरके चूर्ण को मधुके साथ खानेसे कास-श्वास-कफके विकार शान्त होते हैं। पीपर बहुत ही तीक्ष्ण है, इसलिये अपना काम भी बहुत जल्द करती है। चरकने पीपरका अधिक उपयोग मना किया है।

सोंठ

शुण्ठी कटूष्णा स्निग्धा च कफशोफानिलापहा।
शूलबन्धोदराध्मानश्वासश्लीपदहारिणी॥

सोंठ कड़वी, गर्म और चिकनी है। इसके प्रयोगसे कफ, सूजन, वायु, मरोड़ा, कब्ज, पेटका फूलना, कास और फिलपांव नष्ट होता है। प्रातःकाल अनपच मालूम होने पर सोंठका चूर्ण मिश्री मिलाकर गर्म पानी के साथ खानेसे अनपच जाता रहता है।

मरिच

मरिचं कटु तिक्तोष्णं लघु श्लेष्मविनाशनम्।
समीरक्रिमिहृद्रोगहरं च रुचिकारकम्॥

सुगंधित, कड़वी, तिती, गर्म और हल्की है। इसके प्रयोगसे कफ, वायु, पेटके कीड़े, एवं हृद्रोग जाते रहते हैं और रुचि बढ़ती है।

सोंठ-पीपर-मरिचको आयुर्वेदमें 'कटुत्रय' और 'त्रिकटु कहते हैं। आयुर्वेदकी दवाओंमें इनका बहुत अधिक प्रयोग आता है। कटुत्रयका चूर्ण नमक मिलाकर खानेसे तमाम उदरके रोग नष्ट होते हैं। त्रिकटुके चूर्णमें जवाखार मिलाकर प्रयोग करनेसे उदरशूल तुरत शान्त होता है।

जवाइन

यवानी कटुतिक्तोष्णा वातार्शःश्लेष्मनाशिनी।
शूलाध्मान क्रिमिच्छर्दिमर्हिनी दीपनी परा।

जवाइन कड़वी, तिती और गर्म है। इसके प्रयोग से वायु, बवासीर, कफ, मरोड़ा, पेटके कीड़े और कै बन्द होती है एवं अग्निवर्द्धन की इसमें बड़ी शक्ति है। जवाइनका अर्क अग्नि दीपन में प्रयुक्त होता है और उससे गुल्म भी शान्त होता है। हाजमे की हर तरह की गड़बड़ी, जवाइनमें काला या सेंधा नमक मिला-कर गर्म पानीके साथ खानेसे मिटती है। अरबीमें जवाइनका छौंक उसके श्लेष्मल एवं वातल स्वभाव का ख्याल करके ही दिया जाता है।

दोनों इलायची

एलाद्वयं शीतलतिक्तमुक्तं सुगन्धि पित्तार्तिकफापहारि।
करोति हृद्रोगमलार्तिबस्तिशूलघ्नमत्र स्थविरा गुणाढ्या॥

दोनों इलायचियाँ ठंढी, तिती, सुगन्धविशिष्ट, कफपित्त शामक हैं। हृद्रोग, पेटके मल, पीड़ा, जी मिचलाना, पेडूका दर्द आदि इनके प्रयोगसे नष्ट होते हैं। इलायची जलाकर मधुके साथ देनेसे छोटे बच्चोंकी कै वन्द हो जाती है।

धान्य पंचक क्वाथ

धान्यवालकविल्वाब्दनागरैः साधितं जलम्।
धान्यपंचकमेतत् स्याद् ग्राहि दीपनपाचनम्॥
इदं धान्यचतुष्कं स्यात् पित्ते शुण्ठी विनापुनः।
चक्रदत्त चिकित्सा अतिसाराधिकार।

धनिया, खस, कच्चे वेलकी गिरी, नागरमोथ और सोंठ सम भाग। इनको जौकूट चूर्ण करके रखले। इसमें से १। तोला चूर्ण लेकर वीस तोला पानीमें पकाकर पाँच तोला जल बाकी रहे तब ठंढाकर स्वच्छ कपड़े से छान कर आवश्यकतानुसार दिनमें २-३ वार देवे। यह क्वाथ उत्तम पाचन दीपन और ग्राही है। सब तरह के अतिसार में इसका प्रयोग होता है। मंदाग्नि के लिये विशेष फायदेमन्द है।

लवंग

लवंगं लघु चक्षुष्यं हृद्यं दीपनपाचनम्।
शूलानाहकफकासश्वासच्छर्दिक्षयापहम्॥

लवंग हल्का, आंखों और हृदयके लिये हितकर, अग्निदीपक एवं अजीर्णका पाचन है। इससे शूल, पेटका फूलना, कफ, श्वास,

कास और क्षय (यक्ष्मा) नष्ट होता है। लवंगके काढ़ेसे ज्वर चला जाता है। आगमें सेंककर या यों ही मुखमें रखकर चूसनेसे श्वास कास शान्त होता है। आँख उठनेपर स्त्रीके दूध या पानीमें घिसकर छापनेसे आँखों का दर्द कम हो जाता है।

लवङ्गादि चूर्ण आयुर्वेद का एक प्रसिद्ध भेषज है। लवङ्ग, मरिच, बहेरेके बराबर-बराबर चूर्ण। इन तीनोंके बराबर कत्थेका चूर्ण। सबोंको बबूलकी छालके काढ़ेके योगसे चनेके बराबर गोली बनानी चाहिये। यह लवङ्गादि वटी है। इसके मुखमें रखनेसे खांसी जाती रहती है। मुखके छाले भी नष्ट होते हैं।

कस्तूरी

कस्तूरी सुरभिस्तिक्ता चक्षुष्या मुखरोगजित्।
किलासकफदौर्गन्ध्यवातलक्ष्मीमलापहा।

कस्तूरीमें खूब स्पष्ट गन्ध है। यह तिती, आंखोंके लिये हितकर, मुखगत रोगोंको शान्त करती, किलास (श्वेत कुष्ठ—जिसमें थोड़ी लाली भी रहती है), कफ, दुर्गन्ध, वायु, गन्दगी और मलका नाश करती है। कस्तूरी आयुर्वेदके उत्कृष्ट औषधों में एक है। कस्तूरी भरव, आदि बड़े-बड़े योगोंमें इसीकी प्रधानता है। सन्निपात ज्वरमें, जब कफ ज्यादा बढ़ जाता है या वृद्धोन्मुख होता है, इसका प्रयोग चिकित्सकजन करते हैं।

कपूर

कर्पूरः शीतलो वृष्यश्चक्षुष्यो लेखनो लघुः।
कफदाहास्ययवैरस्यमेदःशोथविषापहः॥

कपूर ठण्डा, शुक्रवर्द्धक, आंखोंका हितकर, चर्बी छांटनेवाला और हलका है। इसके प्रयोगसे कफ, दाह, मुखकी विरसता, मेदा, सूजन और विष दूर होते है।

मूली

मूलकं तीक्ष्णमुष्णं च कटूष्णं ग्राहि दीपनम्।
दुर्नामगुल्महृद्रोगवातघ्नं रुचिरं गुरु॥

मूली तीक्ष्ण, गरम, रसमे कटु, कब्जकरनेवाली, फिर भी स्वभावतः अग्निवर्द्धक है। इसके सेवन से बवासीर, गुल्म, हृद्रोग और वायु शान्त होते हैं। इससे रुचि बढ़ती है और यह भारी भी है। मूली तभी तक लाभ पहुंचाती है जबतक वह कोमल रहती है। बाल मूलीको वाग्भटने खाये जानेवाले कन्दोंमें पाचनकी दृष्टिसे श्रेष्ठ माना है। मूलीके पानीमें लवण मिलाकर १५ दिनो तक धूपमें पकाकर भोजनोत्तर ॥) भरसे १) भर तक पीनेसे पेटके प्रायः सभी रोग दूर होते हैं।

सहेंजन

शिग्रुश्च कटुतिक्तोष्णस्तीक्ष्णो वातकफापहः।
मुखजाड्यहरो रूच्यो दीपनो व्रणदोपनुत्॥

सहेंजन रसमें कटु, तिक्त साथ ही गर्म एवं तीक्ष्ण भी है। वायु एवं कफ को दूर करता है। मुँहके अस्वाद को हरता, रुचि बढ़ाता, जठराग्निको तेज करता और घाव फुन्सी को ठीक करता है। सहेंजन का समय है वसन्त। वसन्तमें घाव फुन्सियां

भी होती हैं। सहैंजनके उपयोगसे रक्त शुद्ध होता है और घाव-फून्सी मिटते हैं।

सहैंजनके योगके लिये निम्न लिखित एक योग है—सोंठ, सोहागा, सेंधा, गान्धी। सहजन इसमें बरिया बांधी। अस्सी बाय बहत्तर पीड़ा कहे धन्वन्तरि क्षणमें रांधी। सोंठ, सोहागे का लावा, सेंधा नमक और हींग—बराबर को सहैंजनकी छालके रसमें बनबेर बराबर की गोली बना-सुखाकर गर्म पानीके साथ खानेसे पेटके अधिकतर विकार दूर होते हैं।

जिमिकन्द (शूरण)

शूरणः कटुकरुच्यदीपनः पाचनः क्रिमिकफानिलापहः।
श्वासकासवमनार्शसां हरः शूलगुल्मशमनोऽस्रदोषकृत्॥

जिमिकन्द रसमें कड़ुआ, रोचक, अग्निवर्द्धक पाचन, क्रिमि, कफ एवं वायुका शमक, सांस, खांसी, वमन, बवासीर, पेटका दर्द और गुल्मको शान्त करता है पर रक्तमें थोड़ी गड़बड़ी भी पैदा करता है। जिमिकन्द का एक नाम अर्शोघ्न भी है यानी बवासीर का नाशक। इसलिये बवासीर पर इसके कतिपय प्रयोग होते हैं पर यह लाभ वहीं पहुंचता है जहां बवासीरसे खून न आता हो। दूसरे शब्दोंमें, बादी बवासीर पर यह काम करता है—खूनी को नुकशान पहुंचाता है। पुटपक विधानसे पकाकर इसका भर्ता—तेल एवं लालमिरचसे शून्य—बादी बवासीर पर बड़ा काम करता है और कब्ज को मिटाता है।

वथुआ शाक

वास्तुकं तु मधुरं सुशीतलं क्षारसौषदम्लं त्रिदोषजित् ।
रोचनं ज्वरहरं महार्शसां नाशनं च मलमूत्रशुद्धिकृत् ॥

वथुआ रसमें मीठा, थोड़ा खट्टा, बहुत ही ठंढा, खारा, वात-पित्त कफका शमक, रुचिकर ज्वरहर और बवासीरका नाशक है। पेशाब और पाखाना साफ लाता है। वथुआमें क्षार और अम्ल होनेसे यह उत्तम पाचन है। पुराने वैद्योंका विचार है कि सालमें दो चार बार वथुएका शाक अवश्य खाना चाहिये। इससे पेटके विकार तो शान्त होंगे ही संयोगतः बाल आदि, जो पेटमें चले आते हैं, वहाँ जाकर पचते नहीं तथा न निकलते हैं बल्कि आंतोंमें चिपक जाते हैं और नानाविध उदर रोग उत्पन्न करते हैं। वे सब वथुए का शाक खानेसे गलकर मलके साथ बाहर निकल जाते हैं। इस दृष्टिसे वथुआ एक उत्तम शाक है।

पालकी शाक

पालक्यमोपत् कटुकं मधुरं पथ्यशीतलम् ।
रक्तपित्तहरं ग्राहि ज्ञेयं सन्तर्पणं परम् ।—राजनि०
पालक्या वतला शीता भेदिनी श्लेष्मला गुरुः ।
विष्टंभिनो. मदश्वासरक्तपित्तकफापहा ।-मदनपालनि०

पालकी मधुर, थोड़ी कड़वी, पथ्य, ठंढी, रक्तपित्तशामक, कब्ज करनेवाली और खूब तृप्ति देनेवाली है। (राज: नि०)

पालकी वातल, साफ पाखाना लानेवाली (कब्जकरनेवाली नहीं) कफवर्द्धक, भारी, अतएव ठहरकर पचनेवाली, नशा, सांस, रक्त-पित्त और कफ नाशक है (म० नि०)

दोनों निघण्टुओंमें पालकीके गुणमें फरक है और विपरीतता भी। पहलेमें पालकी ग्राहि (कब्ज करनेवाली) दूसरे में भेदिनी (पाखाना साफ लानेवाली) बतायी गई है। इसका समन्वय अनुभवके आधार पर यों होता है—यह देरसे पचती है, कुछ वायु को भी बढ़ाती है इसी अर्थमें इसे 'ग्राहि' कहा गया है। वस्तुतः है तो साफ पाखाना लानेवाली ही। दूसरे श्लोक में 'श्लेष्मला' एवं 'कफपहा' परस्पर विरुद्ध शब्द आये हैं। यहां 'श्लेष्मला' का अर्थ शक्तिवर्द्धक एवं 'कफपहा' का अर्थ अतिरिक्त कफके दूरी करणसे है।

परवल (मदनपाल निघण्टुसे)

पटोलं पाचनं हृद्यं वृष्यं लघ्वग्निदीपनम्।
स्निग्धोष्णं हन्ति कासास्रज्वरदोषत्रयक्रिमीन्॥

परवल (फल) पाचन, हृदयके लिये हितकर, रतिशक्ति-वर्द्धक, हल्का, अग्नि दीपक, चिकना और गर्म है। इससे खांसी, रक्त, ज्वर, वृद्ध वात-पित्त-कफ और क्रिमि रोग दूर होते हैं।

पत्रं पित्तहरं शीतं वल्ली तस्य कफापहो।
मूलं विरेचनं प्रोक्तं फलं दोषत्रयापहम्॥

परवलके पत्ते ठंढे हैं और पित्तको शान्त करते हैं। डण्ठल कफ का नाश करता और जड़ विरेचन की क्षमता रखती है।

फलको तो कह ही आये हैं कि वह त्रिदोष शामक है। पित्त-ज्वरमें धनियां आदि देकर बनाया हुआ परवलका जूष बड़ा काम करता है।

[illegible]गन

वृन्ताकं स्वादु तीक्ष्णोष्णं कटुपाकं च पित्तलम्।
कफवातहरं हृद्यं दीपनं शुक्रलं लघु।
ज्वरारोचककासघ्नं पक्वं तत् पित्तलं गुरु।

बैंगन मीठा, तीक्ष्ण, उष्ण, पाकमें कटु, पित्तवर्द्धक, कफवात शामक, हृदयके लिये हितकर, अग्नि दीपन, शुक्रवर्द्धक और हलका है। यह ज्वर, अरुचि और खांसीको दूर करता है पर पकजाने पर विशेषरूपसे पित्त बढ़ाता तथा हल्काके बजाय भारी हो जाता है। वस्तुतः कोमल बैंगनमें ही सारे गुण हैं। कहा है—वृन्ताकं कोमलं पथ्यम्। बीज आजानेपर तो वह अग्राह्य हो जाता है।

दूब

दूर्वाः कषाय मधुराश्च शीताः पित्ततृषारोचकवान्तिहन्त्र्यः।
सदाहमूर्छाग्रहभूतशान्तिश्लेष्मश्रमध्वंसनतृप्तिदाश्च।

दूब कषैली, मीठी और ठंढी है। इससे पित्त, प्यास, अरुचि, कै, दाह, मूर्छा, ग्रह, भूतबाधा, कफ एवं थकावट दूर होती है और इससे तृप्ति होती है। दूर्वास्वरसको मधुके साथ पीनेसे पित्त, प्यास और वमन शान्त होते है। स्वरसके लेपसे दाह मिटता है।

तुलसी

तुलसी कटुतिक्तोष्णा सुरभिः श्लेष्मापित्तजित् ।
जन्तुभूतक्रिमिहरा रुचिकृद् वातपित्तजित् ॥

तुलसी कड़वी, तिती गर्म, एवं सुगन्ध विशिष्ट है। इसके विविध प्रयोगसे कफ, वायु, कीड़े, भूत और पेटके कीड़े हटते हैं। साथ ही यह रुचि भी बढ़ाती है। तुलसीके पत्ते एवं लवंगके काढ़ेसे ज्वर हटता है। काढ़ेमें लवंगका चूर्ण मिलाकर भी पीते हैं। तुलसी-पत्रके रसमें ईषत् सेन्धा नमक मिलाकर पीनेसे तमाम कफके दोष शान्त होते हैं।

केला

रम्भापक्वफलं कषायमधुरं बल्यं च शीतं तथा ।
पित्तं चास्रविमर्दनं गुरुतरं पथ्यं न मन्दानले ।
सद्यः शुक्रविवर्द्धनं क्लमहरं तृष्णापहं कान्तिदम् ।
दीप्ताग्नौ सुखदं कफामयकरं सन्तर्पणं दुर्जरम् ।

पका केला कसैला, मीठा, बलवर्द्धक, ठंढा, पित्त, रक्त दोष शमक एवं बहुत भारी है। यह मन्दाग्नि से ग्रस्त लोगों के लिये अहित है। यह तुरत शुक्र बढ़ाता, थकावट तथा प्यास दूर करता और कान्ति बढ़ाता है। उन्हीं लोगों को सुख पहुंचा सकता है जिनकी जठराग्नि तेज है। कफज रोग उत्पन्न करता, सन्तर्पण है और देर से पचता है।

न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि ।
शमीकरोति विषमान् शमनं तद् यथा मिसिः ॥

सौंफ शरीरके दोषोंको बाहर नहीं निकालती, समान मानपर रहे दोषो को अपने स्थान से च्युत नहीं करती और घटे-बढ़े दोषों को अपने अपने मानपर लाती है। आयुर्वेद की परिभाषा में इसे शमन कहते हैं। सौंफ का प्रयोग अनेक प्रकार से होता है और वह लाभ भी अनेक रोगोंसे पहुंचाता है। सौंफ, सनाय एवं छोटी हर्रे का योग उत्तम विरेचक है। सौंफ के अर्कके उपयोगसे पेटके प्रायः सभी रोग दूर होते हैं।

सोना।

स्वर्णं स्निग्धकषायतिक्तमधुरं दोषत्रयध्वंसनं।
शीतं स्वादु रसायनं च रुचिकृत् चक्षुष्यमायुष्प्रदम्।
प्रज्ञावीर्यबलप्रदंस्मृतिकरं कान्तिं विधत्ते तनोः।
सन्धत्ते दुरितक्षयं श्रियमिदं धत्ते नृणां धारणात्॥

सोना चिकना है। इसमें कषाय, तिक्त और मधुर—ये तीन रस हैं। यह ठंढा, मीठा और रसायन (बुढ़ापा और रोगका नाशक) है। इसके प्रयोग से वात-पित्त-कफके दोष नष्ट होते हैं। यह रोचक, नेत्रोंके लिये लाभकारी और आयु बढ़ाता है। बुद्धि, पराक्रम, बल और स्मरणशक्ति इसके प्रयोगसे बढ़ते हैं। खाने और पहननेसे कान्ति बढ़ती है। इसके समीप रहनेसे पापोंका भी नाश होता है।

जलानेपर लाल, काटनेपर सफेद, कसौटीपर घिसनेपर केसर की नाईं, चिकना और तौलनेपर जो भारी हो वही उत्तम सोना

है। उत्तम सोना कोमल होता है उसका रङ्ग लाल एवं पीला होता है।

रूपा-चांदी

स्थैर्यं स्निग्धं कषायाम्लं विपाके मधुरं सरम्।
वातपित्तहरं रुच्यं बलीपलितनाशनम्॥
दाहच्छेदनिकाशेषु शितं स्निग्धं च यद् गुरु।
घर्षणेऽपि च वर्णाढ्यमुत्तमं तदुदीरितम्॥

चांदी चिकनी होती है। इसका रस कषाय और खट्टा है पर विपाक इसका मधुर होता है। यह पेशाब-पाखाना लाती है। इसके प्रयोगसे वात-पित्त शान्त होते हैं। रुचि बढ़ती है अकालमें पके केश पुनः काले हो जाते हैं। बढ़िया चांदी गलाने, काटने और घिसने पर सफेद ही दीखती है, चिकनी एवं भारी होती है। साथ ही अधिक से अधिक घिसने पर भी अपना रङ्ग कायम रखती है।

तामा

ताम्रं सुपक्वं मधुरं कषायं तिक्तं विपाके कटु शीतलं च।
कफापहं पित्तहरं विबन्धशूलघ्नपाण्डूदरगुल्मनाशि॥
घनघातसहं स्निग्धं रक्तपत्रामलं मृदु।
शुद्धाकरसमुत्पन्नं ताम्रं शुभमसंकरम्॥

तामेमें मधुर, कषाय और तिक्त—तीन रस हैं। इसका विपाक कटु होता है। शीत है फिर भी कफका नाश करता है। अतिरिक्त पित्त, कब्ज, पेटका दर्द, पांडु, उदररोग और

गुल्मका नाशक है। उत्तम ताम्र वह है जो घनकी चोटसे टूटे नहीं, चिकना हो, पत्तर लाल, स्वच्छ और कोमल हो। पवित्र खानसे उत्पन्न तथा धात्वन्तरसे विना मिला हुआ ही तामा उत्तम होता है।

हीरा

वज्रं च षड्रसोपेतं सर्वरोगापहारकम्।
सर्वाघशमनं सौख्यं देहदार्ढ्य रसायनम्॥

हीरेमें छः रस हैं। यह प्रत्येक रोगका प्रयोग विशेष से नाश करता है। सब पापों का भी नाश करता है। सुख देता है। शरीरमे दृढ़ता लाता एवं रसायन है।

उत्तम हीरा पत्थर पर या कसौटी पर देर तक जोर-जोरसे रगड़ने पर भी घिसता नहीं, ओखलमें कूटने या लोहेके मुँद्गरे किंवा घनसे काफी पीटने पर भी उसमें निशान तक नहीं बनता टूटना तो दूर की बात है। हीरा बहुत ही कीमती पत्थर है।

सोना, चांदी, तामा और हीरा खाये जाने पर रोगो को मिटाते हैं और रसायन है पर इनका खाया जाना जलाकर (भस्म बनाकर) सम्भव होता है। आवश्यकता होने पर किसी सद् वैद्य से भस्म प्राप्त करनी चाहिये एवं उन्हीं से इनके प्रयोग के विधान भी।

निरुक्त (निघण्टु) अध्याय २ खं० ७

अन्धः (१) वाजः (२) पयः (३) प्रयः (४) पृक्षः (५) पितुः (६) वयः (७) सिनम् (८) अवः (९) क्षु (१०) धासिः (११) इरा (१२)

इळा (१३) इषम् (१४) ऊर्क् (१५) रसः (१६) स्वधा (१७) अर्कः (१८) क्षद्म (१६) नेमः (२०) ससम् (२१) नमः (२२) आयुः (२३) सूनृता (२४) ब्रह्म (२५) वर्चः (२६) कीलालम् (२७) यशः (२८) इत्यष्टाविंशतिरन्ननामानि ॥७॥

निरुक्त (निघण्टु) अध्याय १ खं० १२

अर्णः (१) क्षोदः (२) क्षद्म (३) नभः (४) अम्भः (५) कवन्धम् (६) सलिलम् (७) वाः (८) वनम् (६) घृतम् (१०) मधु (११) पुरीषम् (१२) पिप्पलम् (१३) क्षीरम् (१४) विषम् (१५) रेतः (१६) कशः (१७) जन्म (१८) वृबूकम् (१६) बुसम् (२०) तुग्र्या (२१) बुर्बुरम् (२२) सुक्षेम (२३) धरुणम् (२४) सिरा (२५) अररिन्दानि (२६) ध्वस्मन्वत् (२७) जामि (२८) आयुधानि (२६) क्षपः (३०) अहिः (३१) अक्षरम् (३२) स्रोतः (३३) तृप्तिः (३४) रसः (३५) उदकम् (३६) पयः (३७) सरः (३८) भेषजम् (३६) सहः (४०) शवः (४१) यहः (४२) ओजः (४३) सुखम् (४४) क्षत्रम् (४५) आवयाः (४६) शुभम् (४७) यादुः (४८) भूतम् (४६) भुवनम् (५०) भविष्यत् (५१) महत् (५२) आपः (५३) व्योम (५४) यशः (५५) महः (५६) सर्णीकम् (५७) स्वृतीकम् (५८) सतीनम् (५६) गहनम् (६०) गभीरम् (६१) गम्भरम् (६२) ईम् (६३) अन्नम् (६४) हविः (६५) सद्म (६६) सदनम् (६७) ऋतम् (६८) योनिः (६६) ऋतस्य योनिः (७०) सत्यम् (७१) नीरम् (७२) रयिः (७३) सत् (७४) पूर्णम् (७५) सर्वम् (७६) अक्षितम् (७७) बर्हिः (७८) नाम (७६) सर्पिः (८०) अपः (८१) पवित्रम् (८२) अमृतम् (८३) इन्दुः (८४) हेम (८५) स्वः (८६) सर्गाः (८७) शम्बरम्

(८८) अम्बम् (८९) वपुः (९०) अम्बु (९१) तोयम् (९२) तूयम् (९३) कृपीटम् (९४) शुक्रम् (९५) तेजः (९६) स्वधा (९७) वारि (९८) जलम् (९९) जलापम् (१००) इदम् (१०१) इत्येकशतमुदक नामानि ॥१२॥ इनकी विशद् व्याख्या निरुक्त मे है।

अमृत नाम जलका है। मन्दिरो में जो चरणामृत वनाया जाता है वह जल से ही वनता है। ऐसे ही संसार में पाँच तरह के जल है वे सव ही अमृत है। यथा—समुद्र जल (सफेद एकरूप) गुणमें अमृत, गंगाजल, झरना जल, वृष्टि जल और कूप जल। व्यक्तिगत अमृत तो माता का दुग्ध है परन्तु समष्टिगत अमृत तो जल एवं अन्न ही है।

वेदों की शिक्षा

शुक्ल यजुर्वेद अ० १२-७०

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान् सीते पयसाभ्याववृत्स्व ॥

सीता लाङ्गलपद्धतिर्मधुना मधुरेण घृतेनोदकेन समज्यतां संसिच्यतां सिक्ताभवतु। कीदृशी सीता विश्वैर्देवैर्मरुद्भिश्चानुमता अनुज्ञाता अङ्गीकृतावा। एवं परोक्षमुक्ता प्रत्यक्षमाह हे सीते ! ऊर्जस्वती अन्नवती सात्वं पयसा पयोदधिघृतादिभिः पिन्वमाना दिशः पूरयन्ती सती पयसा दुग्धादिभिः सह अभ्याववृत्स्व अस्मदभिमुखमावृत्ता भव अस्माकमनुकूला भवेत्यर्थः।

मधुरजलसे सिंची हुई जो जमीन। वह भी कैसी कि विश्वेदेवो और मरुद्गणों से अङ्गीकार की हुई। अर्थात् तैयारकी हुई। वही जमीन अन्नवती होकर अन्न रसादि से दिशाओंको परिपूण करती हुई हमें अन्नरसादिकों से युक्त कर सुखकी अभिवृद्धि करे।

शुक्ल यजुर्वेद अ० १२-७२

कामं कामदुघे धुक्ष्वमित्राय वरुणाय च।
इन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्य औषधीभ्यः॥७२॥

कामान् मनोरथान् दुग्धे पूरयति कामदुधा। दुहःकवश्चेति (पा० ३, २, ७०) कप् प्रत्ययो घान्तादेशश्च तस्याः सम्बुद्धौ हे कामदुघे लाङ्गलपद्धते ? मित्रादिपूषान्तदेवानमथ प्रजार्थमोषधिनिष्पत्यथ च काममपेक्षितं भोगंधुक्ष्व सम्पादय॥७२॥

हे कामदुघेलाङ्गलपद्धते ? (कामनाओंको पूर्ण करनेवाली कमाई हुई जमीन) प्रजाके लिये औषधी पैदा करनेके लिये भोगोंका सम्पादन कर। जिससे प्रजा सुख समृद्धि को प्राप्त होकर सुखपूवक जीवन व्यतीत करे।

हर जोतै अरु हरि भजै, यथाशक्ति कछु देय।
ताहु पै हरि ना मिलै, मुजरा हमसे लेय॥

शुक्ल यजुर्वेद अ० १-२

वसोः पवित्रमसि। द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधाअसि। परमेण धाम्नाहद्धंहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्॥

इस मंत्रमें पृथ्वीकी प्रार्थना की गई है कि हे पृथ्वी—तुम जल को धारण करनेवाली हो। जल ही प्राणियोंके प्राण ह। आकाश

तेज एवं वायुका भी तुम्हारेमें ही संन्निवेश है। अतः विश्वधा हो।
जिनके द्वारा मनुष्य कान्ति एवं श्वासप्रश्वास आदि सुखोंका उपभोग करता है। अतः तुम क्षीर (जल) धारण के लिये दृढ़ होओ।

समानी प्रपा सहवो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ अथर्ववेद ३॥

तुम्हारा प्याऊ (पानी पीने का स्थान) और तुम्हारे अन्नका भाग समान हो (अर्थात् मनुष्य मात्र का एक जैसा ही शुद्ध, पवित्र, पुष्टिकारक निरामिष आहार होवे और सबको जीवन धारणोपयोगी पर्याप्त भोजन प्राप्त होवे जिससे सब समान रूपसे सुखी रहे और असमानता के कारण वर्गवाद की उत्पत्ति मानव समाज मे न हो)। गृहस्थाश्रम में और समाज मे सब के सब परमात्मा के उपासक और अग्निहोत्र करनेवाले हों। तुम सब एक ही उद्देश्यवाले हो।

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ अथर्व० ३

भगवान् कहते हैं—हे मनुष्यों, मैं तुम सबको हृदय के साथ बनाता हूं (मनुष्य को सहृदय होना चाहिये, प्राणिमात्र के हित की भावना उसके अन्दर होनी चाहिये, परस्पर प्रेमकी भावनासे ही गृहस्थ आश्रम चल सकता है, समाज की सुव्यवस्था बन सकती है)। साथ ही तुम सबको मन अर्थात् मनन करने की—बुद्धिपूर्वक काय करने की—शक्ति भी देता हूं। यदि केवल हृदय ही हो, मन न हो, तो भी मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता,

इसलिये बहुत बार हम किसी का हित करना चाहते हैं पर फल उल्टा ही होता है। उदाहरणार्थ माता-पिता के विचारशून्य प्रेम से बहुत से बच्चे बिगड़ जाते हैं)। हे मनुष्यो, तुम एक दूसरेसे द्वेषभाव न रखो। (यदि किसी में कुछ बुराई हो तो उसे प्रेमसे समझाकर छुड़ाना चाहिये, बुरे मनुष्य से घृणा करने की आवश्यकता नहीं है, बुराई से ही घृणा करनी चाहिये। वैद्य रोग के शत्रु होते हैं, रोगी के नहीं)। एक दूसरे से ऐसा ही व्यवहार करो जैसे गाय अपने नवजात बच्चे के साथ करती है (उसके शरीर के मैल को साफ कर देती, उसकी रक्षाके लिये अपने प्राणों तक की परवा नहीं करती।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शान्तिवाम्॥ अथर्व० ३

पुत्र अपने पिताके अनुकूल व्रतवाले हों अर्थात् सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि नियमों पर चलनेवाले हों। माता के मन के अनुसार चलनेवाले हों और उनमें (माता पुत्र में) प्रेम होवे। स्त्री-पुरुष का व्यवहार बड़ा ही प्रेमपूर्ण होवे, स्त्री मधु में घोलकर पति से वाणी बोले; पति भी सदा अपनी पत्नीका मान-सम्मान करे।

"मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ अथर्व० ३

भाई-भाई, भाई बहिन और बहिन-बहिन आपस में द्वेष न करें। सब एक दूसरे के सहयोगी होवे, सभी समान व्रतवाले अर्थात् समान रूप से सत्य आदि धर्मके नियमों का पालन

करनेवाले होवें एवं एक ही पवित्र उद्देश्य रखनेवाले होवें। एक दूसरे से ऐसे ही वचन बोलें जिससे परस्पर वैर-विरोध न होवे, उन सबका कल्याण होवे एवं उनके प्रेम पूर्वक एक साथ रहकर कार्य करने से संसार का कल्याण होवे।

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंसिता।
यथैव ससृजे घोरं तथैव शान्तिरस्तु नः॥ अथर्व०

वाणी देवी है (दिव्य गुणों से युक्त है), परमात्मा की विशेष कृपा से केवल मनुष्यों को ही प्राप्त है (अन्य जीवधारी वाणी द्वारा अपने भाव दूसरे पर नहीं प्रकट कर सकते)। इस वाक् देवी के अन्यथा प्रयोग से संसार में बड़े-बड़े अनर्थों की सृष्टि हुआ करती है। (यथार्थ में रामायण और महाभारत आदि की दुःखदायी घटनाएँ मन्थरा की चुगली, सहदेव द्रौपदी आदि के प्रति कटुभाषण आदि, वाणी के असत् प्रयोग से ही तो घटी है)। परमात्मा से प्रार्थना है कि वह हमें ऐसी सद्बुद्धि देवे जिससे हम वाणी के असत्य, असूया आदि दूषणों से बचें और देवी वाणी हमारे लिये कल्याण कारिणी होवे।

येन देवा न वियन्ति न च विद्विषते मिथः।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ अथर्व० ३

जिस कारण से विद्वान् ज्ञानी जन अपने कर्तव्यपथ से विचलित नहीं होते, एवं एक दूसरे से शत्रुता नहीं रखते उसी ब्रह्म की आराधना तुम्हारे घरों में होवे, यही उपदेश मैं (परमात्मा) सारे मनुष्यों को समझाकर करता हूं। (ब्रह्म के अर्थ होते हैं पर-

मात्मा, वेद, ब्राह्मण आदि। मनुष्यों के घरों में अर्थात् गृहस्थाश्रम में परमात्मा की पूजा, ब्रह्मचर्य का पालन, वेदों का स्वाध्याय ब्राह्मणों का मान्य एवं उनसे सदुपदेश श्रवण एवं तदनुकूल आचरण ये कार्य सदा होने चाहिये। इसी से सबों में प्रेम एवं परस्पर हानि लाभ, सुख दुःख में एकता कायम रह सकती है)।

वाङ्म आसन्नसो प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्॥

मेरे मुख में पूर्ण आयु की समाप्ति तक उत्तम वाणी बोलने की शक्ति रहे, नासिका में घ्राण शक्ति का संचार होता रहे, आंखों में दृष्टि उत्तम प्रकार से रहे, कानो में सुनने की शक्ति वर्तमान रहे, मेरे बाल सफेद न हो, मेरे दांत मैले न होवें, मेरे बाहुओं में बहुत बल रहे।

ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मा निभृष्टः॥ अथर्व० १६

मेरे ऊरुओं में शक्ति रहे, जङ्घों में वेग और पांवों में स्थिरता और दृढ़ता रहे। मेरे सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग हृष्ट-पुष्ट होवें एवं आत्मा उत्साहपूर्ण रहे।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ यजु० ३६

देवोंका परम हितैषी परम प्रभु हमारा नेत्र रूप पथ-प्रदर्शक सर्वदा हमारे साथ है। उसकी कृपा एवं सहायतासे (एवं अपने

सत्कर्मोंके द्वारा) हम सौ वर्षों तक देखनेकी शक्ति कायम रख, सौ वर्षों तक जीवित रहें, सौ वर्षों तक हमारे कानोमें सुनने की शक्ति बनी रहे, सौ वर्षों तक बोलने की शक्ति हममें वर्त्तमान रहे जिससे हम सत्य, हितकर एवं उचित कथन कर सकें, सौ वर्षोंतक हम पराधीन और दीन न होकर स्वाधीन और स्वावलम्बी रहें। सौ वर्षसे अधिक भी इसी प्रकार रहें। (वेदोमे चार सौ वर्षों तक मनुष्यकी परमायु कही गई है जो मनुष्यके ४८ वर्ष पर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचर्यके पालनसे प्राप्त हो सकती है।)

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये॥ अ० का० १६

मुझे ब्राह्मणों (विद्वानों) का प्रिय बनाओ, राजन्यवर्ग (योद्धाओं एवं शासकों) का प्रिय बनाओ, वैश्य समुदाय (किसानों एवं वाणिज्य-व्यापार करनेवालो) का प्रिय बनाओ, शूद्रों (श्रमजीवियों) का प्रिय बनाओ, जिस किसीसे मिलने का अवसर हो सभी मुझसे प्रेम करे।

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥ अ० १६

प्रभु कहते हैं हे मनुष्यों, उठो (शुभ कर्मके लिये तैयार रहो) अपने उत्तम कर्म, पुरुषार्थ, ज्ञानप्रचार आदिके द्वारा विद्वानों में स्फूर्ति एवं जागरण पैदा करो, आयु, प्राण, प्रजा (स्वसन्तान आदि अथवा जनता), गौ आदि पशु, कीर्ति एवं शुभ कार्य करनेवाले लोकोपकारी जनोंकी सब प्रकारसे वृद्धि एवं उन्नति करो।

ऊपरके पांच मंत्रोंमें मनुष्यके अभ्युदय का क्रम बड़ी सुन्दर रीतिसे वर्णन किया गया है। (१) सबसे पहले मनुष्यको अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों की उन्नति करनी चाहिये। जिसका शरीर स्वस्थ और बलवान् नहीं है, मन निर्बल और बुद्धि क्षीण है वह संसार में औरोंके उपकारार्थ कुछ नहीं कर सकता। उसका तो निजका जीवन ही भारस्वरूप है। (२) दूसरी बात जो आवश्यक है वह है दीर्घ आयु की प्राप्ति। विद्या और संसारके अनुभव प्राप्त करके ही मनुष्य परोपकार में प्रवृत हो सकता है, किसी प्रकार के लोकहितकर कार्य कर सकता है। उसके लिये कमसे-कम १०० वर्षों की आयु की आवश्यकता है। क्योंकि पचास वर्ष तो ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम की समाप्तिमें ही लग जाते हैं, विद्या और अनुभव प्राप्त करनेमें ही लगते हैं। चालीस-पचास वर्ष की आयुमें मरजानेवाले लोग जनताके लाभ के लिये कुछ कर सकने का समय ही कैसे पायेंगे? अतः पुरुषार्थी मनुष्य को उचित है कि शारीरिक मानसिक एवं आत्मिक शक्ति प्राप्त करनेके साथ-ही-साथ दीर्घायु बनने का भी यत्न करे। (३) तीसरी आवश्यकता है लोकप्रिय बनने की। अपनी अप्रिय वाणी या व्यवहार के कारण यदि मनुष्य समाज में अप्रिय हो जाता है, लोग उससे मिलना-जुलना या बोलना-चालना नहीं पसन्द करते तो वह अन्य प्रकारसे शुद्ध भावापन्न अथवा आचारवान् होता हुआ भी दूसरोंके कल्याणके लिये कुछ कर सकनेमें असमर्थ हो जाता है। लोग उसे चाहते ही नहीं, उसकी

सुनेगा ही कौन? (४) लोकप्रियता—लोकैषणासे, नामवरी या वाहवाही की इच्छासे, अभिनन्दन कराने या स्वागत समारोह रचाने की वासनासे, नहीं होना चाहिये। लोकप्रियता को परोपकारके कार्य करानेका एक साधन ही समझ प्राप्त करना चाहिये. यथार्थमें लोकप्रिय नेता का कार्य है जनता के स्वास्थ्य आदि की उन्नति करना, बालक बालिकाओं, स्त्री-शिक्षा आदि की उचित व्यवस्था कर उन्हें योग्य नागरिक बनाना, पशु उनकी उन्नति करना, विद्वानोंमें जागृति पैदा कर उनके द्वारा जनताका हित साधन करना, शुभ कर्मोंमें निरत एवं मान्य पुरुषोंको सब प्रकारसे मान और प्रोत्साहन प्रदान करना। यह मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिये। ऊपर लिखे क्रमसे चलता हुआ मनुष्यमात्र इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है, यह वेद का पवित्र सन्देश है।

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि॥ ऋ० ५

हम सूर्य और चन्द्रमाके समान कल्याणके पथपर निरालस्य होकर चलें। दानी अहिंसक और विद्वान् मनुष्यों का सदा सङ्ग करें।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाथं रातिरभि नो निवर्तताम्। देवानाथं सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥ यजु० २५

छल-कपट रहित, सरल स्वभाववाले विद्वानों की सुन्दर बुद्धि हमारे लिये कल्याणकारिणी हो। 'हमें देवों अर्थात् विद्वानोंके दान (उपदेश आदि) प्राप्त होवें, हम विद्वानों की मित्रता प्राप्ति करें और उनके सदुपदेशों द्वारा अपनी आयुको बढ़ावें।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इद-महमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ यजु०

हे व्रतोंके पालक प्रकाशस्वरूप परमात्मन्, मैं व्रत का अनुष्ठान करूँगा। आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं उसमें सफल होऊँ। मेरा व्रत सत्यरूप ही होवे। मैं असत्यको त्यागने और सत्यको ग्रहण करनेकी शक्ति प्राप्त करूँ।

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ ऋग्वेद १०

समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रमभिमंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ऋग० १०

परमात्मा मनुष्यमात्रको उपदेश देते हैं कि हे मनुष्यो, तुम सब साथ मिलकर चलो, एक साथ बैठकर विचार विमर्श करो और एक स्वरसे अपने विचार व्यक्त करो (तुममें मतभेद न होवे), तुम्हारे विद्वानोंके मन एक हों (उनमें वैर-विरोध न होवे, वे निःस्वार्थभावसे सबके हितके लिये सद् विद्याओंका उप-देश करें)। तुम सब मिलकर अपने पूर्वज ऋषियोंकी तरह एक ही भजनीय प्रभुकी उपासना करो और तुम्हारा मूल मंत्र अथवा उद्देश्य 'एक ही हो कि प्राणिमात्रका हित किया जाय'।

तुम्हारी सभा अथवा संगठन इसी समान उद्देश्य को लेकर होवे, तुम्हारे मन और चित्त एक जैसे होवें और तुम्हारे भोग्य पदार्थ भी एक ही जैसे होवें।

वैदिक राष्ट्र

आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरः इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ॥ दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु॥ फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्॥ योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ यजुर्वेद अ० २२

वे भगवान्, हमारे राष्ट्र में सब ओर ब्रह्मवर्चस् से युक्त, ज्ञानसम्पन्न, तेजस्वी, परोपकारी, निःस्वार्थ एवं अत्यंत प्रभावशाली ब्राह्मण होवें (जो अपने विशाल ज्ञान एवं तपोवलसे जनताका उचित पथप्रदर्शन कर सकें तथा राजा और प्रजाको धर्मकी मर्यादा से चला सकें)। हमारे क्षत्रिय अर्थात् शासक और रक्षकवर्ग शूर वीर होवें, वे अस्त्र-शस्त्रसे युक्त एवं युद्ध विद्यामें प्रवीण होवें, नीरोग एवं स्वस्थ और सबल होवें। हमारे देशमें प्रचूर दूध देनेवाली गायें हों, जिससे बैल मजबूत होकर कृषि कार्य की उन्नति कर सकें। (इसी तरह संसारकी सभी मातृ जाति प्रचूर दूध देनेवाली हों जिससे उनकी अपनी अपनी सन्तानें खूब मजबूत होकर विविध प्रकार से राष्ट्र की उन्नति करें) बैलोंके द्वारा अन्नादि पदार्थ देशमें सर्वत्र एक

स्थानसे दूसरे स्थान को भेजे जा सकें। शीघ्रगामी घोड़े और बैल होवें, उनके अन्य साधन भी होवें जिससे यातायातमें सुविधा रहे। हमारी देवियां और माताएं देशका नेतृत्व करने की शक्ति रखनेवाली होवें, (यथार्थमें राष्ट्र निर्माण का कार्य स्त्रियों पर ही निर्भर करता है। वे ही नेत्री, शासिका विदुषी, सबकी माता अर्थात् निर्मात्री हैं। उनमें पूर्ण विद्या, ज्ञान, शील, धैर्य, गृहकार्यमें प्रवीणता, देश प्रेम आदि होनेसे ही राष्ट्र उन्नत हो सकता है)। राष्ट्रके सारे गृहस्थ यज्ञ करनेवाले (अर्थात् जलवायु, वृष्टि आदिकी अनुकूलता सम्पादनार्थ हवन, यज्ञ तथा साधु, सन्यासी, विद्वान्, गुरु, अतिथि, माता-पिता आदि की सेवा एवं निर्बलोंकी सहायताके हेतु पञ्च महायज्ञ आदि सत्कर्म करनेवाले) हो। हमारे नवयुवक जिष्णु अर्थात् जयशील होवें। पक्की लगनवाले हों, एवं ऐसे उद्यमशील हों कि जिस कामको हाथमें लें उसमें उनको सदा ही सफलता प्राप्त हो, उनके हृदयमें अदम्य उत्साह एवं उमंग होवे कि वे सर्वत्र विजयी होवें), रथ आदि से युक्त होवे, शूर वीर और पराक्रमी होवे तथा सभेय अर्थात् सभ्य होवें, (सभामें वक्तृता आदि देने, एवं सभामें मान्य प्राप्त करनेवाले भी हों)। यज्ञादिके द्वारा वृष्टि अनुकूल होवे, अर्थात् वृष्टिकी जब-जब आवश्यकता हो तभी हुआ करे। औषधियां अर्थात् अन्नादि एवं फल, मूल, कन्दादि प्रचुर मात्रामें उत्पन्न होवें। हमें योग (अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति) एवं क्षेम (प्राप्त वस्तुकी रक्षाके साधन) प्राप्त होवें।

भगवान्‌से जो प्रार्थना की गई है उसकी प्राप्ति विना मनुष्यके पुरुपार्थके नहीं हो सकती। भगवान् की वेदोमें यही आज्ञा है कि भक्त जो मांगता है उसके लिये स्वयं शक्ति भर प्रयत्न करना चाहिये तभी ईश्वरकी सहायता प्राप्त होती है। इसलिये हमारा कर्तव्य है कि हम अपने सारे प्राप्त साधनो द्वारा ज्ञान सहित प्रबल पुरुपार्थ करके राष्ट्र को ऊपर लिखे आदेशोंके अनुसार बनाने का यत्न करें। तभी हमारी प्रार्थना सफल होगी।

अभयं नः करिष्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे। अभयं पश्चाद्भयं पुरस्ताढुत्तराद्धराद्भयं नो अस्तु॥ अथव० का १६

प्रभो, हमे अन्तरिक्ष, पृथ्वी एवं सूर्यादि लोकोंसे निर्भयता की प्राप्ति हो। हमे अपने आगे, पीछे, ऊपर नीचे कहींसे भी भय न होवें।

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥ अथव० का० १६

हे परमात्मन्, हमे मित्रसे भय न होवे, शत्रुसे भी भय न होवे। परिचित व्यक्तियो एवं वस्तुओंसे निर्भयता प्राप्त होवे। परोक्षमे भी हमे कुछ भय न होवं। दिनमें, रातमें सभी समय निर्भय रहें। किसी भी देशमें हमारे लिये कोई भयका कारण न रहे। सर्वत्र हमारे मित्र ही मित्र होवे।

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्यो अभयं नः पशुभ्यः॥ यजु० ३६

हे परमात्मन्, जहाँ कहीं भी आपके सृष्टि रचना, धारण आदि कार्य हो रहे हैं वहाँ सब जगह हमको आप अभयकर दीजिये। हमें कहीं भी भय न होवे। मनुष्यमात्रसे हमारा कल्याण होवे। हमें पशुओंसे भी निर्भय बना दीजिये, जिससे हिंसक पशु भी हमें भय न दे सकें। हे प्रभो, आप हमें ऐसा बना दीजिये कि मनुष्यमात्र का हम कल्याण कर सकें, किसी की बुराई न करें। पशुओं तथा अन्य प्राणियोंको भी हमसे कुछ भय न होवे। न हम किसीसे डरें और न स्वयं दूसरेको डरावें।

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ यजु० ३६

हे भगवन् आप हमें ऐसी सद्बुद्धि प्रदान करें कि जिससे हमें संसारके सारे प्राणी मित्र की दृष्टिसे देखें। (अर्थात् अपना मित्र समझें) हम भी दूसरे सारे प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टि से देखें तथा हम सब परस्पर एक दूसरेको मित्रकी दृष्टिसे देखा करें। (यथार्थमें यदि कोई भी मनुष्य हमसे द्वेष करता है तो इसका कारण हमें अपनेमें ही खोजना चाहिये क्योंकि वही मनुष्य जो हमसे द्वेष करता है, दूसरेसे प्रेम भी तो करता है। अतएव प्रेम की कमी उसमें नहीं है हम अपनी किसी कमीके कारण अपनेको उसके अनुकूल नहीं बना पाते हैं। हमें उस कमी को दूर करना चाहिये। दूसरेसे कुढ़ने की आवश्यकता नहीं है।

प्राणिमात्रके हित चाहनेवाले, हिंसक पशुओं तकको अपने मित्र बना लेते हैं)।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

कानोंसे कल्याणमय शुभ शब्द ही सुने, आंखोंसे कल्याण-कारक दृश्य ही देखें। हमारे अङ्ग प्रत्यङ्ग स्वस्थ और सबल रहें। हम ईश्वर, वेद एवं सत्पुरुषों की प्रशंसा करें और दीर्घ आयु प्राप्त कर उसे देवोंके हितमें लगावे। (अर्थात् अपनी आत्माको उन्नत करे, अग्नि, वायु आदि तत्त्वों का पूजन, सेवन और शोधन करें, विद्वानो का सत्कार एवं ईश्वरार्चन करें)।

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा॥ यजु०

मुझे दो मैं तुम्हें दूंगा, मेरे पास रखो मैं तुम्हारे पास रखूगा, मेरे यहांसे कुछ ले जाते हो, मैं तुम्हारे यहांसे कुछ ले आऊँगा।

मनुष्य का व्यवहार लेन-देन (आदान-प्रदान) पर ही निर्भर करता है। प्रभुने कितने सीधे सादे शब्दोंमें यह अमूल्य शिक्षा दी है। कोई भी मनुष्य अपनी सारी आवश्यकताएं अपनेसे ही पूरी नहीं कर सकता। प्रत्येक मनुष्य न तो सारे काम अपने से ही कर सकता है और न सारे पदार्थ एक ही मनुष्यके पास हो सकते हैं। अतएव आवश्यक है कि मनुष्यमात्र सहयोगिता से परस्परके कार्य एवं समाजके व्यवहारको चलायें—अपने पास

जो है मुक्त हस्तसे दूसरों को दे, जो अपने पास नहीं है वह दूसरोंसे ग्रहण करनेमें संकोच न करें। विद्वान अपनी विद्या, धनवाले अपने धन, एक दूसरे की सहायता और कल्याणके लिये देव लेवें, बलवान अपने बलसे सबकी रक्षा करें, धन, बल, विद्या आदि साधन जिनके पास नहीं है वे शरीरसे ही समाज की सेवा करें और बदलेमें धन, विद्यादि साधन सम्पन्न मनुष्यों से सहायता प्राप्त करे। यही वर्णव्यवस्था है, मानवी उन्नति का मूल है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ यजु०४०।२

निष्काम भावसे उत्तम कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीवित रहने की इच्छा करे (और उसके लिये प्रयत्न भी करे)। यही एकमात्र उपाय है जिससे मनुष्य कर्मबन्धन में नहीं बन्ध सकता। कारण, सकामकर्म अर्थात् ऐसे कर्म जो फल की आशासे किये जाते हैं उनके फल भोगनेके लिये शरीर धारण करना अनिवार्य है और इससे मनुष्य जन्म मरणके चक्रसे मुक्ति नहीं पा सकता। यथार्थमें ज्ञानपूर्वक अनासक्त भावसे कर्त्तव्य समझ कर ही पुरुषार्थ करनेवाला मनुष्य उत्तम गतिको प्राप्त करता है।

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥यजु० ४०।१

सारे जगत्के प्रत्येक अणु परमाणुमें परमात्मा व्याप्त है, सब

जगत् वर्त्तमान है, मनुष्य उसी प्रभुके दिये हुए भोग्य पदार्थोंका उपभोग कर रहा है। ऐसा समझते हुए किसी पदार्थसे अपनापन या ममत्व न जोड़कर एवं यथाशक्ति दूसरेको देकर मनुष्य सारे पदार्थों का भोग करे। अन्यायसे दूसरे की वस्तु लेने का यत्न न करे। अपने पुरुषार्थसे ही संतुष्ट रहे, दूसरेके धन पर मन न चलावे। (वेदोंमें सारे ऐश्वर्य प्राप्त कर उनके भोग करने की आज्ञा है परन्तु शर्त यही है कि मनुष्य उन्हें अपना न समझे, प्रभु का समझे, और प्रभु की संतान प्राणिमात्र के हितमें उस ऐश्वर्य को अर्पित करनेमें संकोच न करे, इसी भाव को ब्रह्मार्पण भी कहते हैं)।

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ यजु० ४०।३

घोर अन्धकारसे युक्त सूर्यके प्रकाशसे रहित लोकोंमें वे मनुष्य मरकर जाते हैं जो आत्मघाती हैं। आत्मघातीसे आत्महत्या करनेवाले—अपनी जान देनेवाले—लोग तो अभिप्रेत है ही क्योंकि वे समाजके बड़े प्रबल शत्रु है, जिनको अपनी आत्मासे प्रेम नहीं है वे संसार भरका अनिष्ट कर सकते हैं, इसमें संदेह नहीं। आत्मघाती उन्हें भी कहते हैं जो अपनी अन्तरात्माकी आवाज के विरुद्ध आचरण करते है। यह सभी मनुष्यों का अनुभव है कि जो कार्य बुरे होते हैं उनके करनेमें आत्माके अन्दर ग्लानि, लज्जा, भय एवं निरुत्साहके भाव उदय होते हैं। आत्मासे धिक्कार की आवाज आती है। अच्छे कर्मोंके करनेमें

आनन्द उत्साह, उमङ्गके भाव होते हैं। ऐसे कार्य तो करने योग्य है परन्तु पूर्वोक्त कार्य अर्थात् जिसके करनेमें आत्मग्लानि आदि होवे मनुष्य को कदापि नहीं करने चाहिये, यदि इतना ध्यानमें रखा जाय तो मनुष्य सारे पापोंसे वच सकता है।

मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रपरणीं कृणुध्वम्।
इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं प्राञ्चं यज्ञं प्रणयता सखायः॥ ऋग्० १०

परमात्मा राष्ट्रके नेताओंको उपदेश देते हैं कि सब कोई सखा अर्थात् मित्रतायुक्त और एक समान ज्ञानवाले होवें। वे सभी उत्तम (ओजस्वी एवं सत्य हितकर) भाषण करें, ज्ञान-विज्ञान का प्रसार करें, यातायात के लिये और युद्धके लिये भी सुन्दर मजबूत नौकाएं वनावें। शत्रुसे राष्ट्र की रक्षाके लिये पूरा प्रवन्ध रखें। प्रत्येक मनुष्य भी अपनी आत्म रक्षा के साधनोंसे युक्त रहे। कृषि और वाणिज्य द्वारा अन्न की वृद्धि करें, दृढ़ शस्त्रास्त्र तैयार रख जिनसे समयानुसार शत्रुसे देशकी रक्षा की जा सके एवं शासन की सुव्यवस्था रह सके। धन, वल, विद्या, विज्ञानादि द्वारा देश को आगे वढ़ावे, यज्ञ आदि सत्कर्मों की देशमें वृद्धि करें एवं सव प्रकारसे प्रजाका पालन करें।

स्थिरा वः सन्त्वायुधः पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥ ऋ० १।३९

ईश्वर उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो, तुम्हारे आग्नेय आदि अस्त्र और शतघ्नी अर्थात् तोप, भुशुण्डी अर्थात् वन्दूक तथा धनुष वाण, तलवार आदि शस्त्रास्त्र आक्रमणकारी शत्रुओं को परा-

जित करने और उनसे स्वराष्ट्र की रक्षा के लिये प्रशंसित और दृढ़ होवे तुम्हारी सेना विशाल और प्रशंसनीय होवे कि जिससे तुम सदा विजयी रहो और शत्रु तुम्हारा वाल भी वाँका न कर सके। परन्तु जो निन्दित अन्याय रूप कर्म करनेवाले हैं उनके पूर्वोक्त वस्तु न होवें। (तात्पर्य यह है कि जबतक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता है अर्थात् सब प्रकारसे उन्नति होती है और जब दुष्टाचारी होते हैं तब नष्टभ्रष्ट हो जाते हैं। धर्मात्मा पुरुषों के लिये प्रभु का यह आदेश भी इस मन्त्रमें है कि वे अन्यायी दुराचारी पुरुषों की शक्ति को कदापि न बढ़ने देवें। सब प्रकार से अन्यायकारियोंके बल की हानि और न्यायकारी धर्मात्माओंके बल की उन्नति करनेमें ही मनुष्य की मनुष्यता है। इसी अभिप्राय को भगवान कृष्णने गीतामें कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

अर्थात् सज्जन धर्मात्मा पुरुषों की रक्षा और पापी दुराचारी लोगोंके विनाश द्वारा धर्म की मर्यादा को स्थिर रखनेके लिये मैं वार-वार जन्म लेता हूं।)

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति॥ ऋ० १०।१९१

तुम सबका ध्येय समान हो। तुम सबके हृदय समान हों, मन भी समान हो जिससे तुम सबकी शक्ति उत्तम हो। सबके उद्देश्य, हृदयके भाव, मनके विचार एक होनेसे सबमें एकता

होती है और संघ का बल बढ़ता है। सबको सब प्रकारका, उत्तम कल्याण प्राप्त होता है।

ईश्वरभक्ति

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ यजु० ३१

जिसने परमात्मा का साक्षात्कार किया है वह मुक्त पुरुष कहता है कि मैं उस परम पुरुष परमात्मा को जानता हूं वह स्वयं प्रकाश स्वरूप है और अन्धकारसे सर्वथा पृथक् है। उस परमेश्वर को जानकर ही मनुष्य मृत्युके दुःखसे, आवागमनके चक्रसे छूटकर अमृत हो सकता है—परम आनन्द की प्राप्तिके लिये और कोई दूसरा रास्ता नहीं है। भौतिक भागोंमें सच्चा आनन्द नहीं है उनकी जितनी अधिक मात्रामें प्राप्ति होगी उतनी ही अधिक पानेकी लालसा उदय होती जायगी और हाहाकार बढ़ता जायगा। इसलिये महर्षि कपिलने सांख्य दर्शनमें कहा है—"न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेरप्यनुवृत्तिदर्शनात्।" अर्थात् इन्द्रियोंसे प्राप्त होने योग्य पदार्थोंसे दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जैसे ही हम किसी अभिलाषित पदार्थको पा लेते हैं फिर हमें और पानेकी इच्छा हो जाती है। उपनिषद् कहता है—'भूमा व तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' सबसे अधिकमें ही सुख है अल्पमें सुख कदापि नहीं हो सकता। परन्तु सांसारिक सुख भोग अल्प ही हो सकते हैं कारण, संसार भरकी

सारी धन-सम्पत्ति एक ही मनुष्यके पास सिमट कर नहीं जा सकती। यदि ऐसा करनेका यत्न भी किया जाय कि दुनियाकी सारी सम्पत्ति एक ही व्यक्ति ले लेवे तो संसारके अन्य लोग गरीबी और भूखमरीसे पीड़ित हो ऐसी हाय-हत्या मचायेंगे कि उस सम्पत्तिमान् मनुष्यका अस्तित्व ही कायम न रह सकेगा।

अतएव आनन्दनिधान पूर्ण पुरुषकी ही प्राप्तिसे संसारमें आनन्द का स्रोत वह सकता है। उसे यदि एक मनुष्य प्राप्त कर ले तो दूसरेके लिये भी वह पूर्ण रूपसे ही शेष रहता है। "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"—पूर्णसे पूर्ण घटानेसे पूर्ण ही शेष रहता है। अतएव हम सबों को सच्चिदानन्द प्रभुकी भक्तिसे ही सारे सुखो और सच्चे आनन्दकी प्राप्ति हो सकती है, दूसरे उपायसे नहीं। इस हेतु हमारा सबसे बड़ा पुरुषार्थ उस प्रभुको भक्ति द्वारा प्राप्त करनेके लिये होना चाहिये। वही हमारा ध्येय होना चाहिये। संसारके और पदार्थ व्यवहारिक है अर्थात् शरीरयात्राके निर्वाहार्थ हैं और उसी विचारसे उनका धर्मपूवक संग्रह करना योग्य है। सांसारिक पदार्थोंके उपार्जनमें किंवा परिवार आदिके पालनमे हमें परमात्माको कदापि नहीं भूल जाना चाहिये। उन सारे व्यवहारोंको परमात्माकी आज्ञा समझकर उसकी पालन रूप आराधना करनेके विचारसे ही करना चाहिये। ऐसे मनुष्य जनक याज्ञवल्क्य आदि की तरह गृहस्थाश्रमके सारे कार्य सम्पादन करते हुए भी प्रभुको प्राप्त होते और परमानन्द तककी प्राप्ति करते है।

कठोपनिषद्में लिखा है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

जो दुश्चरित्र अर्थात् बुरे आचरणोंसे विरत नहीं हैं, जो शान्त और एकाग्र चित्त नहीं तथा जिनका मन अशान्त है वे संन्यास लेकर या ज्ञान-विज्ञान आदिके द्वारा उस आनन्दनिधान परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकते।

मण्डूक उपनिषद्में लिखा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैषआत्मा वृणुते तनुं स्वाम्॥

वह प्रभु परमात्मा वेदादि शास्त्रोंके बहुत पढ़नेसे या मेधा अर्थात् अर्थों को धारण करने की शक्ति किंवा बहुत उपदेश श्रवणसे भी प्राप्त नहीं हो सकता। उस प्रभुको प्राप्त करने की जिसमें उत्कट अभिलाषा है—जिसने उस प्रभुको ही वरण कर लिया है और उसकी प्राप्तिके विना जिसको चैन नहीं है वही परमात्मा को पा सकता है। ऐसे उपासकके समीप प्रभु अपने स्वरूप को प्रकाश करते हैं, उसे दर्शन देते हैं। अर्थात् वही अनन्य उपासक आत्मदर्शी—परमात्मा का साक्षात्कार करनेवाला होता है।

इस उपनिषद् वाक्यमें वेदादि शास्त्रोंके स्वाध्याय, उपदेश श्रवण या मेधा शक्तिकी निन्दाका भाव नहीं है। उनकी अनावश्यकता इससे सिद्ध नहीं होती। वे तो नितान्त आवश्यक हैं

उनके बिना प्रभुके स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता और बिना प्रभु की महिमाको भलीभांति जाने उसमे प्रीति होनी कठिन है। इसलिये वेदादिके ज्ञान एवं उपदेश श्रवण और मेधा आदिकी आवश्यकता तो है ही, ये सब प्रभुकी प्राप्तिमें साधक ही है, बाधक कदापि नहीं। परन्तु जो अपनी विद्या आदिको सब कुछ समझ लेते है, प्रभुकी भक्ति नहीं करते वे केवलमात्र विद्या आदिसे ही ईश्वरको प्राप्तकर परमानन्दकी प्राप्ति नही कर सकते, यह ध्रुव सत्य है। 'हमारा पुत्र दिनको बाहर गया रातने बडी देर तक नहीं लौटा' हमको कितनी बेचैनी होती-उसके लिये कितनी पूछ-ताछ दौड़धूप करते है, जबतक नहीं मिलता खाना-पीना हमे नहीं सुहाता। उसके वियोगमें हम कितने तड़पते हैं। उसी तरहकी या उससे भी अधिक उत्कट लालसा वैसी ही तड़प जब हम प्रभुके वियोगमे अनुभव करेंगे, प्रभु तभी मिल सकते है। हम केवल कुछ पढ़कर, कुछ स्तुतिके मंत्र बोलकर या तोतारटन्तकी तरह कुछ शब्दोंको दुहराकरही अपनेको कृतार्थ न समझ ले। हमें प्रभुके लिये हृदयकी लगन होनी चाहिये। यही इस उपनिषद् वाक्यकी शिक्षा है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।'
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥

यह प्रभु परमात्मा बलहीनोके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। प्रमादी अर्थात् सांसारिक विषय भोगमें फंसे हुए—स्त्री पुत्रादिकी ममतामें आसक्त—अपने कर्त्तव्यपथसे च्युत मनुष्य भी उसे

नहीं पा सकते। विना वैराग्यके ज्ञानसे भी प्रभु नहीं मिल सकता। वल, ज्ञान, वैराग्य एवं सच्ची लगनके साथ जो परमात्मा की प्राप्तिके लिये यत्नवान होता है उसीकी आत्मा ब्रह्मधाम—परमपद—को पाती है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

वह प्रभु नेत्रसे, वाणीसे, किंवा अन्य श्रोत स्पर्श आदि इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। केवलमात्र कष्ट सहिष्णुता अथवा अग्निहोत्रादि कर्म भी उसकी प्राप्तिके साधन नहीं हो सकते ज्ञानकी ज्योतिसे जिसके अन्तःकरण निर्मल हो गये हैं वही समाधिस्थ होकर उस निरवयव परमपुरुषका साक्षात्कार अपनी आत्मा के द्वारा कर सकता है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

परमात्मा सत्य, तप यथार्थ ज्ञान एवं ब्रह्मचर्यके द्वारा ही प्राप्त होता है। सभी दोषों एवं दुर्गुणोंसे रहित आत्मसंयमी पुरुष उपरिलिखित साधनोंके द्वारा उस दिव्य ज्योतिका दर्शन अपने शरीरस्थित हृदय मन्दिरमें ही कर लेते हैं।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥

सत्यकी ही सदा विजय होती है, असत्यकी नहीं। सत्यके द्वारा ही विद्वानोंका मार्ग विस्तृत होता है। उसी सत्य मार्गसे

माया, शठता, दम्भ, अनृत आदिसे शून्य तृष्णारहित ज्ञानी पुरुष उस सत्यके निधान परमात्माको प्राप्त करते हैं।

ईश्वर प्राप्तिका एक मात्र साधन ईश्वर भक्ति है, यदि ऐसा कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। परन्तु भक्ति शब्दका अर्थ समझना चाहिये। भक्ति शब्द 'भज् सेवायाम्' इस धातुसे बना इसलिये 'भक्ति' का अर्थ है "सेवा"। मनुष्य अपने स्वामीकी आज्ञा पालन करनेसे सच्चा सेवक या भक्त कहा जा सकता है। अतएव परमात्माके आज्ञापालक ही प्रभु भक्त कहलानेके अधिकारी हैं। परमात्माकी आज्ञा क्या है यह हम कैसे जानें, यह प्रश्न होता है। तो परमात्माकी आज्ञा वेदोंमें मौजूद है। वेदोंको परमात्माकी वाणी सनातनसे कहा गया है। सारे प्राचीन आचार्य, ऋषि-मुनि, धर्मशास्त्र, पुराण आदि इसमें एक मत हैं। वेदभगवान स्वयं कहते हैं—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ यजु० अ० ३१

अर्थात् उसी यज्ञरूप परम पूजनीय परमात्मासे ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद उत्पन्न हुए। यजुर्वेद के २६ वें अध्यायका दूसरा मन्त्र यह घोषणा कर रहा है कि—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय स्वाय चारणाय ॥

अर्थात् मैं (परमात्मा) इस कल्याणी वेदवाणी का उपदेश मनुष्य मात्र (स्त्री पुरुष सब) के लिये कर रहा हूं। ब्राह्मणों और

क्षत्रियोंके लिये, शूद्रों और वैश्योंके लिये, जङ्गली मनुष्यों आदि अपनी समस्त प्रजाके लिये। (इस मन्त्रसे यह भी सिद्ध होता है कि स्त्रियां वेद न पढ़े, शूद्रको वेदाधिकार नहीं है यह सब झगड़ा निर्मूल है। यह हो भी कैसे सकता है? जब परमात्माके बनाये सूर्य चन्द्रादि सबको प्रकाश देते, पृथ्वी सबको धारण करती, जल वायु आदि सबको प्राण देते तो प्रभु की कल्याणी वाणीसे मनुष्य का कोई वर्ग कैसे वंचित किया जा सकता है?

अतएव वेदाज्ञाका पालन प्रभुकी आज्ञाका पालन अथवा भक्ति है। इसलिये वेदोंके अभ्यासको मनु आदि महर्षियोंने परम तप बतलाया है। इसीके लिये सत्संग अतिथि सत्कार आदि की महिमा है ताकि उनके द्वारा गृहस्थोंको वेदोंके उपदेश श्रवण करनेमें सुविधा रहे। इसी लिये स्वाध्याय को इतना महत्त्व दिया गया है।

प्रभु की आज्ञा क्या है, यह हम शरीरकी बनावट भी देखकर जान सकते हैं। प्रभुने हमें ज्ञानकी इन्द्रियां दी हैं, इससे स्पष्ट है कि प्रभु की आज्ञा है कि हम ज्ञान प्राप्त करें, कूपमण्डूक न बने रहें। प्रभुने हमें हाथ, पांव, वाणी आदि कर्मेन्द्रियां दी हैं। प्रभु की आज्ञा है कि हम सत्कर्म करें, सत्य, हित और मित (नपी तोली हुई वाणी) बोलें, गृहस्थाश्रम का मर्यादा के साथ पालन करें और देश, धर्म, या संसारके प्राणिमात्र की अधिकसे अधिक सेवा करनेके लिये अपने प्रतिनिधिके रूपमें योग्य सेवक दे जायं। परमेश्वरने हमें हृदय दिया है हम प्रभुसे प्रेम करें, प्रभु की सन्तान प्राणिमात्रसे प्रेम करें, यही प्रभु की आज्ञा है।

सारांश यह है कि सत्य ज्ञान की प्राप्ति, सत्कर्मों का अनुष्ठान और विश्वप्रेम (या प्रभु प्रेम) प्रभु की आज्ञा का पालन करनेवाला ही प्रभु भक्त है।

प्रभु की आज्ञा हमारी अन्तरात्मामे प्रतिक्षण स्फुरित होती रहती है। हम जितने भी कर्म करते है वा करना चाहते है वे दो ही प्रकारके तो हैं। एक तो वे जिनके करनेका भाव मनमें आते ही आनन्द, उत्साह और निर्भयता के भाव आते हैं। ऐसे भाव परमात्मा की ओरसे ही आते हैं अतएव ऐसे कर्म करने की प्रभु की आज्ञा है, यह समझना चाहिये। निन्दनीय कर्म करनेमें लज्जा, ग्लानि और भयके भाव उदय होते है। वे कर्म त्याज्य हैं।

प्रभुको प्राप्त करना है, उसकी उपासना करनी (उप-समीप आसन-बैठाना) है। अब विचार करना चाहिये कि किसीके समीप जाने या बैठनेके लिये हमें क्या करना चाहिये। हम बड़े साहबसे मिलना चाहते हैं। उसके लिये हम कितनी तैयारियां करते है। हम हजामत कराते क्योंकि साहब को बढ़ी दाढ़ी पसन्द नहीं है, हम धुले कपड़े पहनते, जूतेमें पालिश लगाते, नाना प्रकारसे सुसज्जित होते हैं। केवल इसलिये कि साहब को हमारी आकृति, प्रकृति, वेश-भूषा किसी भी वस्तु में गन्दगी नहीं दिखायी पड़े। एक साधारण मनुष्यसे मिलने मे जब इतनी सतर्कता की आवश्यकता है, पवित्रता और श्रेष्ठता की आवश्यकता है तो उस प्रभुसे मिलनेके लिये, जो प्रभु स्वरूपतः सत्यं, शिवं, सुन्दरं है, जो हमारे भीतर बाहर सब कुछ देखा करता है हमें भीतर-बाहर

के समस्त मलों को, दुर्गुणों को, निकाल फेकना होगा ही। हमें स्वतः सत्य शिव (कल्याणकारी प्राणिमात्र का हितचिन्तक) एवं सुन्दर (मन, वचन, कर्मसे पवित्र, शरीर एवं आत्माके दोषोंसे पृथक्) होना ही होगा। हम बगुला भगत बनकर ('हाथ सुमरनी बगल कतरनी' रखकर) प्रभु भक्तिका दिखावा करके प्रभु को धोखा नहीं दे सकते। इसलिये उपनिषद् पुकार कर कह रहा है कि दुश्चरितसे जो पृथक् नहीं हैं वे प्रभुको कदापि प्राप्त नहीं कर सकते। (ऊपर उपनिषद् का श्लोक लिखा गया है)। यदि हम ऐसा समझते हैं कि दुनिया भर की सारी चालाकी और चालबाजी चलते रहें उनको छोड़ने की आवश्यकता नहीं है, कुछ समय तक माला लेकर राम-राम जप लेंगे बस पर्याप्त है, राम भी मिले गुलछर्रे भी उड़ें, तो हम बिलकुल भूल कर रहे हैं। अपने दुष्कर्मों से हमें ग्लानि होनी चाहिये, हमें अपने अशुभ कर्मों के लिये पश्चात्ताप करना चाहिये और उन्हें छोड़कर शुद्ध हृदयसे प्रभु की शरणमें आना चाहिये। प्रभु हमें अवश्य अपनी शरणमें लेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

गीताके १८ वें अध्यायमें भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दन्ति मानवाः॥

जो प्रभु सारे विश्व ब्रह्माण्ड का निर्माण कर चराचर जगत् का धारण और पालन अपने अतुल सामर्थ्यसे कर रहा है उसकी पूजा मनुष्य अपने कर्मों द्वारा ही करके सिद्धि प्राप्त करता है।

यह श्लोक स्पष्ट रूपसे बतला रहा है कि अपने-अपने गुण और स्वभावके अनुसार जिस कर्म को मनुष्यने अपने लिये चुन लिया है या जो कर्त्तव्य उसके ऊपर आ पड़ा है उसको योगयुक्त होकर (अर्थात् निपुणता और सुन्दरताके साथ) कर्त्तव्य भावनासे (फल की कामना को त्यागकर) करना ही ईश्वर की पूजा है। ईश्वर पूजासे जो सिद्धि प्राप्त हो सकती है वह सिद्धि मनुष्यमात्र को अपने कर्मके अनुष्टान द्वारा मिलती है।

वास्तवमें ईश्वर कोई राजा, महाराज या सेठ साहुकार आदि साधारण मनुष्यो जैसा तो है नहीं जो उसकी भक्तिका दम भरने वाला मनुष्य अपने कर्मों को न करके केवल प्रशंसा या चाटु-कारी ही करता रहे और ईश्वर प्रसन्न हो जाय। हम उस सेवक का क्या कहेंगे, जो हमारा कहा तो कुछ माने नहीं, जो काम उसके लिये निर्धारित किये गये है वह बिलकुल करे ही नहीं, या करे भी तो अधूरा या बेमन से, और मालाके दानों पर हमारे नाम गिनता रहे या शेखचिल्लीके जैसा बैठा-बैठा हमारी तारीफके पुल बाधता रहे ?

काम कोई भी छोटा या नीचा नहीं है नीचता है हिंसा परद्रोह, असत्य, जुआ, छल, कपट पुरुपार्थहीनता आदिमें। खेती वाणिज्य व्यवसाय, सेवा, राज्य पालन आदि जो काम भी हमको करना पड़ रहा है सभी समान रूपसे ईश्वर तक पहुंचानेवाले है। यदि उनको हम स्वार्थ बुद्धिसे रहित होकर, उनके फल ईश्वर को अर्पण करके, ईमानदारी और खूबीसे करते है, उनके करनेमें

आलस्य या प्रमाद नहीं करते और हानि लाभमें न घबराते और न इठलाते हैं। यदि हम पिता हैं तो पुत्र का लालन-पालन इस बुद्धिसे करें कि यह पिताका कर्त्तव्य है, इस बुद्धिसे नहीं कि पुत्र हमें कमाकर खिलायेगा। हम दूकानदार हैं तो हम पुरुषार्थसे अपने ग्राहकोंके लिये माल लाकर उन्हें दें और अपनी जीविका के लिये उस पर उचित अनुपातमें लाभ अवश्य लें। यह सर्वथा न्यायोचित धर्मानुकूल है और इससे हमें ईश्वर की प्राप्ति अवश्य होगी, यदि हम इसमें छल कपटका प्रयोग नहीं करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि पढ़ने, लिखने, उपदेश देने, शासन करने या व्यापार करनेके कार्य ही महत्त्वपूर्ण है। जूते बनाकर या सड़कों पर झाड़ू लगा कर जीविका करनेवाला भी यदि सत्यवादी और सत्यकारी है और अपने परिश्रम की रोटी ही खाने का दृढ़ संकल्प रखता है तो वह गीताके उपदेशानुसार अवश्य सिद्धि को प्राप्त करेगा। वह तथाकथित उत्तम वर्णवालोंसे श्रेष्ठ और माननीय है जिनके सम्बन्धमें कविवर मैथिलीशरण गुप्तने कहा है—

> निश्चित नहीं दृग बन्दकर वे लीन हैं भगवानमें,
> या दक्षिणा की मंजु मुद्रा देखते हैं ध्यानमें।

जनता जनार्दनकी सेवा या यों कहिये कि प्राणिमात्रकी सेवा ही परमात्मा की सेवा या सच्ची ईश्वर भक्ति है, यह सिद्धान्त भी अकाट्य है। सर्व शक्तिमान्, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द, हिरण्य-

गर्भ, आप्तकाम प्रभु को क्या कमी है कि हम उसको कुछ दे सकते हैं ? ऋग्० १।१६४ मे कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति ॥

मिले-जुले हुए (व्याप्त व्यापक होनेसे) दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (प्रकृतिरूपी) पर साथ-साथ रहते हैं (प्रकृतिसे बने पृथ्वी आदिमे जीवात्मा का निवास है ही, परमात्मा सर्वव्यापक होनेके कारण वहाँ वर्त्तमान है। उनमे से एक (अर्थात् जीवात्मा) वृक्षके स्वादु फलका (प्राकृतिक भोगो का) उपभोग करता है। दूसरा परमात्मा। उस फलको नहीं खाता हुआ प्रकाशमान होता है।

परमात्मा हमारा पिता है, सारे प्राणिमात्र का भी पिता है। हम प्रभुके अमृत पुत्र हैं—बड़े लड़के हैं—ऐसा वेद भगवान् कहते हैं। साधारण मनुष्य भी पिता होनेकी अवस्थामें अपने खानेकी विशेष चिन्ता न कर अपनी सन्तान को ही खिलाने की चिन्ता करता है। अपनी सन्तानोमें परस्पर मेलजोल और प्रेम देखना चाहता है। पिता की यह हार्दिक इच्छा रहती है कि हमारे पुत्र-पुत्रियां आपसमे लड़ें नहीं, सब एक दूसरे की सहायता करें, और बड़े लड़कोपर तो अपने छोटे भाई (पशु आदि) बहिनोकी देखरेख सेवा संभाल का विशेष उत्तरदायित्व होता है, और उस उत्तरदायित्वको सुन्दर रीतिसे निवाहनेपर उसे बड़ी प्रसन्नता होती है। ऐसी अवस्थामें, इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि परमपिता पर-

आत्मा की प्रसन्नता—उसकी भक्ति का वरदान—हम तभी लाभ कर सकते हैं जब हम अपने छोटे भाइयों, अपनेसे कमजोर मनुष्यों एवं अन्य प्राणियो की भरपूर सेवा और मदद करें। हम किसीको अछूत, किसीको अन्य प्रकारसे घृणित अथवा उपेक्षाके योग्य समझें और उनके सुखदुःख की जरा भी परवाह न करें और परमात्मा को भोग लगाने और खिलाने-पिलानेमें बड़ी धूमधाम करें तो इससे बढ़कर उल्टी समझ क्या हो सकती है? जनता की सेवा, दीनों और आर्तों की रक्षा और सहायता ही परमात्मा का सच्चा भोग है। यही गीताके शब्दोंमें ब्रह्मार्पण है, ब्रह्महवि है और ब्रह्मकी प्राप्तिका वास्तविक साधन है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ गीता अ० ४

क्या हम उस मनुष्य को अपना भक्त या प्रेमी समझ सकते हैं, जो हमें खोजता हुआ बड़ी दूरसे आवे, हमारे लिये बड़ी सुन्दर मिठाइयां और स्वादिष्ट फल लावे, और हमारे नन्हेंसे बच्चे को देखते ही ढकेल देवे या उसके मुँहपर तमाचे लगा दे? अतएव यदि हम प्रभु प्रेमके प्यासे हैं तो प्रभुकी सन्तान—प्राणिमात्रसे प्रेम करना सीखें।

मनुष्यमात्र या प्राणिमात्र की सेवा करने का सबसे अधिक सुयोग गृहस्थ आश्रममें ही मनुष्य पा सकता है। इसी आश्रममें धनोपार्जन किया जा सकता है जिससे औरों का भरण-पोषण किया जा सके। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये तीन

आश्रम गृहस्थके ऊपर ही निर्वाह के लिये आश्रय करते हैं। बलि-वैश्वदेव आदिके द्वारा पशुपक्षियोके पालन करनेका भी उत्तर-दायित्व गृहस्थके ऊपर ही है। अतएव जो गृहस्थ अपने कर्त्तव्य का पूर्णरूप से पालन करता है वह जनक याज्ञवल्क्य आदि गृहस्थाश्रमियोकी तरह जीवन्मुक्त होनेकी योग्यता प्राप्त करता है।

यज्ञ

यजुर्वेद अध्याय ३१ (पुरुष सूक्त) का निम्नलिखित प्रसिद्ध मन्त्र यह शिक्षा अनादि कालसे दे रहा है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
तेह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

विद्वान् ज्ञानी पुरुष उस परम पूजनीय प्रभुकी पूजा अपने सत्कर्मरूप यज्ञ द्वारा ही करते हैं। वही यज्ञरूप कर्म मनुष्यमात्र के लिये सबसे बड़ा धर्म है। इसीके द्वारा हमारे साधक और सिद्ध पूर्वज ऋषि महर्षि, पिता पितामह आदि प्राचीन कालमें परमानन्द प्राप्त करते रहे हैं। इसी यज्ञानुष्ठान परोपकारादि सत्कर्म के द्वारा हम अभी भी सारे सुख और आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

यज्ञ क्या है इस सम्बन्धमें इसके पूर्व इसी पुस्तकमें कई स्थलो पर संक्षेपसे लिखा जा चुका है। यहा पर हम इस सम्बन्ध में कुछ विस्तारसे विचार करेंगे।

जैसा पहले कहा जा चुका है यज्ञ शब्द यज् धातुसे 'न' प्रत्यय लगाकर बनता है। यज् धातुके तीन अर्थ होते हैं—

(१) देवपूजा, (२) सङ्गतिकरण और (३) दान। इसलिये यज्ञ के भी ये ही तीन अर्थ होंगे; यतः यज्ञ शब्द यज् धातुसे बनी हुई भाववाचक संज्ञा है। सबसे पहले हमें देव शब्दके अर्थ पर विचार करना चाहिये। वैदिक शब्दोंके प्राचीन व्याख्याता महर्षि यास्कने निरुक्तमें देव शब्दकी निरुक्ति यों की है—

देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्यु स्थानो भवतीति वा।

अर्थात् (दान) देनेके कारण, (दीपन) प्रकाश देनेके कारण, (द्योतन) शिक्षा, उपदेश आदि देनेके कारण तथा द्यु स्थान सूर्यादि प्रकाशमान लोकोंका प्रकाशक एवं द्यु लोक, अन्तरिक्ष आदि समस्त विश्व ब्रह्माण्डमें व्यापक होनेके कारण ही देव नाम होता है।

अतएव जिससे किसी प्रकारका भी दान औरोंको प्राप्त होता है, जो दाता हैं दूसरों को देकर ही बचे हुए पदार्थ स्वयं भोगनेवाले हैं वे भी देव कहलानेके अधिकारी हैं। इसके विपरीत असुर या राक्षस वे हैं जो येन-केन-प्रकारेण अपने पेट पालनेकी ही चिन्तामें लगे रहते हैं दूसरे चाहे उनके चलते जो भी दुःख भोग उनकी लेशमात्र भी परवाह उनको नहीं है। शिक्षा या उपदेश देकर जो दूसरोंके अज्ञान अन्धकार को दूर करते हैं, असत् मार्ग पर चलनेवालों को जो सीधे सच्चे रास्ते पर लाने का यत्न उपदेशादि द्वारा करते हैं वे सभी धर्मात्मा, विद्वान् संन्यासी सत्योपदेष्टा महानुभाव भी निरुक्तकारकके मतानुसार देव हैं। इसी लिये शतपथ ब्राह्मणमें कहा गया है—

'विद्वाᳫंसो हि देवाः'

अर्थात् विद्वान लोग ही देव है। विद्वान्से उन्हीं विद्वानोंको ग्रहण करना चाहिये जो परोपकारी है और अपनी विद्वत्ताको दूसरोके कल्याणके लिये लगाते है। स्वार्थी, उदरम्भरि विद्वान् होने पर भी देव नहीं कहे जा सकते। कारण, उनसे संसारको कोई लाभ नहीं होता।

प्रकाश देनेके कारण सूय, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि; विद्युत् आदि देव या देवता है। यजुर्वेद अध्याय १४ में आता है—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता वृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥

सूर्यादि प्रकाशमान ज्योतिष पुञ्जो का प्रकाशक सर्वव्यापक परमात्मा तो सर्वोपरि देव; देवोंका देव, महादेव है ही।

ऊपरके लिख निरुक्त वाक्यके अनुसार जो चार अथ देव शव्दके हैं वे ही देवता शव्दके भी हैं। (देव और देवता दोनों पर्यायवाची शव्द हैं क्योंकि देव शव्दमें स्वार्थ तल प्रत्यय लगाने से देवता शव्द वनता है)। इन चार अर्थोंसे यह स्पष्ट है कि देव या देवता जड़ और चेतन दोनों ही प्रकारके होते है।

वेदमे स्थान-स्थान पर ३३ देवो का उल्लेख है। यथा—

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेजिरे।

तान्वै त्रयस्त्रिंशद् वानेके ब्रह्मविदो विदुः॥ अथव १०।७।२७

जिसके सहारे तैंतीस देवता अपनी सत्ता लाभ करते हैं उन तैंतीस देवों को केवल ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अंगे सर्वे समाहिताः।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ अथर्व १०।७।१३

जिसके शरीरमें तैंतीस देव मिलकर रहते हैं वही सब का आधारस्तम्भ है, हे मनुष्य, ऐसा तू कह वही आनन्दमय है।

शतपथ ब्राह्मणके, जो यजुर्वेदका ब्राह्मण (अर्थात् व्याख्यान ग्रन्थ) है, काण्व १४, ब्राह्मण ५ में तैंतीस देवताओंके नाम गिनाये हैं। वहां पर बतलाया है तैंतीस देव हैं—

आठ वसु ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति ३३

ये पांचों तत्त्व हैं। आदित्य (तेज) वसु (वायु) रुद्र (जल) प्रजापति (पृथ्वी) इन्द्र (आकाश) जैसे ये ब्रह्माण्डमें हैं वैसे ही पिण्डमें हैं। जैसा कि ऊपर लिखा है।

बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र। अर्थात्—ब्रह्माण्ड (पृथ्वी) में बारह विश्वा गर्मी तथा ग्यारह विश्वा ंढ (जल) रहने से ही सृष्टि का क्रम अबाध गतिसे चलता रहता है। बारह विश्वा से कम गर्मी होने से जल जम जायगा। जिससे सृष्टि क्रममें रुकावट हो जायगी। इसी कारण पृथ्वीमें बारह विश्वा गर्मी बराबर रहती है। बारह विश्वा गर्मी रहनेसे पृथ्वीके आठों दिशाओंमे जल निरन्तर वायु (वसु) द्वारा चलायमान रहता है। आकाश सर्व व्यापक है। अतः शरीर में ये तैंतीस देवता नियमानुसार बराबर क्रिया करते रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, शरीरके प्राणवायु, जीवात्मा विद्युत्, पशु, इन्द्रिय, विद्वान्, दानी, उपदेशक, शिक्षक, प्रभु परमात्मा—ये सब देवता है। इन सबोंकी पूजा, देव पूजा है, जो यज्ञ शब्दका पहला अर्थ है।

पूजा कहते है अनुकूल आचरण को। हमारी पूजा उसी कर्मसे हो सकती है जो हमें अच्छा लगे। हमें अजीर्ण हो, हमें भोजनके नामसे ही वमन हो, उस समय नाना प्रकारके सुस्वादु पकवान हमारी तुष्टि या पूजाके साधन नहीं हो सकते। चन्दन लेपन, शीतल जलसे स्नान आदि शीतोपचार जेठके दोपहरको भीषण तापके समय तो हमारी तृप्तिके साधन अवश्य होते हैं परन्तु वे ही सब माघ मासकी मध्य रात्रिमें हमारे लिये असीम कष्ट देने-वाले होते हैं। उस समय तो हमारी पूजा आगकी अंगीठी जला-कर कम्बल आदि देकर की जा सकती है। उसी प्रकार गौ की पूजा चारा, घास आदिसे होगी, मालपुआ, मोहनभोग और लड्डूसे नहीं। इसलिये कहावत है—'जैसा देवता वैसी पूजा।' हम व्यक्तिविशेषकी पूजा इसलिये करते हैं कि वह हमपर प्रसन्न हो। व्यक्तिविशेषकी प्रसन्नताकी पहचान इसीमें है कि उससे हमारा कल्याण हो। हमारे साथ यदि कोई ऐसा आचरण करता है जिससे हमारी क्षति होती है तो हम कदापि ऐसा नहीं कह सकते कि वह हमपर प्रसन्न है। प्रसन्न, मनुष्य आदि चेतन प्राणी हो सकते हैं यह तो सभी जानते हैं जड़ पदार्थोंकी भी प्रसन्नता होती

है। संस्कृतमें कहाजाता है 'प्रसन्नं नभः' अर्थात् आकाश प्रसन्न है। प्रसन्न आकाश कहनेसे अभिप्राय यह होता है कि आकाश निर्मल है, मेघसे आच्छादित नहीं है, उससे वज्रपातका भय नहीं है, उसे देखकर नेत्रोंको प्रसन्नता होती है, इत्यादि।

ऊपर लिखे सारे देवताओंकी प्रसन्नता सम्पादनके लिये उनकी पूजा करना अर्थात् उनके साथ ऐसा उपचार करना कि जिससे हमारा कल्याण हो इसीका नाम यज्ञ है। अब हम अग्नि, वायु, पृथ्वी, आकाश, जल, सूय, चन्द्र आदिकी पूजा अपने शरीरके प्राणवायु, आत्मा आदिकी पूजा, पशुओंकी पूजा, सबोंकी पूजा, उनके अनुकूलता सम्पादन द्वारा ही कर सकते हैं। वायु, जल, आकाश और चन्द्रमा सूर्यादिको हम कोई नवेद्य उन तक सीधे नहीं पहुंचा सकते। उन तक अपनी भेंट पहुंचानेके लिये हमें किसी एक योग्य दूतकी आवश्यकता है। वह दूत कौन है? वेद इस सम्बन्धमें कहते हैं—

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे।
देवां आसादयादिह॥

वह दूत अग्नि है वही देवताओंका भाग (अर्थात् हव्य) उन तक पहुंचाता है। वही अग्निदूत हमारा पूजोपकरण देवों तक पहुंचायेगा।

देवोंको हमें खिलाना है। कोई भी हो मुँहसे ही तो खायगा। देवोंका मुँह है अग्नि। कहा है—'अग्निमुखा व देवाः' अर्थात् देव अग्निरूप मुखवाले हैं। अग्निमें आहुति डालिये देवोंका भाग

डालिये सारे देवोंको पहुंच जायगा। सारे देवोंकी प्रसन्नता हो जायगी। मनु महाराजने कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्यको प्राप्त होती है। सूर्यसे वृष्टि होती है। वृष्टिसे अन्न और अन्नसे मनुष्योंकी उत्पत्ति और पालन होता है।

अग्निदेव ही एक ऐसा तत्त्व है जो सत्त्वगुण विशिष्ट है। इसकी गति सदा ही ऊपरकी ओर होती है, जो सत्त्वगुणका प्रधान लक्षण है। अग्निकी शिखाको जितना ही नीचे गिराया जाय उतना ही वह ऊँची उठेगी। इसी हेतु अग्निके नाम है ऊर्ध्वज्वलन (ऊपर जलनेवाला) तनूनपात (अपने शरीरको नीचे न गिरानेवाला)। मध्यमें रहना राजसगुण है और नीचे गिरना तमोगुणका लक्षण है, जसा भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते है :—

ऊर्द्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

तत्त्वोंमें वायु राजस तत्त्व है, यह मध्यमें रहता है। न ऊँचे और न नीचे। वैज्ञानिक कहते हैं कि वायु पृथ्वीतलसे प्रायः चालीस मीलकी दूरी तक है। उससे ऊपर नहीं। यही कारण है कि वायुयान आदिके द्वारा वहुत ऊँचाई तक नहीं जा सकते और पृथ्वीसे जितना ही ऊँचा उठा जाय उतनी ही वायु हल्की और

विरल होती जायगी और मनुष्यको सांसके लिये वायु नहीं मिल सकेगी।

पृथ्वी और जल तमोगुणी तत्त्व है। उनका स्वभाव नीचे गिरने का है। मिट्टीके ढेलेको बड़े वेगसे ऊपर फेंका जाय, जब तक फेंकनेवाले व्यक्तिकी शक्ति उसमें काम करती रहेगी, वह ऊपर जायगा। बाहरी शक्ति समाप्त होते ही वह नीचे गिर जायगा। जलको बाहरी शक्ति लगाकर नलके द्वारा ऊपर चढ़ाया जाता है फिर नीचे ही चला आता है। जलका बहाव सदा नीचेकी ओर ही होता है।

अग्नि स्वयं पवित्र है और दूसरोंको पवित्र करनेकी सत्त्वगुणी प्रकृति भी उसमें सबसे अधिक है। अग्निमें कुछ भी पड़े अग्नि सबको आत्मसात् कर अपने स्वरूपमें लेशमात्र भी विकार नहीं आने देता। स्वयं पवित्र ही बना रहता है। सारे अशुद्ध पदार्थ इसमें पड़कर अपनी अशुद्धि छोड़ देते, शुद्ध हो जाते हैं। इसी कारण सुवर्ण आदि धातुओंका मल दूर करने के लिये उन्हें अग्निकी कड़ी आँचमें तपाते है।

जिस प्रकार तत्त्वोंमें सत्त्वगुणयुक्त अग्नि ही देवोंको भाग पहुंचा सकता है उसी प्रकार सत्त्वगुणवाले मनुष्य ही, जिनका विचार बराबर उन्नति करने, ऊंचे उठने, गिरावटकी ओर न जानेका है, यथार्थ में वे ही सबका कल्याण कर सकते हैं और दूसरोंको ऊपर उठा सकते हैं, पतनसे बचा सकते हैं। अतएव हमें कदापि नीचे गिरानेवाले गुणकर्म एवं स्वभावको अपने अन्दर

आश्रय नहीं देना चाहिये, हमें अग्निके समान ही स्वतः पवित्र और अपवित्रोंको पवित्र करनेवाले पतितपावन होना चाहिये। आज जो हमलोग इतने गिर गये है अथवा पीढ़ी-दर-पीढ़ी गिरते जा रहे है उसका स्पष्ट कारण यही है कि हमलोगोंके अन्दर तमोगुण की मात्रा बहुत बढ़ रही है। तमोगुणी कर्मोंको छोड़कर सत्त्व-गुणवाले कर्म करने, पवित्र विचार, सत्य और हितकर वाणी, सत्य व्यवहार, शुद्ध आचरण, सात्त्विक भोजन आदिके अपनानेसे ही हमारा कल्याण होगा। इस अग्निदेवमें वह अनेक शक्ति है कि देवोंके भागो (यज्ञकी आहुतियों) को छिन्न-भिन्न करके, उनको सूक्ष्मसे सूक्ष्म रूपमें परिणत करके उन्हें देवों तक पहुंचा देवे।

कुछ लोग यह शंका करते हैं कि हवि (अन्न) आदि पदार्थोंको अग्निमें जलाकर नष्ट क्यों किया जावे। परन्तु वे यह नही जानते कि किसी भी वस्तुका अत्यन्त अभाव कभी नहीं होता। वस्तुके रूपान्तर हुआ करते हैं। ऐसा समय नहीं आ सकता जब कि वह बिलकुल ही न रहे। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

अर्थात्—जो नहीं है उस (असत्) का कभी होना (भाव) नहीं हो सकता। जो है उस (सत्) का नहीं होना या न रहना (अभाव) कभी नहीं हो सकता। तत्त्वदर्शी विद्वानोंने इस सिद्धान्तको भलीभाँति समझा है।

किसी स्थानमें एक बोरेमें लाल मिरचा रख दीजिये। उसके निकट मनुष्य आसानी से रह सकता है। परन्तु आगकी अंगीठी में दो चार ही मिरचा डाल दीजिये तो पास ही क्यों सौ पचास गजकी दूरी पर भी खड़े मनुष्यको बेचैनी हो जायगी। स्पष्ट है कि मिरचाका विनाश नहीं हुआ बल्कि वह अधिक शक्तिशाली हो गया।

हवनके अन्नादि पदार्थोंकी भी वही बात है। यज्ञकुण्ड से दूर-दूर रहनेवालोंको भी यज्ञ की सुगन्धि लगती ही है। अन्न यदि पात्रमें रहता, अग्निमें नहीं डाला जाता तो पासमें बैठे लोग भी उसको ग्रहण नहीं कर सकते। अग्नि द्वारा वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर संसारके प्राणिमात्रके लिये हितकर हो जाता है। यह नहीं समझना चाहिये कि जहाँ तक सुगन्ध जा रही है वहीं तक यज्ञादि में डाला हुआ हवि पहुंचा। वह तो उससे आगे भी पहुंच गया है, सारे वायुमण्डलमें व्याप्त हो गया है। यद्यपि दूर जाकर सूक्ष्म इतना हो गया है, उसकी स्थूलता इतनी बढ़ गयी है कि वह अब नासिकाके द्वारा ग्रहण नहीं किया जासका।

जल; वायु, पृथ्वी आदि देवों की पूजा अग्निहोत्र के द्वारा करना हमारा प्रतिदिन का आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है। उससे ही हमारा जीवन है। उसके अप्रसन्न अथवा प्रतिकूल हो जानेसे हमारा जीवन सङ्कटमय हो जायगा। हमें शुद्ध वायु न मिले तो क्या हम एक मिनट भी जीवित रह सकते हैं? पृथ्वी माता और जल देवता, सूय चन्द्रमा आदि समस्त देवता-

ओंका कितना असीम उपकार हम पर है। उसकी कृपा और सहायता के विना हम एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते। परन्तु हम अपने व्यवहार और रहन-सहन से, श्वास, प्रश्वास से मल मूत्रादिसे उन्हें कितना दूषित करते है। क्या हमारा कर्त्तव्य और परम आवश्यक कर्त्तव्य यह नहीं हो जाता कि हम जितनी गन्दगी फैलाते है उसका किसी अंश तक परिशोध यज्ञ, हवन आदि द्वारा सुगन्ध का विस्तार कर करे। भगवान् कृष्णने गीता के तीसरे अध्याय में इस हमारे कर्त्तव्य को कितने सुन्दर ढङ्गसे समझाया है। भगवान् कहते है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

प्रजापति परमात्मा ने सृष्टि के आदि में जब प्रजा को उत्पन्न किया तो उसके साथ ही यज्ञ को भी उत्पन्न किया (अर्थात् मनुष्यमात्र के लिये यज्ञ का विधान किया) और कहा कि हे मनुष्यों, इसी यज्ञसे तुम बढ़ो, फलो फूलो, यह यज्ञ तुम्हारे लिये सारे अभिलषित सुखो को देनेवाला कामधेनु के समान हो।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

इस यज्ञ के द्वारा तुम (मनुष्य) देवों को प्रसन्न करो। यज्ञ द्वारा पूजित और प्रसन्न देवगण तुम्हें सब तरह से सुखी करेंगे। इस प्रकार एक दूसरे को प्रसन्न करते हुए सारे कल्याण प्राप्त करो।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥

यज्ञ द्वारा पूजित देव तुम्हें सारे भोग्य पदार्थ तुम्हारे इच्छा-तुकूल देंगे। देवताओं से जब सारे जीवनोपयोगी पदार्थ मनुष्य पाते हैं तो बदले में यज्ञ द्वारा देवों को उनका भोग जो मनुष्य नहीं देता है अर्थात् जो यज्ञ अग्निहोत्रादि नहीं करता है वह चोर ही है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

जो यज्ञ करके बचा हुआ अन्न खाते हैं वे सारे पापों से छूट जाते हैं। जो केवल अपने खाने के लिये ही पकाते हैं, उसमें पञ्चमहायज्ञ आदि नहीं करते वे केवल पाप ही खाते हैं।

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ११७ वाँ का छठा मन्त्र इस सत्य को यों कह रहा है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

जो धनवान् होते हुए श्रेष्ठ मनवाले परोपकारी मनुष्य एवं अपने मित्रकी भी सेवा सहायता नहीं करता वह (केवलादी) अर्थात् केवल स्वयं ही भोग करनेवाला (केवलाघः) अर्थात् केवल पाप रूप ही बनता है। मैं सच कहता हूं कि वह दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य अन्न को व्यर्थ प्राप्त करता है। उसका वह अन्न-अन्न नहीं है बल्कि उसका नाश है। जो उदार हृदय,

दानी, परोपकारी नहीं है उनका धन उनके अनर्थ का ही कारण है उससे उनकी हानि ही होती है, लाभ नहीं। अतएव यज्ञ, परोपकारादिमें धन व्यय करना चाहिये और स्वयं यज्ञशेष भोजन करना चाहिये)।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

अनादि कालसे जो यह चक्र चल रहा है कि मनुष्य कृषि कर्म करे, कर्म द्वारा यज्ञ सम्पादन हो, यज्ञसे वृष्टि हो, वृष्टिसे अन्न और अन्नसे मनुष्यादि प्राणियोंकी उत्पत्ति और पालन हो, इस क्रम या सिलसिलाको जो मनुष्य जारी नहीं रखता वह पापपूर्ण आयु वितानेवाला और इन्द्रिय लम्पट है। हे अर्जुन! उसका जीना बेकार है। वह पृथ्वीका भार स्वरूप है।

पिण्ड (मनुष्य शरीर) ब्रह्माण्डका नक्शा है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' यह एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है। पिण्ड ब्रह्माण्डका परस्पर सम्बन्ध बतलाते हुए अथर्ववेद ५।९।७ में कहा है—

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथ्वी शरीरम्।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधेद्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय

अर्थात् सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अन्तरिक्ष आत्मा (हृदय) है और पृथ्वी मेरा शरीर है। मैं अपने आपको अपराजित समझकर द्युलोक और पृथिवी के बीच में सुरक्षित रखता हूं।

यह प्रत्यक्ष भी है कि बिना सूर्य के हम देख नहीं सकते, बिना वायु के सांस नहीं ले सकते और बिना भूमि के खड़े नहीं हो सकते। इस प्रकार शरीर बिल्कुल ही ब्रह्माण्ड के अधीन है। आँख सूर्यके, प्राण वायुके और पैर पृथिवीके ऊपर अवलम्बित है। पर जब सूर्य चला जाता है, वायु का चलना बन्द हो जाता और पृथिवी ठण्ढी या गर्म हो जाती है तो पिण्ड और ब्रह्माण्ड में विषमता उत्पन्न हो जाती है। इस विषमता को दूर करने में हमें भौतिक यज्ञकी आवश्यकता होती है। हम दीपक जलाकर सूर्य का काम लेते, पंखा चलाकर वायु को अनुकूल करते, पृथिवी ठंढी या गर्म हो जानेसे जूते पहन कर या ऊँचे मञ्चपर खड़े होकर पृथिवी की सर्दी गर्मी को अनुकूल कर लेते हैं। यह अनुकूल ही यज्ञ का सङ्गतिकरण, पूजा और दान है। अर्थात् विषमता उपस्थित होने पर पृथिवीस्थ पदार्थोंको लेकर वैज्ञानिक सिद्धान्त से पिण्ड-ब्रह्माण्ड में सामञ्जस्य उत्पन्न कर देना यज्ञ का प्रधान कार्य है।

यदि पिण्ड और ब्रह्माण्डमें अनुकूलता न रहे यदि उनकी विषमता दूर न की जाय तो मानव जीवन खतरेमें पड़ जाय। यही कारण है कि ऋतु परिवर्तन आदिके समय ; यथा—चैत या आश्विन आदि मासोंमें भयङ्कर रूपसे नाना प्रकारके रोग फैल जानेकी आशङ्का रहती है, क्योंकि उस समय शरीरस्थ वायु, जलादिमें और ब्रह्माण्डके वायु, जलादिमें भीषण विषमता उत्पन्न हो जाती है। इसलिये यज्ञोंका काम रोग निवारण भी है। भैषज्य यज्ञकी तो बड़ी प्रधानता वैदिक साहित्यमें दी गयी है।

भैषज्य यज्ञ आयुर्वेदसे सम्वन्ध रखता है। इसमें देशकाल और पदार्थोंके गुणोंका ज्ञान होना आवश्यक होता है। शतपथ ब्राह्मणमें भैषज्य यज्ञके सम्वन्धमें लिखा है—

भैपज्य यज्ञा वा एते। ऋतुसन्धिपु व्याधिर्जायते तस्मादृतु-सन्धिपु प्रयुज्यन्ते।

अर्थात् ये भैपज्य यज्ञ ऋतुकी सन्धियो पर किये जाते हैं। कारण यह कि ऋतुओंकी सन्धियो पर रोग होते है। छान्दोग्य उपनिपत् ४।१७।१८ में लिखा है कि भैपज्य यज्ञोमें आयुर्वेदके विद्वान् ही होता होवें। जिस प्रकार व्यक्तिगत स्वास्थ्य या अन्य प्रकारके कल्याणके लिये दनिक अग्निहोत्रकी आवश्यकता है उसी प्रकार सावजनिक स्वास्थ्यके लिये सार्वजनिक उपचारकी आवश्यकता है। इसी लिये शास्त्रों में सार्वजनिक भैषज्य यज्ञ करने की भी आवश्यकता वतलाई गई है। सड़क, अस्पताल, रोशनी, सफाई आदि म्युनिसिपैलिटी के काम जैसे सार्वजनिक है उसी प्रकार प्राचीन काल में सार्वजनिक यज्ञ भी होते थे। शत-पथ ब्राह्मण में कहा है—यज्ञोऽपि तस्यै जनातायै भवति' यज्ञ जनता या मनुष्यमात्र के कल्याण के लिये होता है। होली ऐसी ही सार्वजनिक भैषज्य यज्ञ है जो सम्वत्सर के अन्त में की जाती है। यह यज्ञ वड़े विस्तृत सार्वजनिक रूप से करने का विधान है क्योकि ब्राह्मण ग्रन्थ में लिखा है—'मुखं वा एतत् सम्वत्सरस्य यत्फाल्गुणी पूणमासी।' अर्थात् फाल्गुन की पूर्णिमा सम्वत्सर (वर्ष) का मुख है।

अभी भी जब-जब कोई रोग आदि व्यापक भाव से फैलने की आशङ्का होती है तो कारपोरेशन या म्युनिसिपैलिटी आदि की ओर से नलके जलमें औषधियां डाली जाती हैं। सम्भव है, कोई नल का जल न पीवे तब वह तो उस औषधिके लाभ से वञ्चित रह जायगा। वायु के द्वारा भी रोग के कीटाणु मनुष्य के शरीरमें पहुंचते ही रहते हैं अतएव ऋषियों ने अद्भुत ज्ञान से यज्ञ का अविष्कार किया था कि वायु को ही उसके द्वारा शुद्ध, पवित्र और रोगरहित कर दिया जावे जिस वायु के बिना मनुष्य का काम एक क्षण के लिये भी नहीं चल सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दैनिक हवन से लेकर बड़े से बड़े अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञ (जो राजा महाराजा आदि के करने के हैं) करने की प्रेरणा शास्त्रोंने दी है।

यही यज्ञ की देव पूजा है। यज्ञों में बड़े-बड़े विद्वानोंका मान्य आदर सत्कार, बन्धुवर्ग और इष्टमित्रोंका समागम और सत्कार यह सङ्गतिकरण है जो यज्ञ शब्द का दूसरा अर्थ है। यज्ञ के द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण दुर्बलों और दुःखों को अन्नादि दान यह यज्ञ शब्द के तीसरे अर्थ दान को सार्थक बनाता है।

इस समय में यह स्मरण रखने की बात है—जो दैनिक यज्ञ नित्यकर्म के रूप में गृहस्थ स्वयं करता है उसको छोड़कर ऋत्विजों या पुरोहितों विद्वानों के सहयोग से जो यज्ञ किये जाते हैं वे यज्ञ दक्षिणावाले ही होने चाहिये। क्योंकि बिना दक्षिणावाले यज्ञ को भगवान् ने गीता अध्याय १७ में तामस यज्ञ कहा है—

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥

अर्थात् शास्त्रविधिके अनुकूल नहीं किया गया अन्न से रहित यज्ञ-साकल्य में अन्न न डाला गया हो (अथवा जिसमें अन्नदान भोजन प्रदान आदि न किया गया हो) , वेद मन्त्रों द्वारा आहुतियां नही दी गयी हो, जो श्रद्धापूर्वक न किया हो एवं ऋत्विजो को दक्षिणा नहीं दी गयी हो, ऐसा यज्ञ तामस यज्ञ है।

रामचन्द्रजी को युवराज पद पर अभिषेक करनेकी इच्छा प्रकट करते हुए राजा दशरथने स्वयं अपने सम्बन्ध मे कहा था—

राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा यथेप्सिताः ।
अन्नवद्भिः क्रतुशतैर्यथेष्टं भूरिदक्षिणैः ॥ अ० (वाल्मीकि) ४।१२

हे राम, मैं वृद्धा हूं, बड़ी उम्र मैंने पायी है, मनमाने भोग मैंने भोगे है, बहुत अन्नवाले और प्रचुर दक्षिणावाले सैकड़ों यज्ञ मैंने किये है ।

यथार्थमे षट्कर्म निरत ब्राह्मण, जिन्होने मानव समाजके कल्याणार्थ अपना जीवन अर्पण कर दिया है, मनुष्यमात्रमें ज्ञान-विस्तार, सासारिक एवं पारलौकिक उद्धार के लिये जो सतत प्रयत्नशील हे उनको पेटकी चिन्तासे, परिवारपालनके भारसे मुक्त कर गृहस्थाश्रमी क्षत्रियों और वैश्योका आवश्यक कर्त्तव्य है। क्योकि परोपकारी विद्वान् जिस समाजमें जितने अधिक सुखी और निश्चिन्त रहेंगे उतना ही अधिक वह समाज सुख-शान्ति से भरपूर होगा ।

दक्षिणा लेनेका अधिकारी कौन है इस सम्बन्धमें यजुर्वेद अध्याय १६ का ३० वां मन्त्र कहता है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

मनुष्य व्रतसे अर्थात् विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य्य, पुरुषार्थ आदि सत्कर्म करनेके दृढ़ सङ्कल्प से दीक्षा को प्राप्त करता है अर्थात् उसका आचरण उसके व्रत या शुभ सङ्कल्प के अनुकूल हो जाता है। उससे दक्षिणाकी प्राप्ति होती है। दक्षिणा प्राप्त करनेसे उसको सत्कर्म करनेके लिये श्रद्धा हो जाती है और श्रद्धा द्वारा मनुष्य सत्यको प्राप्त कर लेता है।

इस वेदमन्त्रमें हम देखते हैं कि मनुष्य दक्षिणा पाकर श्रद्धाको प्राप्त करता है अर्थात् जब सत्कर्म करने लग गया और उसके सत्कर्मों के लिये उसे पुरस्कार और प्रोत्साहन (दक्षिणा) मिला तो सत्कर्मों के लिये उसके हृदयमें दृढ़ आस्था (श्रद्धा) हो गयी और उसने श्रद्धासे सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए सत्यको पा लिया। यह भी इस मन्त्रसे स्पष्ट होता है कि जिन्होंने व्रत लिया है—अपनी आत्मिक उन्नतिके लिये दृढ़ सङ्कल्प किया है और उस सङ्कल्प पर चलते हुये शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने लग गये हैं वे ही दक्षिणा पानेके अधिकारी हैं। वेद भगवान्‌की यह पावन शिक्षा विशेष मनन करने योग्य है।

अबतक द्रव्यमय यज्ञका वर्णन किया गया है। वास्तवमें किसी प्रकारके भी कर्म, जो स्वार्थ भावनासे रहित होकर, अपनेको कर्त्ता

न मानकर (अहङ्कारसे शून्य होकर) किये जाते हैं, सब ही यज्ञ है। गीता अध्याय ४ श्लोक २३ में कहा है—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

कर्मसङ्गरहित, इच्छा द्वेष शून्य, ज्ञाननिष्ठ पुरुषके शरीर-यात्रार्थ किये हुए यज्ञ रूप कर्म समस्त विलीन हो जाते हैं अर्थात् ऐसे कर्मोका फल कर्त्ताको जन्म-मरण रूप चक्रमें नहीं फंसाते है।

श्लोक २६ मे कहा है—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥

कोई संयमरूप अग्निमें श्रोत्रादि इन्द्रियो का यज्ञ करते हैं कोई इन्द्रिय रूप अग्निमें विषयोंका हवन करते है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

कोई आत्मसंयम रूप अग्निमें उसे ज्ञानसे प्रज्वलित करके सब इन्द्रियो और प्राणोंके व्यापारोको हवन करते हैं।

ऊपर के दो श्लोको का यही भाव है कि मनुष्य सारे इन्द्रियों के कार्य करता हुआ भी योगी है और यज्ञ कर रहा है यदि वह विषयोंमें आसक्त नहीं है और इन्द्रियों का दास नहीं बल्कि इन्द्रियो को अपना दास बनाकर प्रभुकी आज्ञा पालन करनेके लिये इन्द्रियोका उपयोग करता है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८

प्रसंशित व्रतवाले कोई द्रव्य यज्ञ, कोई तपरूपी यज्ञ, कोई योग यज्ञ, कोई स्वाध्याय यज्ञ और कोई ज्ञान यज्ञका अनुष्ठान करते हैं।

श्लोक २६ वें में प्राण और अपानकी गतिको रोककर रेचक, पूरक और कुम्भक रूप प्राणायाम करनेवाले को यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला बतलाया गया है। श्लोक ३० में मिताहारी होकर प्राणोंसे हवन करना कहा गया है और यह बतलाया गया है कि 'सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः'। ऊपर लिखे ये सारे के सारे ही यज्ञके रहस्यको जाननेवाले एवं याज्ञिक हैं और उनके उन सारे द्रव्ययज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ एवं ज्ञानयज्ञके अनुष्ठानसे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।

श्लोक ३२ में कहा है—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्म जान् विद्धितान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥

प्रजापतिने ऐसे और बहुतसे यज्ञों का विधान किया है परन्तु कोई भी यज्ञ बिना कर्मके नहीं हो सकता। अतएव ईश्वरका रूप कर्म करते रहना और ईश्वरमें भक्ति और आस्था रखकर हरि का नाम भजते रहना ही मनुष्य का परम उद्देश्य होना चाहिये।

नामस्मरण

नामस्मरणसे भक्त समुदाय ईश्वरका नाम स्मरण ही समझता है और इस नामस्मरणकी अनादिकालसे बड़ी महिमा गायी गयी है। यजुर्वेदके ३२ वे अध्याय का तीसरा मन्त्र बड़ा ही प्रसिद्ध और वह यह है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिꣳसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः॥

इस महिमामहान् सच्चिदानन्द परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं है (उसका सादृश्य उपमान या नापना कुछ भी नहीं है)। उसका नाम बड़ा यशवाला है। उसकी महिमा का वर्णन 'हिरण्यगर्भ' आदि मंत्रो द्वारा, 'मामा हिसीत्' इस मंत्रसे और 'यस्मान्नजातः' इत्यादि मंत्रोसे वेदोंमे किया गया है।

ऊपरके मंत्रमें तीन मंत्रोके जो प्रतीक दिये गये है वे एक के बाद एक अर्थ सहित नीचे लिखे जाते हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
ऋ० १०।१२१।१

जिसके गर्भमे अनेक तेजस्वी है अर्थात् जो सुवर्ण आदि धातुओं एवं सूर्य चन्द्रादि ज्योतिष्मान् लोकोंका उत्पन्न करने वाला है वह सृष्टिके पूर्व भी वर्तमान था। वह सब बने हुये संसार का एक ही स्वामी प्रसिद्ध है। उसने पृथिवी को धारण किया है

और इस द्युलोकको भी धारण किया है। उस आनन्दस्वरूप एक देवकी ही हम सब उपासना करें।

मा मा हिंसीजनिता यः पृथिव्याः यो वा दिवꣳसत्यधर्मा व्यानट्।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजु० १२।१०२

हे प्रभो, आपने इस पृथिवी और द्युलोकको बनाया है। आपने ही जल और चन्द्रमाको उत्पन्न किया है। आप हमारी सब प्रकारसे रक्षा करें और सारे दुःख और नाना प्रकार की पीड़ाओंसे हमें बचाव। हम सब आपकी ही उपासना और प्रार्थना करें, आपको अपना एकमात्र शरण और अवलम्ब मान कर आपकी पूजा और आराधना करें।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वहा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणिज्योतीꣳषिसचते स षोडशी ॥

यजु० ८।३६

जिस प्रभु से बढ़कर कोई दूसरा नहीं है, जो विश्वस्रष्टा इन सारे लोकलोकान्तरों में प्रविष्ट और व्यापक है, वह परमपिता परमात्मा अपनी प्रजा के साथ रमण करता हुआ अर्थात् सारे प्राणियों का पालन करता हुआ उनका सुखसम्पादन कर रहा है। वही प्रभु सूर्य चन्द्र एवं अग्निरूप तीन ज्योतियों एवं सोलह कलाओंवाले विश्व ब्रह्माण्डका धर्त्ता-कर्त्ता और विधाता है।

ये मन्त्र बतला रहे हैं कि उस प्रभु की महिमा का पारावार नही है। उसके समान 'न भूतो न भविष्यति' न तो कोई हुआ

और न होगा। उस प्रभु के नाम के महात्म्यको शब्दो से पूरा पूरा वर्णन कर सकना गागर में सागर भरने के समान असम्भव कार्य है। इसी कारण तो महिमा के सम्बन्ध में कहते-कहते ऋषि मुनि नेति-नेति कहकर मूक हो जाते है।

प्रभु के नाम असंख्य है। क्योंकि प्रभु का कोई नाम निरर्थक नहीं हैं साधारण मनुष्यो के नाम तो निरर्थक हो भी सकते हैं परन्तु परमेश्वरके सारे नाम उसके गुण-कर्म स्वभावके अनुसार ही दिये गये हैं। चूंकि परमात्माके गुण, कर्म और स्वभावके अनुसार ही दिये गये है। चूंकि परमात्मा के गुण, कर्म और स्वभाव का अन्त नहीं वैसे ही उसके नाम भी अनन्त है। सर्वव्यापक होने के कारण उसका नाम विष्णु, सब से बड़ा होने के कारण उसका नाम ब्रह्मा, सृष्टि की रचना द्वारा उसका विस्तार करने के कारण उसका नाम ब्रह्म, प्रलय और मृत्युके द्वारा किवा दुष्टोको दंडादि देने के कारण रुलानेवाला होने से उसका नाम रुद्र, कल्याण करनेवाला होने से उसका नाम शिव वा शङ्कर, स्वयं कल्याण स्वरूप होने से उसका नाम शम्भु आदि हैं। वह स्वयं प्रकाश स्वरूप एवं दूसरों का प्रकाशक परम पूजनीय एवं अग्रणी होने से अग्नि नामवाला है। वह प्रजा को पालन करनेवाला है अतएव उसको प्रजापति कहा गया है। योगीजन उसमें रमण करते हैं, इसलिये उसका नाम 'राम' है। देवो का भी देव होनेसे वह महादेव कहलाता है। इसी प्रकार और नामों के भी अर्थ हैं।

ऋग्वेद १।१६४ में कहा है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

अर्थ—विप्र (वेदवित् विद्वान लोग) एक ही सत् (सत्ता) को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि,दिव्य सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि नामों से पुकारते हैं।

यही बात यजुर्वेद अध्याय ३२ के प्रथम मन्त्र में कही गयी है वह मन्त्र है।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तद् चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

वही प्रभु अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः और प्रजापति नामोंसे सम्बोधित किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदादि शास्त्रोंमें परमात्माके अनेक नाम कहे गये हैं। परन्तु वे सब नाम अन्य मनुष्यों वा पदार्थोंके भी हो सकते हैं। अतएव परमात्मा का निज नाम ओ३म् योगदर्शन एवं उपनिषद्में कहा गया है। योगदर्शन कहता है—

तस्य वाचकः प्रणवः।

प्रणव अर्थात् ओ३म् उस प्रभुका नाम है।

योगदर्शन आगे चलकर कहता है 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' उस ओ३म् नामका जप उसके अर्थ चिन्तनपूर्वक करना ही यथार्थ में नाम जप है।

ओ३म् अक्षर, जो परमात्माका सबसे श्रेष्ठ नाम है और उसी का जप आदि करना चाहिये, इसके सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् प्रथम अध्याय का प्रथम वाक्य और उसपर स्वामी शङ्कराचार्यका भाष्य विशेष ध्यान देने योग्य है। उपनिषद् कहती है—

ओ३म्मित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।

इसपर शाङ्करभाष्य निम्नलिखित है—

ओ३म्मित्येतदक्षरं परमात्मनोऽभिधानं नेदिष्ठं तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति, प्रियनामग्रहण इव लोकः। एवं नामत्वेन प्रतीकत्वेन च परमात्मोपासनसाधनं श्रेष्ठमिति सर्ववेदान्तेष्ववगतम्। जपकर्मस्वाध्यायाद्यन्तेषु च बहुशः प्रयोगात्प्रसिद्धमस्य श्रैष्ठ्यम्। अतस्तदेतदक्षरं वर्णात्मकमुद्गीथं भक्त्यवयवत्वादुद्गीथशब्दवाच्यमुपासीत।

अर्थात् ओ३म् अक्षर परमात्माका निकटतम (नेदिष्ट) नाम है। (नेदिष्ट या निकटतम इसलिये कहा गया है कि प्रभु की अनन्त महत्ता या इयत्ता वाणी द्वारा निःशेष रूप से बतायी तो जा नहीं सकती उसके स्वरूप या सामर्थ्य का दिग्दर्शनमात्र ही कराया जा सकता है)। इस ओ३म् नाम के लेने से प्रभु वैसे ही प्रसन्न होते है जैसे मनुष्य उसके प्रिय नाम लेने से प्रसन्न होता है। (इसका भाव यह है कि ओ३म् नाम स्मरण से ही मनुष्य का सबसे बड़ा कल्याण होता है। वास्तव में जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है प्रभु की अपनी प्रसन्नता अप्रसन्नता का तो कोई प्रश्न ही

नहीं उठता क्योंकि वह कोई साधारण मनुष्यों जैसा तो है नहीं) इसी ओ३म् नाम या प्रतीकसे परमात्मा की उपासना करना सबसे श्रेष्ठ है यह वेदान्त अर्थात् वेदके अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति परक मन्त्रभागों किंवा अन्यान्य सारे ब्रह्मविद्याविधायक ग्रन्थोंका निश्चित मत है। जप, कर्मकांड (यज्ञादि) एवं ग्रन्थों के अध्यायों के आदि एवं अन्त में ओ३म् नाम का ही प्रयोग सर्वत्र देखे जानेसे इसकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है। भक्ति का सबसे बड़ा साधन होनेके कारण भक्त इस नाम का गान करते हैं इसलिये इस ओ३म् अक्षर का दूसरा नाम उद्गीथ है। इसी ओ३म् अर्थात् उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये।

यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय जो उपनिषदोंमें सबसे अधिक प्राचीन ईशोपनिषद् के नाम से भी प्रसिद्ध है उसका सत्रहवां मंत्र कहता है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तॐशरीरम्।
ओ३म् क्रतोस्मर क्लिवे स्मरकृतॐ स्मर॥

मृत्युके उपरान्त शरीर पिण्ड में स्थित प्राणवायु ब्रह्मांडस्थ वायुमें मिल जायगी। इस रूपमें यह सदा नहीं रहनेवाला है, परन्तु जीवात्मा अमृत है, अमर है, जरामरण से रहित है। अतएव मनुष्य को जो कर्मशील है, ओ३म्का स्मरण और जप करना चाहिये। अपने किये हुए कर्मों को स्मरण करना चाहिये अर्थात् उनपर विचारात्मक दृष्टि डालनी चाहिये, भौतिक शरीर चिन्ताकी

अग्निमें जलकर भस्म हो जायगा। जैसा कि मनु आदि स्मृतिकारों ने कहा है।

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरुत॥

अर्थात् मनुष्य को यह प्रतिदिन देखते रहना चाहिये कि हमारे कर्म कैसे हो रहे हैं, कौन से हमारे कर्म विवेक हीन पशुओ के जैसे और कौन से कर्म मननशील मनुष्यो के जैसे हुए वा हो रहे हैं। (इस प्रकार के आत्मनिरीक्षण से हमें अपने किये हुए अशुभकर्मों के लिये ग्लानि होकर हमारे आगे होनेवाले कर्म शुभ होगे)। इस ओ३म्‌के जपसे और अपने कृत कर्मों के पयवेक्षणसे मनुष्यको वलकी प्राप्ति होगी कठिनसे कठिन कार्य उसके लिये सुकर होंगे और सव प्रकारसे उद्धार होगा। इस मन्त्रमें मनुष्य को कर्मशील (क्रतु) इस कारणसे कहा गया है कि चौराशी लाख योनियोमेंसे केवलमात्र मनुष्य योनि ही कमयोनि है अर्थात् मनुष्यको ही कम करनेकी स्वतन्त्रता प्रभुकी ओरसे प्राप्त है। और वाकी योनिया भोगके लिये हैं। उन योनियोमें—पशु, कीट, पतङ्ग, वृक्षादि की योनियोमे—उत्पन्न जीवोंको कर्म करनेकी स्वतं-त्रता नहीं है, वे योनियां केवल फल भोगनेके लिये ही मिली हुई हैं। इस मंत्रमें ओ३म् जपका ही विधान है।

जैसा ऊपर कहा गया है जप अर्थ पर मनन करते हुये ही होना चाहिये और पूरी तन्मयता से। उस समय अन्य विषयों पर मनको नहीं जाने देना चाहिये। ओ३म्‌के अर्थों का कोई

अन्त नहीं है। माण्डूक्य उपनिपद् एवं छान्दोग्य उपनिषद्‌में इसका विस्तारसे वर्णन है। संक्षेपमें इसके अवयव अ, उ, और म् ये तीन अक्षर यह बोध करा रहे हैं कि प्रभु अ अक्षरके जैसा जगत् का आदि कारण है, वह स्वर अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप एवं अन्योंको प्रकाशित करनेवाला है, सारे व्यञ्जन वर्णों में जिस प्रकार 'अ' अक्षर विद्यमान है परन्तु उसे केवल विद्वान् ही देख सकते हैं उसी प्रकार प्रभु चराचर जगत्‌में व्यापक होते हुए भी उसकी दिव्य ज्योतिका दर्शन, उसकी सत्ताका भान, विद्वान योगि-जनों को ही होता है। 'उ' अक्षर से प्रभुके जगत् पालन स्वरूपका बोध होता है। ओ३म् अक्षरके 'म्' के उच्चारणके साथ ही मुखका कपाट बंद हो जाता है। इससे यह प्रकट होता है कि प्रभु इस सृष्टिकी उत्पति और धारणके साथ ही इसका प्रलय करनेवाला भी है। प्रभु परमात्मा का प्रलयकर्त्ता होना भी उसकी दयालुता का ही द्योतक है क्योंकि मृत्यु के नियम में भी भक्त एवं योगिजन प्रभुकी महिमा और कृपा ही देखते हैं।

सबसे सरल अर्थ 'ओ३म्' का 'रक्षक' है। क्योंकि व्युत्पत्ति 'अव रक्षणे' धातुसे भी होती है।

साधक जप करते हुए प्रभुकी अपार महिमा का चिन्तन और मनमें यह दृढ़ धारण रखे कि प्रभु हमारा रक्षक है, तो वह सारे दुखोंसे छूट जायगा।

भक्तोंने 'राम' जपकी भी बड़ी महिमा गायी है। भक्त

वर गोस्वामी तुलसीदासजीने रामनामकी महिमाकी पराकाष्ठा दिखला दी जब उन्होंने रामायणमें कह दिया—

'राम न सकहिं नाम गुण गाई'

सचमें जब प्रभुकी महिमाका अन्त ही नहीं है तो प्रभु स्वयं भी उसका अन्त कैसे जान सकते हैं। परमात्माका ज्ञान सत्य है। तो सांत का सांत और अनन्त को अनन्त जानना ही तो सत्य ज्ञान है।

'शिव' नामका जप भी कुछ भक्त करते हैं। प्रभुके अन्य नामोंका भी जप अपनी रुचिके अनुकूल किया जा सकता है। क्योंकि 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' मनुष्योंकी रुचि भिन्न-भिन्न हुआ करती है। परन्तु शुद्ध हृदयसे जप्य नामके अर्थों पर विचार करते हुए प्रभुको सब स्थानोंमें वर्तमान, सबके कर्मोंको देखनेवाला सबकी रक्षा करनेवाला समझकर और अपनेको सारे दोषोंसे पृथक् रखकर प्रभुकी आज्ञापर चलनेका दृढ़ संकल्प मन में करते हुए श्रद्धा एवं भक्ति के साथ नामस्मरण या जप करने से ही प्रभुकी कृपा प्राप्त होती है। कबीरदासजीने बड़ा ही सुन्दर कहा है—

'बिनु पहिचाने बिनु गहि पकड़े राम कहे का होई।'

जप जोरसे बोलकर, बिना शब्द किये केवल ओष्ठ-जिह्वा आदि वर्णोंके उच्चारण स्थानोंका प्रयोग कर तथा बिल्कुल मन ही मन, जिसमें ओष्ठ आदि भी न हिलें, तीन प्रकार से किये जा

सकते हैं। परन्तु इन तीनों मेंसे अन्तिम प्रकारका जप ही शास्त्रों में श्रेष्ठ माना गया है। इस प्रकारके जपमें मनकी एकाग्रता एवं निर्विषयता की अत्यन्त आवश्यकता है। प्रारम्भमें पहले या दूसरे प्रकारका भी जप किया जा सकता है।

जप करनेमें माला की अनिवार्य आवश्यकता तो नहीं है क्योंकि प्रभुके साथ कोई मोलतोल तो करना है नहीं। परन्तु नियम-निष्ठाके पालन में माला बड़ी सहायक हो सकती है। हम यदि निश्चय करलें कि एक सौ आठ वार या एक हजार बार जप किये विना भोजन नहीं करेंगे तो हम आवश्यकरूप से जप करने लगेंगे और एक नियम बन्ध जायगा। उस अवस्था में गिनती करनेके लिये माला की आवश्यकता हो सकती है। परन्तु माला इत्यादि के पीछे बहुत चिंतित होना और उसको वहुत अधिक महत्व देना आवश्यक नहीं, किसी भी माले पर गिनती कर सकते हैं; अंगुलियों पर भी गिनती हो सकती है।

नियमित रूप से स्नान सन्ध्या आदि के बाद निश्चित संख्यामें जप तो मालाओं पर कर सकते हैं परन्तु जव कभी भी अवकाश मिले, कोई काम न रहे, जैसे गाड़ी, सवारी में बैठे हुए, राह चलते हुए, अथवा रातमें बिछावन पर पड़े-पड़े (नीन्द न आने तक) नामस्मरण (जप) करते रहना चाहिये। वैसे समयों में नाम जप रूप पवित्र कार्य में मन को लगाने से मनमें अन्य अपवित्र विचार नहीं उठ सकते।

भजन-कीर्तन

प्रभुके गुणगानके पद उच्च स्वरसे अकेले गाने अथवा पाठ करनेसे भी बड़ा लाभ होता है। इसी प्रकारके पदोंको जब कई व्यक्ति जोर-जोरसे बार-बार साथ मिलकर बोलते हैं तो उसी को हरिकीर्त्तन या संकीर्त्तन कहा जाता है। यह भी बड़ा उपयोगी और लाभप्रद है। इससे व्यक्तिगत कल्याण के साथ ही साथ दूसरों का भी कल्याण होता है। बोलनेवालो का मन और वाणी तो पवित्र होती ही है सुननेवाले भी, पवित्र वाणी के श्रवण करनेसे पवित्र हो जाते है, पवित्रता का वातावरण तैयार हो जाता है यह तो प्रतिदिन का अनुभव है कि अच्छे वक्ता जब कोई करुण कहानी सुनाने लगते है तो कभी-कभी उनके नेत्रों में भी आसू आ जाते है। वही जब वीर रस की बाते करते तो वीरतासे उनकी भुजाएं फड़क उठतीं, एक विचित्र जोश उमड़ आता है। जो बाते वक्ता को स्वयं होती है वे ही उनके श्रोताओं को भी हो जाती है। चतुर सेनापति अपने जोशीले भाषणों से सेना में जोश उभाड़ कर उसे युद्ध आदि के लिये सन्नद्ध कर देते हैं। प्रभावशाली वक्ता मार्मिक व्याख्यानो से निष्ठुर श्रोताओं में भी किसी के प्रति दया का स्रोत बहा सकते है, पत्थर को मोम बना सकते है। भद्दे फिल्मी गाने आदि सुनने का यही तो प्रभाव है कि आज ब्रह्मचर्यकी रक्षा इतनी कठिन हो रही है। ऐसी अवस्था में भक्ति, सद्गुण, सच्चरित्रता के गान अथवा पदपाठ

वक्ता और श्रोता दोनों का कितना अमित कल्याण करेंगे इसमें सन्देह का लेशमात्र भी अवकाश नहीं है। इसी कारण भजन, कीर्त्तन का इतना महत्व है। हां, भजन कीर्त्तन के लिये सुन्दर सात्त्विक भावों से युक्त पद्य ही चुने जाने चाहिये। प्रतिदिन कुछ समय तक चुने हुए वेद मन्त्रों, उपनिषदों के ब्रह्मस्तोत्रों अथवा गीता आदि धर्म ग्रन्थों अथवा मातृभाषाके भजन, स्तुति आदि का उच्च स्वर से पाठ करना हृदय को उच्च भावों से भर देता है। इससे कण्ठस्वर स्पष्ट होता, शब्दोंके शुद्ध उच्चारण करनेकी शक्ति आती और हृदय एवं शरीरमें बलका सञ्चार होता है। निर्जन स्थानोंमें, जहां भय प्राप्त हो सकता है वहां पर जोर-जोरसे स्तुति पाठ आदि करनेसे निर्भयता प्राप्त होती है यह तो बहुत लोगोंका अनुभव है।

भक्तकी प्रार्थना

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥

अथर्व० १०।८।४४

हे प्रभो, आप कामनाओंसे रहित, धीर, बुद्धिके प्रेरक एवं अमर हैं, स्वयम्भू अर्थात् अपनी सत्तामें आप ही वर्तमान हैं किसीसे उत्पन्न होकर अपनी सत्ता लाभ नहीं करते, आप आनन्दसे तृप्त हैं तथा किसीसे भी न्यून नहीं हैं। उस धीर,

जरा रहित, युवा आत्मा आप प्रभुको जानने वाला ही मृत्यु से नहीं डरता।

भद्राहं नो मध्यन्दिने भद्राहं सायमस्तु नः।
भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः॥

अथर्व० ६।१२८।२

हमारे मध्याह्नकालमें सुखद दिन हो, हमारे लिये सूर्यके अस्तकालमे भी पवित्र दिन हो, दिनोके प्रातःकाल में भी हमारे लिये पवित्र दिन हो तथा सब रात्रि हमारे लिये शुभ समयवाली हो। हम सब कालमें सुखी हों और आपको सदा स्मरण करते तथा आपकी वैदिक आज्ञाका पालन करते हुए पवित्रात्मा बनें, कभी आपको भूलकर आपकी आज्ञा से विरुद्ध चलनेवाले न बन और अपने समय को व्यर्थ न खोव। ऐसी प्रार्थना को आप स्वीकार कर।

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्वन्तय ओषधीर्वीरुध आ विवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥

अथर्व० ७।८७।१

जो दुष्टोंको रुदन करानेवाला न्यायकारी भगवान् अग्निमें, जलमें, अनेक प्रकारसे उत्पन्न होनेवाली औषधियोमें प्रविष्ट हो रहा है, जो प्रभु इन दृश्यमान सर्व भूतोंके उत्पन्न करनेमें समर्थ है, उस सब जगत् में प्रविष्ट ज्ञानस्वरूप रुद्रको हमारा बार-बार नमस्कार है।

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किंचन॥

अथर्व० १०।८।१६

जिस परमात्माकी प्रेरणासे सूर्य उदय होता है, जिसमें अस्त होता है उसको ही मैं सबसे बड़ा मानता हूं, उससे कोई भी ऊपर नहीं है।

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीयति॥

अथर्व० १०।८३२

ईश्वर पास रहनेवाले उपासक को नहीं छोड़ता, पास रहनेवाले भगवान् को जीव नहीं देखता। परमात्मा के वेदरूप काव्य को देखो, जो न मरता और न बूढ़ा होता है। (ज्ञानी-लोगों को चाहिये कि वे परमात्मा की उपासना करें और उसके अनादिनिधन काव्य वेद को, जो सनातन और सार्वभौम सत्यका प्रतिपादन करता है, सदा विचार करें। जिससे लोक परलोक सुधर सकें)।

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा तावदापः सिष्यदुः।
यावदग्निः ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांतस्मै
ते काम नम इत् कृणोमि॥ अथर्व० ६।२।२०-

जितने कुछ सूय और भूलोक अपने फैलावसे फले हुए हैं, जहाँ तक जल धाराएं बहती हैं और जितना कुछ अग्नि वा विद्युत है उससे आप अधिक बड़े, सब प्रकार से महान् पूजनीय हैं,

उन आपको ही हे कामना करने योग्य परमेश्वर, मैं नमस्कार करता हूं।

ज्यायाने निमिषतोऽसि तिष्ठतो
ज्यायान्समुद्रादसि काम मन्यो।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँ
नस्मै ते काम नम इत् कृणोमि॥

हे कामनायोग्य पूजनीय प्रभो, पलके मारनेवाले मनुष्य, पशु पक्षी आदि से और स्थावर वृक्ष पर्वत आदिसे, आकाश और समुद्र से आप अधिक बड़े है। सब प्रकार से आप अधिक पूजनीय है, उन आपको ही मैं नमस्कार करता हूं।

न वै वातश्चनें काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि॥
अथर्व० ६।२।२३

नतो कोई वायु उस कामना योग्य परमेश्वर को प्राप्त होता है, न अग्नि, न सूर्य एवं न चन्द्रमा प्राप्त हो सकता है। उन सबसे आप बड़े और पूजनीय है। उन आपको ही मैं बार-बार प्रणाम करता हूं।

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥ अथर्व० ११।२।१६

सायंकाल में उस प्रभु को नमस्कार है, प्रातःकाल नमस्कार है, दिन और रात में नमस्कार है, सुख देनेवाले और दुःख के नाश करनेवाले उस प्रभु को वार-वार नमस्कार है।

प्रभु कहते हैं—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥
अथर्व० ४।३०।१

मैं ज्ञानदाता दुःखनाशक एवं निवास देनेवाले पुरुषों के साथ रहताहूं। मैं आदित्य ब्रह्मचारियों, प्राण और उदान वायु के समान सबके हितकारियों, पवन और अग्नि के समान तेजस्वियो, तथा अध्यापकों एवं उपदेशकोंका पालन करता हूं।

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति यई शृणोत्युक्तम्।
असन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुतश्रद्धेयं ते वदामि ॥
अथर्व० ४।३०

मेरे द्वारा वह अन्न खाता है (अर्थात् सारे भोग्य पदार्थोंको प्राप्त करता) जो भले प्रकार देखता है (सोच-विचार कर अच्छे-बुरेका विवेक करके कार्य करता है), जिसमें प्राण हैं (बल, और साहस है) जो कहा हुआ सुनता है (वेदादि शास्त्रोंका श्रवण करता एवं विद्वानों, ज्ञानियों और अनुभवी वृद्धोंके उपदेश सुनता है और तदनुकूल कार्य करता है)। मुझे किंवा मेरी आज्ञा नहीं माननेवाले मनुष्य दीनहीन होकर नष्ट हो जाते हैं। हे सुननेमें समर्थ जीव, तू सुन, तुझसे मैं श्रद्धाके योग्य वचन कहता हूं।

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा ऊ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥

अथर्व० ४।३०।५

मैं ज्ञानदाता व दुःखके नाशक मनुष्यके हितके लिये और ब्रह्मज्ञानी, वेदपाठी विद्वानोंके द्वेषी हिंसकके मारनेके लिये ही धनुष तानता हूं (अर्थात् सत्पुरुषोंकी रक्षा और दुष्ट-दुरात्माओंका नाश करता हूं)। मैं भक्तजनके लिये पृथिवीको आनन्दसे पूर्ण करता हूं। मैं सूर्य्य और पृथिवी लोकमें सब ओरसे प्रविष्ट हूं।

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शाश्वतः।
मां हवन्ते पितरो न जन्तवो अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्॥

मैं ही सारे धनरत्नोंका स्वामी हूं। मेरा ही उनपर सदासे पूरा अधिकार है। जीवगण मुझे पिता कहकर पुकारते और मुझसे सहायताकी याचना करते हैं। परन्तु मैं भोग्य पदार्थ उन्हींको देता हूं जो दूसरोंको देते हैं (जो दानी और परोपकारी हैं।

ऊपरके चार मन्त्रोंमें प्रभु कहते हैं कि मैं प्रार्थना उन्हीं मनुष्योंकी सुनता हूं जो इन मन्त्रोंमें लिखे ईश्वराज्ञाके अनुकूल अपने गुणकर्म स्वभावको बनाते हैं। निठल्ले बैठे शेखचिल्ली लोगोंकी प्रार्थना प्रभु नहीं सुनते।

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः॥

अथर्व० २।२८।४

परमेश्वर मनुष्यको आशीर्वाद देते हैं कि हे मनुष्य, जैसे पुरुष अपनी मातासे उत्पन्न होकर उस माताकी गोदमें स्थित रहता है और अपने पितासे पालन-पोषणको प्राप्त करता है, वैसे ही पृथिवी रूपी मातासे उत्पन्न होकर उस पृथिवीकी गोदमें रहता हुआ तू मनुष्य द्युलोक और पृथिवी तेरे अनुकूल होकर सौ वर्ष पर्यन्त जीनेमें सहायता करे। तू सारी आयुमें अच्छे-अच्छे कर्म करता हुआ, ब्रह्मज्ञान द्वारा मोक्ष सुख प्राप्त करे।

तावद् भवति मे दुःखं मृत्युसंसारसागरे।
यावत् कमलपत्राक्षं न स्मरामि जनार्दनम्॥

आदर्श दिनचर्या

निद्रात्याग—प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में अर्थात् सूर्योदय से चार घड़ी (करीव डेढ़ घण्टा) पूव उठे। उठकर ईश्वर का चिन्तन करे और हो सके तो "अश्ववती गोमती नो उपासो वीरवती सद् युच्छन्तु भद्राः" यह मन्त्र प्रढ़े। यह काल अमृत वेला है। इस समय शरीर इन्द्रिय, वुद्धि आदि स्वच्छ एवं विमल रहती हैं। इस समय उठने से स्वप्नदोष भी नही होता। निद्रात्याग के वाद जल से कुल्ला करे,आँखों को और मुंह को अच्छी तरह धोवे। इस समय थोड़ा जल भी पीना अत्यन्त लाभदायक है। इस समय के जलपान को उपःपान कहते हैं। इस जलपान से कफ-जनित रोग एवं अनपच जाता रहता है।

शौच-निद्रात्यागके वाद मल त्याग कर देना अति आवश्यक है। मल त्याग करते समय वातचीत और जल्द वाजी नहीं करनी चाहिये। हाँ, जोर लगाकर मल को निकालने का यत्न करना भी वर्जित है। मलमूत्र की शंका को किसी समय भी नहीं रोकना चाहिये। वादमें हाथ-पाँव अच्छी तरह धोना चाहिये। कुल्ला भी करना चाहिये।

दन्तधावन—शौचादि के वाद दाँतों की सफाई अत्यन्त आवश्यक है। दाँतों की सफाई के लिये दतवन का उपयोग करना चाहिये। नीम की दतवन सवसे उत्तम होती है। साथ ही सेंधा नमक और सरसों के तेल से भी दाँतों को मलना चाहिये।

दाँतों के लिये देशी मञ्जन भी काम में लाये जा सकते हैं। दाँतों को साफ़ करने के बाद शुद्ध जल से कुल्ला करना चाहिये। दिन-रात में जब-जब भी जल स्पर्श करे गहरा कुल्ला अवश्य करे। आँखों को भी ठंढा जल से धोवे। दाँतों का सम्बन्ध मस्तिष्क तथा पेटसे है। इसलिये दाँत तथा मुख की सफाई पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये। जीभ पर मैला जमा न रहना चाहिये सोने के पहिले भी मुंह और दाँत भली-भाँति साफ कर लेना चाहिये। भूल कर भी जूठे मुंह नहीं सोना चाहिये। इससे बड़ी हानि होती है।

कुछ दाँतों में सोने की खोली होनी भी आवश्यक हैं। मुखमें सोना रहने से गन्दगी के कीटाणु रहने नहीं पाते। सोने के स्पर्श से मुख में बना हुआ रस पेट के भीतर जाकर पुष्टि और आरोग्य बढ़ाता है।

स्नान—शौच और मुख की सफाई के बाद स्नान करना चाहिये। स्नान से अग्नि दीप्त होती है, बल और तेज की वृद्धि होती है। शरीर विमल और स्फुर्तियुक्त हो जाता है। स्नान प्रातःकाल सूर्योदयके पूर्व ही हो जाना चाहिये। शीतल जलसे ही स्नान करना उत्तम है, परन्तु यदि शीत अथवा अन्य किसी कारणसे कभी गरम जलसे स्नान करना हो तो सर पर गर्म जल न डाले। कारण, गर्म जल मस्तिष्क एवं नेत्रोंके लिये हानिकारक है। मोटे गमछे या तौलियेसे रगड़-रगड़कर स्नान करना उचित है। बढ़िया साबुन कदापि न लगावे। गङ्गाजी की मिट्टी लगाके

स्नान करे। नदीमें स्नान उत्तम है। नदी समीप न हो तो अन्यत्र भी पर्याप्त जलसे स्नान करे।

स्नान करनेके पहले शरीरमें तेल मालिश करना स्वास्थ्यके लिये लाभदायक है। तेलकी मालिशसे वातादि दोष दूर होते हैं, बुढ़ापा नहीं आता, थकावट मिटती है, बल बढ़ता है एवं नींद अच्छी आती है। इससे चर्म रोग भी नहीं होते। सिरमें तेल मलनेसे मस्तिष्क और दृष्टिकी शक्ति बढ़ती है। कानमें तेल डालनेसे कर्णरोग दूर होते हैं। परके तलवोमें तेल मलनेसे भी दृष्टि शक्ति को लाभ पहुंचता है। इसलिये तेलकी मालिश अवश्य करनी चाहिये।

सन्ध्योपासन—स्नानके वाद संध्योपासन एवं ईश्वर चिन्तनमें रत हो जाना चाहिये। उपासनाका अथ है समीप बठना। ईश्वरकी उपासना का अथ हुआ ईश्वरके समीप वैठना। ईश्वर सर्वव्यापक (सब जगह वर्तमान) एवं अन्तर्यामी (सबके भीतर प्रविष्ट है)। अतएव परमात्मा को अपने समीप अनुभव कर उससे अपनी आत्मा को उच्च, पवित्र और सवगुण सम्पन्न बनाना ही उपासनाका रहस्य है। जिससे सम्पूण चराचर जगत् उत्पन्न हुआ, जो इस ब्रह्माण्ड को धारण और पालन कर रहा है, जो प्रभु सारे सुख के साधनों का देनेवाला है उसकी स्तुति के द्वारा स्मरण करना मनुष्यमात्र का परम कर्त्तव्य है। परमात्मा की, जो मनुष्यमात्र के लिये पुरुषार्थ की आज्ञा है, उसपर चलकर सदव कमशील रहनेवाले उपासकके परम प्रभु सदैव सहायक होते

हैं। संध्योपासन एकान्त तथा स्वच्छ और पवित्र स्थान में करना चाहिये।

सन्ध्या करते समय प्राणायाम का भी अभ्यास बढ़ाना चाहिये। जिस प्रकार स्थूल शरीरके लिये व्यायाम की आवश्यकता है। प्राणायाम के अभ्यास से दिन प्रतिदिन शान्ति एवं आयु बढ़ती है, दोषोंका क्षय होता है, मनकी एकाग्रता होती है एवं ज्ञानका प्रकाश बढ़ता है। अग्निहोत्र, बलिवैश्वदेव, पितृ-तर्पण एवं अतिथि सत्कार भी नित्यप्रति करना चाहिये।

सन्ध्याके समय दोनों शाम होम करना चाहिये। धूप भी देना चाहिये। धूपका धूम घरके प्रत्येक भागमें फैलाना चाहिये। इससे वायुकी गन्दगी जाती रहती है। स्थानका वायुमण्डल शुद्ध हो जाता है।

व्यायाम—प्रतिदिन अपनी शक्तिके अनुसार व्यायाम करना भी अति आवश्यक है। पुरुषार्थ करने से ही पुरुषार्थ बढ़ता है। व्यायामसे स्फूर्ति, क्रियाशक्ति तथा जठराग्निकी वृद्धि होती है। शरीर स्वस्थ, सबल, सुडौल और नीरोग रहता है। व्यायाम खुली हवामें करना उचित है।

भोजन—करनेसे पूर्व हाथ-पांव अच्छी तरह धो लेना चाहिये, तीन आचमन भी करना चाहिये। प्रथम भोजन ६ बजे से १२ बजे तक कर लेना चाहिये। सायंकाल का भोजन ८ बजे से पूर्व ही करना चाहिये। जैसा लिखा है—सायं प्रातर्द्विजातीना-मशनं श्रुतिचोदितम्। हित, मित और यथा परिमाणका ही भोजन

अलवर्द्धक है। बीचमें आवश्यक हो तो फल आदि ले सकते हैं। भोजन शुद्ध, सात्विक एवं निरामिष होना चाहिये। ईश्वरका ध्यान कर भोजन मे ही मन लगाकर स्वच्छ स्थानमें शान्त चित्तसे भोजन करना चाहिये। प्रत्येक ग्रासको खूब चबा चबाकर खाना चाहिये। भोजनके अन्तमें जल पीना हानिकारक है। भोजनके पश्चात् सौ कदम धीरे-धीरे टहलना चाहिये। पीछे कुछ समय विश्राम करे। पश्चात् प्राणिमात्र की हितकी भावना रखते हुए अपने-अपने कर्मोंमें लग जाना चाहिये। दिनमें सोना हानिकारक है।

दिनान्त कर्म—सायंकाल शौचादि से निवृत्त होकर संध्योपासना करना चाहिये। भोजनोपरान्त ईश्वरके भजन-कीर्तन एवं ज्ञानकी चर्चा मित्रो एवं बाल-बच्चोंके सहित करनी चाहिये।

कीर्त्तन मनुष्य मात्रको प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये। भोजनोपरान्त एक घण्टा या जितना भी समय मिले उसमें तन्मय होकर कीर्त्तन करना चाहिये। किसी कारण, चिन्ता या झंझटोंसे दिनमें यदि मनमे किसी तरहकी कमजोरी आ गयी होगी तो कीर्त्तनसे वह सब दूर हो जायगी। भावना पवित्र होगी। कीर्त्तन की गूंजसे स्थानका वातावरण पवित्र हो जायगा। शब्दोच्चारणसे फेफड़ेका व्यायाम होगा और इससे भोजन अच्छी तरह पच जायगा। नींद खूब आयगी और दुःस्वप्न नहीं होंगे। कीर्त्तन कल्याण एवं शक्तिका दाता है। कीर्त्तन हाथोंपर ताल देकर और कठतालके सहारे करना चाहिये।

निद्रा—दिन भरके परिश्रम की थकावट निद्रा से ही दूर होती है और फिर से नवीन शक्ति एवं स्फूर्ति की प्राप्ति होती है। इसलिये रात्रि जागरण कदापि नहीं करना चाहिये। रातमें छः सात घंटे तक सोना अत्यन्त आवश्यक है। ९॥ बजे रात तक अवश्य सो जाना चाहिये। सोते समय शान्त और प्रसन्नचित्त रहना चाहिये।—शुभ सङ्कल्पके भाव मनमें होने चाहिये। इस हेतु सोनेके पहिले परमात्माका चिन्तन करना अति आवश्यक है। शिव सङ्कल्पके छः वेदमन्त्र अर्थ चिन्तन पूर्वक पाठ करते हुए सो जाना बड़ा लाभप्रद हो सकता है। पूर्व अथवा दक्षिण सिर करके ही सोना लाभदायक है।

स्त्रीप्रसङ्ग विषय सुखके लिये नहीं होना चाहिये। शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार ऋतुकालमें सन्तानकी इच्छासे ही इसमें प्रवृत्त हो जाना चाहिये। यह काम मध्य रात्रिके पूर्व ही होना चाहिये कारण, इससे जो थकावट होती है उसकी निवृत्ति पर्याप्त निद्रासे ही हो सकती है।

सबकी दिनचर्या समान नहीं होती। इसलिये दिन रातके २४ घण्टोंका विभाजन देश, काल और अवस्थाके अनुसार करके एक कार्यक्रम तैयार कर लेना चाहिये और उसके अनुसार ही अपने भोजन, शयन, व्यवहार, उद्योग, नीति आदिका सञ्चालन करना चाहिये। कार्यक्रम-निश्चित कर लेनेसे सब काम, यदि नियम पालनमें कड़ाई रखी जाय, तो ठीक समय पर होते रहेंगे।

मर्यादाको सुदृढ़ बनाना चाहिये :—

कृत्रिमता को अपनाने से हमारे मे संकुचित मनोवृत्ति घर कर गई है। हम हमारे महापुरुषों के भावोको गलत दृष्टिकोण से देखते आरहे है। उनके असली सिद्धान्तोको नहीं समझ पाते। परिस्थितियोंके अनुसार स्वार्थ साधन के लिये उनके मनमाने अर्थ लगाते रहे, जिससे ज्ञानका ह्रास व मर्यादा भङ्ग हो गई है। अतः हमारे में संकीर्ण विचारधारा उत्पन्न हो गई, इसलिये कृत्रिम विचारोका आवरण हटाकर हमें ईश्वरीय नियमोंका महत्त्व समझना चाहिये और उसीके अनुसार कार्य करना चाहिये।

ज्ञान, पुरुषार्थ एवं सत्यनिष्ठा द्वारा हमें ऊपर उठना चाहिये। अपने भावुक, कोमल हृदयवाले, ज्ञानी महापुरुषोके विचारोंको समझकर प्रेरणा लेनी चाहिये और अपना जीवन भी वैसा ही बनाना चाहिये। धर्म और मर्यादा पर जो पर्दा इस समय पड़ा हुआ है उसे उठानेकी जरूरत है, इसीसे हमारी सब प्रकारकी बुराइयां दूर होंगी, और हम अपने निर्दिष्ट उद्देश्यको प्राप्त कर सकेंगे। हमारा कर्त्तव्य है कि हम हमारे महापुरुषोके विचारोंका अनुशीलन कर, उनकी सच्ची बातोको समझें। उनके द्वारा बनाये हुए वेदादि धर्मशास्त्रोंका अर्थ प्राकृतिक, व्याकरण से संगत, प्रसंगानुसार, प्राणिमात्रके हितके परिणाम को समझकर अपनी भूलोंका सुधार कर, तभी हमारी मर्यादा सुदृढ़ होगी और हमें सुखकी प्राप्ति होगी।

संसार के प्रत्येक प्राणि तिनके से लेकर समुद्र तक, जड़ चेतन, छोटे बड़े सब, सत्य और धर्म की मर्यादा में बँधे हुए हैं। इसी बातका हमारे वेदादि आर्ष ग्रन्थों ने बार-बार उपदेश दिया है। संसार के प्रत्येक धर्म, प्रत्येक राष्ट्र, सत्य की महत्ता को स्वीकार करते हैं। सत्य ही परमात्मा का साक्षात् स्वरूप है। सत्य की महिमा से सूय, चन्द्रादि तत्त्व अपने कार्य सम्पादन करने में संलग्न हैं। यहाँ तक कि सृष्टि के तमाम व्यवहार सत्य पर ही स्थित हैं।

धर्म और सत्य में कोई भी भेद नहीं है। इनका चोली दामन का सा सम्बन्ध है। धर्म के द्वारा ही हमारा अभ्युत्थान होता है। धर्म के द्वारा ही इहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याण सम्भव है। ऋषि प्रतिपादित धर्म ही हमारे लिये कल्याणकर हो सकता है। हम अपने ध पर गर्व करते हैं और धर्म के विषय में भगवान श्रीकृष्णने हमें यहाँ तक उपदेश दिया है कि "स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः" अतः हमारा कतव्य स्पष्ट है। बिना धम के कल्याण सम्भव नहीं।

सत्य धर्म की मर्यादा से ही सृष्टि के प्रत्येक कार्य सम्पन्न होते हैं। जसे कुल की मर्यादा, जाति की मर्यादा, देशकी मर्यादा, अवस्था की मर्यादा, राज्य की मर्यादा, कार्य की मर्यादा, उद्योगकी मर्यादा, कृषि उत्पादन की मर्यादा, आहार की मर्यादा, सत्य की मर्यादा, धम की मर्यादा आदि किसी भी मर्यादा का उलंघन न करे। मर्यादा के अन्तगत ही सब कुछ बंधा हुआ है।

ईश्वरीय प्राकृतिक नियम भी मर्यादा पर ही आश्रित हैं। महाद्वीप भारत के चारों तरफ मेखलायमान समुद्र मानव जातिको मर्यादा की शिक्षा देनेके लिये अहर्निश चेतावनी दे रहा है। समुद्र में जलतरंगों से और ज्वारभाटों से बराबर उथल-पुथल होती रहती है। परन्तु इन बड़ी-बड़ी हलचलो के सहन करने पर भी समुद्र अपनी मर्यादा की आनको तनिक भी नहीं छोड़ता। अरबो वर्षों से अपनी मर्यादा का पालन करता हुआ केवल सत्य पर स्थिर रहकर समग्र संसार की रचना मे सहायता प्रदान करता है। मानव भी मर्यादा के आधार पर ही संसार में सफलता प्राप्त कर सकता है। कारण समुद्र जैसे महान्—जिसकी परमायु का कोई अन्त ही नहीं है वह भी अपनी मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखकर ही महान् कहलाता है। मानव मात्र शतायु है फिर वह भी ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन आश्रमों की मर्यादा को पालन करके ही मानव यथार्थ मानव हो सकता है। अन्यथा वह मानव की श्रेणी से पतित हो जाता है। जब समुद्र अरबो वर्षोंसे अपनी आनपर टिका हुआ है तो मानव मात्र १०० वर्ष की अवधि में ही अपनी मर्यादा को भंगकर रहा है और उसीका कारण हमारी अल्पायु है।

जितने प्राणी संसार मे है उनमे बुद्धिवादी प्राणी केवल मनुष्य ही है। बुद्धिजीवी होनेके नाते ही सर्वाधिक उत्तरदायित्व मानव पर आता है। सृष्टि की प्रायः सभी वस्तुएँ मानव के लिये ही निर्मित की गई हैं वही उनका कारण है। जैसे—

" विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् "

अर्थात्—ज्ञान ही ब्रह्म का साक्षात् रूप है। जैसे—कुम्हार मिट्टी के वर्तन बनाता है वह अपनी इच्छा से भिन्न-भिन्न प्रकार के आवश्यकतानुसार वर्तन निर्माण करता है। उन वर्तनोंमे से किसी वर्तन का नुकसान होता है तो वह उसके कर्त्ता (कुम्हार) का नुकसान होगा ठीक इसी प्रकार मनुष्य इस संसारका प्रजापति (कुम्हार) है और वर्तनादि संसार के पदार्थ उसके काम में आनेवाली चीजे हैं। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ज्ञानवान ही मनुष्य है। जैसे—"ज्ञानवान मानव प्रोक्त, ज्ञान हीनः पशुस्मृतः" इसलिये तात्पर्य यह हुआ कि कारणभूत मनुष्य ही है। ज्ञानवान के ही कर्म लागू हैं। अज्ञानी किसी के भी कर्म लागू नहीं है। मनुष्य ज्ञान-सम्पन्नता से सबका कर्त्ता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देखिये—सृष्टि का आरम्भ मनु एवं सतरूपा से होता है। फिर धीरे-धीरे जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकताएँ वढ़ती गई उसी के अनुसार ज्ञान द्वारा तत्त्वों से सृष्टि की वृद्धि होती गई। यह जो सृष्टिकी रचना है वह अरबों वर्षोंसे चली आरही है। यह कोई एक दिन की रचना नहीं है। हमारे पूर्वज ऋषिमहर्षियों ने ज्ञान, पुरुषाथ एवं सत्य द्वारा सृष्टि की वृद्धि की। यह जो सृष्टि की रचना है वह किसी व्यक्तिविशेष की नहीं है। यह वृद्धि तो निरन्तर ज्ञानीजनों द्वारा होती ही रहती है। जैसे—कभी पशु, कभी पक्षी, कभी कीटपतंग, कभी जलचर नभचर, कभी विषधर जन्तु, कभी अन्न, कभी फल, कभी मेवा, कभी तेलहन आदि पदार्थ

आवश्यकतानुसार ज्ञान द्वारा निर्मित होते रहते हैं। सत्य एवं ज्ञान द्वारा ही एक समय था जब हमने अमरत्व, सशरीर ब्रह्मलोक की प्राप्ति, मन इच्छा मृत्यु, साठ हजार हाथियो का बल प्राप्त किया था। सत्य एवं मर्यादा के कारण ही इतने उच्च शिखर पर पहुंचे। सत्य तथा मर्यादा की आनसे जरा भी विचलित नहीं होते थे। फिर महाभारत के समय मे ही कलियुग का प्रादुर्भाव हुआ। छलकपट एवं असत्य से महारथी, भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, कर्ण, शल्यादि का वध हुआ। अर्थात् ज्ञानका नाश हुआ।

छलकपट एवं असत्य का बोलवाला हुआ चारो तरफ वेदादि शास्त्रों पर कुठाराघात होने लगे। बिना परिणाम सोचे आर्ष ग्रन्थों का मनमाना अर्थ लगाने लग गये। जिसका परिणाम आपके सामने है। जैसे—

धर्मः संकुचितः तपो विचलितं, सत्यं च दूरं गतम्।
क्षौणिमंदफला नृपाश्चकुटिलाः शास्त्रेतरा ब्राह्मणाः॥
लोकास्त्रिवशगाः स्त्रियोतिचपलाऽलोकानुरक्ताजनाः।
साधुसीदति दुर्जनः प्रभवति प्रायः प्रवृत्तो कलौ॥

अर्थात्—छलकपट रूपी कलियुग के आगमन से धर्म संकुचित हो गया, तपमार्ग से लोग हट गये, सत्य का अभाव हो गया। पृथ्वी मन्दफल देनेवाली हो गई, राजा लोग कुटिल हो गये, ब्राह्मण लोग शास्त्र मार्ग से भ्रष्ट हो गये। संसार के प्राणिमात्र स्त्रियोमें लोलुप हो गये, स्त्रियाँ स्वच्छन्द विचरणवाली हो गई। तमाम प्राणी मर्यादा से गिर गये, साधु (सज्जन) दुख पाने लगे

गंये, दुष्ट मनुष्य आनन्द करने लगे यह सब प्रायः सत्य के अभाव होनेसे एवं मर्यादा की आनको तोड़नेसे प्राप्त हुआ।

आज हमारी अवनति का भी यही कारण है कि हमलोग कृत्रिमता में फँस गये। जिससे पुरुषार्थ से हीन हो गये। आज के युगमें हमलोग विना भविष्य सोचे कि इन कृत्रिम साधनों से हमारी आगे जाकर क्या हालत होगी अपने जीवनको मशीनोंपर अवलम्बित कर दिया तथा उन्हीं में अपना समग्र सुख समझने लगे। जिसका परिणाम यह हुआ कि हमारे में स्वयं काम करने की क्षमता नही रही जिसके कारण हम परमुखापेक्षी वन गये। मनुष्यरूपी मशीन पङ्गु वन गई अप्राकृतिक भोजन हो गया। मर्यादा का ह्रास हो गया। हम अल्पायु हो गये।

अगर मनुष्य मर्यादा का उलंघन करता है तो वह अपने लिये ही कोई वुरा कर रहा हो ऐसी वात नहीं है, वह दो सृष्टि के महान् नियम में वाधा उपस्थित करता है। वुद्धिजीवी जब किसी मर्यादा का उलंघन करेगा तो अन्यान्य प्राणी भी उसका अनुसरण करेंगे। मनुष्य के मर्यादा भंग करने पर प्राणीमात्र की शृङ्खला छिन्न-भिन्न हो जाती है। इस प्रकार सृष्टि के नियम में गड़वड़ी पैदा करनेके कारण वह सर्वाधिक दोषी ठहरता है। अतएव प्राचीन मुनि प्रणीत एवं प्रकृति निर्दिष्ट मर्यादा पर आरूढ़ रहने से ही मानवका कल्याण हो सकता है और साम्प्रतिक संसारव्यापी महान् विनाश-कारी अशान्तिका नाश हो सकता है। मानव जाति के साथ संसार के प्रत्येक प्राणी मात्रका घनिष्ठ सम्वन्ध है।

अल्प समय के लिये भी संकुचित मनोवृत्ति में नहीं फँसना चाहिये। हमेशा ही मनुष्य को उदार विचार रखना चाहिये। ईश्वर के अस्तित्व, सत्यधर्म के माननेवाले ही उदार होते है। "उदारा सर्व एवैते" भगवान् पर निष्ठा रखनेवाले को ही उदार कहते हैं।

यथा—"उदारचरिताना तु वसुधैव कुटुम्बकम्" अर्थात् उदार वही है जिनका 'सारमात्र कुटुम्ब है। इसी पावन भावना को रखते हुए प्राणिमात्र को अपना सहयोगी समझते हुए (न कि भक्ष्य समझते हुए जैसा कि इस समय हो रहा है) निःसंकोच भावसे समत्वका भाव रखते हुए वर्ताव करना चाहिये।

मर्यादा के उल्लंघन से ही आज चारो तरफ अशान्ति, विग्रह आदि का साम्राज्य हो रहा है। संसार के समस्त प्राणी सुखकी इच्छा करते हैं। परन्तु सुख हो कैसे ? हम जब तक मर्यादा का पालन नहीं करगे तब तक सुख नहीं होगा।

इसलिये ईश्वर से यही प्रार्थना है कि हे प्रभो ! हमें भूलों के सुधारने की शक्ति दो तथा हम जो अधःपतन की ओर अग्रसर हो रहे है उससे मुक्त होनेका मार्ग दिखाओ। जिससे हम विघ्न-बाधाओ से निर्मुक्त होकर शान्तिमय जीवन-यापन करते हुए पूर्वजो के पथ का अनुकरण कर आत्मोन्नति पूर्वक पुरुषार्थ द्वारा उच्च शिखर पर फिर पहुंचे।

शान्ति-पाठ

ॐ पृथ्वी शान्तिरन्तरिक्ष ७ं शान्तिर्द्यौ शान्तिरापः शान्ति रोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः। ताभिः शान्तिभिः सर्व शान्तिभिः समया मोहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ॥ अथ ० १९।९।१४।

हमारे लिये पृथिवीलोक शान्तिप्रद हो, अन्तरिक्ष लोक शान्तिप्रद हो, द्यौलोकमें शान्ति होवे, जल शान्तिकारक हो, औषधियाँ एवं वनस्पति सुख शान्तिदायक होवें, सम्पूर्ण देव, वसु आदि तथा दिव्यगुण शान्तिकारक होवे। हमें विद्वान् लोग शान्ति देवें, यह शान्ति भी उपद्रव रहित हो। इन सब शान्तियोंसे परम शान्तिका लाभ हो। उन शान्तियों तथा पूर्ण सुखोंके द्वारा हे प्रभो हमारे अज्ञान को शान्त कीजिये। जो इस संसारमें भयंकर है वह सब शान्त हो, इस जगत् में जो कठोरता है वह कल्याणकारक हो जाय, इस संसार में जो भी पाप है, वह सभी नष्ट हो जाय।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

श्रीब्रह्मणे नमः।

ओं यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वयस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

ओ यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

ओं यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

ओ यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनणवः।
अग्नि यस्य चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

ओ यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोभवन्।
दिशोयश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च॥
सूर्यो यथा सर्व लोकस्य चक्षुन लिप्यते चाक्षुषैर्वाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन वाह्यः॥
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं वहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
नित्यो नित्याना चेतनश्चेतनानामेको वहूना यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
नमस्ते सते ते जगत्कारणाय, नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय, नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय॥

ओ३म् नमः शिवाय

ओ३म् नमः शंभवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

ओं विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

हे जगत्के उत्पन्न करनेवाले प्रभु, आप हमारे सारे दुर्गुणोंको दूर कीजिये एवं हमें सारे शुभ गुण दीजिये।

ओं अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमःउक्तिं विधेम ॥

हे प्रभो आप हमें ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए कल्याण मार्गसे ले चलिये। हमारे कुटिलता आदि पाप दूर कीजिये। हम आपको बार बार प्रणाम करते हैं।

ओं तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्य मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥

भगवन्, आप तेज है हमें तेज दीजिये, आप बल वीर्य और पराक्रमके पुञ्ज हैं हमें बल वीर्य और पराक्रम दीजिये, आप ओज हैं हमें ओज दीजिये, आप मन्यु (अन्याय एवं अधर्मके प्रति क्रोध) स्वरूप हैं हमें मन्यु अर्थात् अन्यायियों एवं आततायियों को सन्मार्ग पर लाने की शक्ति दीजिये, आप सहनशील हैं हमें सहनशीलता दीजिये।

ॐ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु ॥

हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन् हमारे पूर्वज ऋषियों और विद्वान् लोगोने जिस मेधा (बुद्धि) की आपसे याचना की है उस मेधा शक्ति को प्रदान कर हमें मेधावी बुद्धिमान् बनाइये जिससे हम आपके उत्तम दानों का उपभोग कर सकें।

दि बङ्गाल प्रिंटिङ्ग वर्क्स, १, सिनागाग स्ट्रीट, कलकत्ता। फोन :—बी० बी० ५६१४